

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

डा. कुसुम कक्कड़

जेनेन्द्र का जीवन दर्शन

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग सख्या •

पुस्तक सख्या

क्रम सख्या • ... १३६५३.

जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन

डॉ० मोहन आनंदरथी सेन्सु.
पूर्व प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
ब/४ बैंक रोड, राजादाबाद-२११-००५



डा० कुसुम कक्कड़



प्रकाशक

पूर्वोदय प्रकाशन

दिल्ली-११०००६

प्रकाशक	पूर्वोदय प्रकाशन (स्वन्वाधिकार) पूर्वोदय प्रा० लि० रजिस्टर्ड कार्यालय ७ न दरियागज, दिल्ली-११०००६
मूल्य	चालीस रुपये
प्रथम सम्पादन	१५ अगस्त, १९७५
“	डा० कुसुम कक्कर
मुद्रक	युवा मुद्रण, ७ न्यू वजीरपुर इन्डस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स, दिल्ली-११००५२

JAINENDRA KA JEEWAN-DARSHAN
(Jainendra Kumar's Philosophy of Life)
by Dr KUSUM KAKKAR
Price Rs 40/- (Rupees Forty only)

विषयानुक्रमिका

विषय

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

परिच्छेद—१

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन की भूमिका

१३—४६

दर्शन क्या है ? जैनेन्द्र का व्यवहार-दर्शन जैनेन्द्र जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों के सम्बन्धित मानव-ज्ञान और मानव-परिस्थिति में सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर विचार और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण मनुष्य द्वारा विविधित जीव-विज्ञान अथवा मंत्र, राजनीति, दर्शन मते-विज्ञान जगत् निष्ठा, दायिन्व प्रेम-साहार्द्र आदि का महत्त्व ग्राम्निष्ठा ही अधिक है व्यक्ति-चेतना और कालखण्ड में ऊपर उठने की चेष्टा तन्व प्रचारक नहीं है वृद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ हृदय की प्रासादिकता मानवता के शाश्वत प्रश्नों पर विचार—१-ईश्वर २-जीव ३-अव्यान्म ४-राष्ट्रीय जीवन की समस्याएँ और बाह्य प्रभाव ।

परिच्छेद—२

जैनेन्द्र के ईश्वर सम्बन्धी विचार

४७—८४

ईश्वर के अस्तित्व का बोध, जैनेन्द्र की आत्मिकता, ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि, जैन दर्शन, पाश्चात्य दृष्टि आधुनिक विचारको की अस्तिकता, सृष्टि है इसलिए उसका

सृष्टा भी है, ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, जैनेन्द्र की तर्कशून्य आस्था, अद्वैत दृष्टि, देवी-देवता में अविश्वाम, ईश्वर स्वयम्भू, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर आनन्द स्वरूप, सत्य ही ईश्वर है, सगुण ईश्वर, ईश्वर प्रेममय, ईश्वर-प्रेम वियोगप्रधान, लौकिक जीवन में ईश्वरीय आस्था, ईश्वरीय आस्था द्वारा जीवन में व्यवस्था, प्रार्थना का महत्व, ईश्वर अज्ञेय है, ईश्वर भाग्यविधाता ।

परिच्छेद—३

जैनेन्द्र और धर्म

८५—११५

जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि, जैन दर्शन, जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का अर्थ और स्वरूप, धर्म और सम्प्रदाय, धर्म और विज्ञान, धर्म और राजनीति, जैनेन्द्र की दृष्टि में अहिंसा, जैनेन्द्र के विचार—गांधी और जैन दर्शन, अपरिग्रह, परहित, जीवन में धर्म की आवश्यकता, जैनेन्द्र की दृष्टि में मोक्ष ।

परिच्छेद—४

जैनेन्द्र की दृष्टि में भाग्य, कर्म-परम्परा

एव मृत्यु

११६—१४४

भाग्यवादी जैनेन्द्र, पाश्चात्य नियतिवादी और अनियतिवादी विचार, जैनेन्द्र अतिशय भाग्यवादी, भाग्यवादिता आस्थामूलक, भाग्य से विद्रोह नहीं, निष्काम कर्मभाव, पुरुषार्थ, भाग्य और पुरुषार्थ सहयोगी, कर्मकर्मभाव, पुनर्जन्म, सुस्कार समष्टि को प्राप्त, कर्म की स्थिति विभिन्न दार्शनिक सन्दर्भ, जैनेन्द्र की दृष्टि और सामान्य अभिमत, प्रतिभा अध्यवसायमूलक, जीव-वैज्ञानिक दृष्टि, क्षतिपूर्ति, भारतीय दर्शन और पुनर्जन्म, परलोक, मृत्यु, मृत्यु एक अनिवार्य

सत्य, मृत्यु की सार्थकता, मृत्यु के द्वार से अमरत्व,
मृत्यु का भय ।

परिच्छेद—५

जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचार

१४५—१७७

जैनेन्द्र के साहित्य में अह की स्थिति, अह का अर्थ भारतीय और पाश्चात्य दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, भारतीय दर्शन, जैनेन्द्र की दृष्टि में अह, अह का स्वरूप, अह और आत्मा, जैनेन्द्र की अह दृष्टि और मनोविज्ञान, फ्रायड-मनोविज्ञान, फ्रायड और जैनेन्द्र की अह दृष्टि, जैनेन्द्र की मोलिकता, जैनेन्द्र की रचनाओं में अह की स्थिति, समर्पण भाव, इरोस और सैडिज्म, काम और ब्रह्मचर्य, अहकार ।

परिच्छेद—६

जैनेन्द्र और समाज

१७८—२०८

प्रेमचन्द-युग, जैनेन्द्र की सामाजिक दृष्टि, परिवार और विवाह, विवाह और प्रेम, परिवर्तनशील मान्यताएँ, प्रेम-विवाह, विवाह-विच्छेद, अन्तर्जातीय विवाह, काम-भावना, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध लिंगत्वहीन, नैतिकता, वेश्यावृत्ति, समाज में नारी का स्थान ।

परिच्छेद—७

जैनेन्द्र और व्यक्ति

२०९—२४५

जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति, व्यक्तिवादी जैनेन्द्र, परमार्थिक दृष्टि, मानव-नीति, जीवनादर्श दार्शनिक दृष्टि, जैनेन्द्र की दृष्टि में आदर्श और यथार्थ, यथार्थ व्यथामूलक, पूर्णतावादी विचार, व्यक्ति अपूर्ण, व्यक्ति देवता नहीं, दलित भी माननीय, व्यक्ति टाइप नहीं, व्यक्ति और मनो-विज्ञान, यथार्थ प्रकृतिवाद का पर्याय नहीं, परस्परता, आत्म-परिष्कार, व्यक्ति और समाज,

विभिन्न जीवन दृष्टि, मतवाद, मार्शिक वेपम्प, सदाचरण, पैसा प्रोर व्यवित, पजीवादी णिटि, साम्यवादी दृष्टि, ट्रस्टीशिप, मनुष्य प्रोर मशीन, शारीरिक-श्रम, मानव-चरित्र प्रोर पिचान, प्रजातन्त्र, सर्वोदय, आन्गान्मिक-मृत्यो की प्रतिष्ठा ।

परिच्छेद — ८

जैनेन्द्र परम्परा और प्रयोग

२४६—२६६

साहित्य मे उपन्यास का महत्व, उपन्यास-साहित्य की परम्परा, उपन्यासकार प्रेमचन्द, साहित्य का परिवर्तनशील सत्य, साहित्य मे जैनेन्द्र का आतिर्भाव, व्यक्ति प्रोर अतश्चेतना, जैनेन्द्र सुनारवादी नहीं, साहित्य कल्याणमय, साहित्य और समाज, साहित्य और टैकनीक, रहस्यमयता, जैनेन्द्र की भाषा, लोकोत्तर तथा मानवेत्तर विषय पौराणिक विषय, साहित्य आस्तिकता, सामाजिक दृष्टि चिरन्तन सत्य ।

परिच्छेद- ९

जैनेन्द्र और सत्य

२७० २८६

सत्य जिज्ञासामूलक, परममन्य अद्वैत, साहित्य मे सत्य का स्वरूप, सत् का भाव सत्य, पुण सत्य अज्ञेय, सत्यबोध अनुभवान्वित, सत्य का व्यावहारिक रूप, सत्य का स्वरूप काल से तद्गत नहीं, सत्य शिव सुंदर, सत्य घटना मे गिसृत सत्य और वास्तव, जैनेन्द्र साहित्य का मूल्य, सत्य उत्सर्ग मे, प्रेम समग्र और सहज, अन्तर्भूत पीडा, साहित्यादर्श सत्य की स्वीकृति, सत्य जगत-सापेक्ष ।

परिच्छेद १०

जैनेन्द्र जीवन का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण २९० ३०८

दर्शन अखण्डताबोधक, विज्ञान विश्लेषणात्माक,

जैनेन्द्र का मश्लेषणात्मक दृष्टिकोण, अद्वैत चर्चा का विषय नहीं, जैन से अद्वैत की ओर, जीवन अखण्ड इकाई, काल-खण्ड, देश अविभाज्य, ऐक्यबोध अहविमर्जन, अर्धनारीश्वर अद्वैत बोधक, मानसिक संरचना अखण्ड, भौतिक और आध्यात्मिक ऐक्य, व्यक्तित्व अखण्ड, सत्व, रज, तम सश्लिष्ट, सृष्टि अखण्ड, साहित्यिक-प्रक्रिया मश्लेषणात्मक, सत्यबोध श्रद्धामूलक, गैस्टाल्ट मनोविज्ञान, जैनेन्द्र की अखण्ड दृष्टि और गैस्टाल्ट ।

दो शब्द

हिन्दी उपन्यास-जगत् में जैनेन्द्र का आविर्भाव अत्यन्त उल्लेखनीय घटना है। जैनेन्द्र से पूर्व प्रेमचन्द साहित्य-जगत् को एक नवीन चेतना तथा जीवनदायिनी शक्ति प्रदान कर चुके थे, किन्तु प्रेमचन्द अपने युग की समस्याओं को सुलभाने की चेष्टा में समसामयिकता में ही सीमित रह गए। जीवन से चिपके हुए कलाकार होने के कारण वे जीवन के स्थूल विस्तार को तो माप सके, किन्तु मानव-मन की अतल गहराइयों, मानव-जीवन की सूक्ष्म परिस्थितियों के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर वे अधिक ध्यान न दे सके। इसके विपरीत जैनेन्द्र की चेष्टा बाह्य परिवेश से अधिक आत्मोन्मुखता की ओर दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र ने जीवन की समस्याओं को न लेकर उसके उत्स को ही पकड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यक्ति के नित्यप्रति के जीवन से अधिक उसमें निहित सत्य की ओर दृष्टिपात किया है। उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने मानव-चेतना के रहस्यों को अपनी अनुभूति की पीठिका पर अभिव्यजित किया है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में जो बौद्धिकता रखी है और जीवन की परम्परागत नैतिक मान्यताओं पर जो प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है वह उन्हें हिन्दी कथा-साहित्य में एक नये युग-प्रवर्तक के रूप में, प्रेमचन्द से एक कदम आगे स्थापित करता है। जैनेन्द्र के साहित्य में मनोविज्ञान तथा दर्शन का सामंजस्य स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। वे साहित्यकार होने के साथ-साथ दार्शनिक भी हैं। एक ओर मनोविज्ञान द्वारा उन्होंने मानव-वृत्ति के सत्यों का उद्घाटन किया है, दूसरी ओर दर्शन के द्वारा आत्मगत सत्यों की अभिव्यक्ति की है और व्यक्ति को आत्ममन्थन की ओर उन्मुख किया है। दार्शनिकता के कारण जैनेन्द्र का साहित्य अत्यधिक गूढ़ हो गया है, किन्तु उसकी गूढ़ता ही उसका सार है, क्योंकि उसमें ऋजुता न होकर गहराई का आभास मिलता है। जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य आत्म-विसर्जन तथा ऐक्यानुभूति में निहित है। जैनेन्द्र की दृष्टि में अद्वैत अन्तिम सत्य है, वह चर्चा का विषय नहीं बनता, किन्तु जीवन की भाषा द्वैत में है। दो को लेकर ही सृष्टि चलती है। जैनेन्द्र ने मानव-जीवन के सरलरूप की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है। उनके अनुसार धर्म, समाज, अर्थ आदि व्यक्ति की सापेक्षता में ही सार्थक हैं। उन्होंने मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों पर विचार किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनकी

आस्तिकता से अनुप्राणित है। उनकी दृष्टि में होनहार के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का ही बोध होता है। उनकी ईश्वरीय आस्था जीवन को सम्बल प्रदान करती है।

जैनेन्द्र का साहित्य अध्यात्म तथा भौतिकता का समुच्चय है। उनके अनुसार जीवन की सार्थकता उसके भोग में है, तिरस्कार में नहीं। वस्तुतः वे जैन धर्म द्वारा प्राप्त होने वाली व्यक्तित्व-कृशता को स्वीकार नहीं करते। जैनेन्द्र का साहित्य जैन धर्म के अस्ति-नास्तिवाद से प्रभावित है। उन्होंने धर्म को स्वभाव के अर्थों में ही ग्रहण किया है। जैनधर्मी होने के कारण जैनेन्द्र ने सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव व्यक्त किया है, तथापि उनकी निष्ठा जैनधर्म में ही है। उनके साहित्य में धर्म तथा विज्ञान का सामंजस्य दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि अहिंसामूलक है। उनकी अहिंसा-नीति गांधीजी की अहिंसात्मक दृष्टि से प्रभावित है। जैनेन्द्र ने अहं से मुक्ति को ही सच्ची मुक्ति बताया है। जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य का विषय अतर्क्य है और पुरुषार्थ का अर्थ केवल श्रम करना ही नहीं है, वरन् श्रम के साथ ही ईश्वर के सहयोग को भी स्वीकार करना आवश्यक है। केवल पुरुषार्थ को मानने से व्यक्ति में अहं-भावना आती है।

जैनेन्द्र साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन मोड़ लाकर प्रविष्ट हुए और वह नवीनता सहज है, सायास नहीं। श्रेय और प्रेय में समन्वय, सत्य पर आस्था, नारी की उदात्तता आदि के प्रति समनता भी जैनेन्द्र के साहित्य में निहित है। सब मिलाकर जैनेन्द्र न जीवन को उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा की है।

हिन्दी के ऐसे प्रतिष्ठित और उच्च कोटि के विचारक एवं चिन्तक साहित्यकार की कृतियों को अपने अध्ययन का विषय बनाकर डा० (श्रीमती पुरी) कुसुम कक्कड ने इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी के हिन्दी-विभाग में अध्ययन कर जिस शोध-प्रबन्ध पर 'जी० फिल्ड' की उपाधि प्राप्त की, वह जैनेन्द्र-साहित्य के अध्ययन की एक विशिष्ट कड़ी है। विदुषी लेखिका ने जैनेन्द्र-साहित्य का मर्म पहचानने की अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जैनेन्द्र-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए उनकी यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी और हिन्दी के निष्पक्ष सुधी आलोचकों में उनकी इस रचना का आदर होगा। इतनी सुन्दर रचना के लिए, मैं डा० (श्रीमती पुरी) कुसुम कक्कड को बधाई देता हूँ।

लक्ष्मीसागर वाण्येय

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी

प्राक्कथन

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। सृष्टि के आदिकाल में प्राणिमात्र का जीवन जैसा था, वैसा आज नहीं है। साहित्य जीवन की प्रतिकृति है। मानव जीवन की अस्फुट और अनकही बातें साहित्य में शब्द और वाक्यों की लपेट में जीवन को स्पन्दन और स्थायित्व प्रदान करती है। बासी हुए विचार और घिसी-पिटी मान्यताएँ वायव्य में एक घुटन सी उत्पन्न कर देती हैं। उस घुटन से त्राण पाने के हेतु छुट-पुट झरोखों से आने वाली स्वच्छ वायु का प्रवेश अनिवार्य है।

मानव जीवन में जब कभी सहज गति से परिवर्तन होता है तो हमें उसका आभास भी नहीं मिलता, किन्तु कोई छोटी-सी घटना भी जीवन में एक तूफान ला देती है। साहित्य में भी प्रायः यही स्थिति देखी जाती है। प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध एक नवीन क्रान्तिकारी स्वर का उद्घोष करने का दायित्व भला कौन ले सकता है? व्यक्ति परिस्थिति को सदैव विनत भाव से स्वीकार करता रहा है। कहानी और किस्से की पुरानी परिपाटी, वर्णन और चमत्कार प्रधान थी। तिलस्मि और ऐय्यारी को प्रमुखता देने वाली रचनाओं में मानव जीवन की सत्यता को उद्घाटित करने की क्षमता नहीं थी। जिस कार्य को भारतेन्दुयुगीन उपन्यासकारों ने प्रारम्भ किया था, उसे प्रेमचन्द ने आगे बढ़ाया और उपन्यासों को जीवनदायिनी शक्ति प्रदान की, जिससे व्यक्ति ने साहित्य के माध्यम से अपने ही जीवन की भाँकी देखने का प्रयास किया। प्रेमचन्द एक सहज, सीधी लकीर पर चलते हुए साहित्य-जगत् में अवतीर्ण हुए। उनके पात्र व उनकी भावाभिव्यक्ति की भाषा इतनी सुलभी और स्पष्ट थी कि उन्हें समझने में हमें तनिक भी कठिनाई नहीं हुई और जनमानस सहज ही उस नवीनता के तल में विभोर हो उठा। उसके समक्ष जीवन आदर्शरूप में प्रस्तुत हुआ। प्रेमचन्द की रचनाओं को समझने के लिए पाठक को अपनी ओर से कोई जोड़-तोड़ नहीं करनी पड़ी। मानव सदा से ही आदर्शप्रिय रहा है। 'वह क्या है?' से ऊपर 'क्या होना चाहिए?' के लिए प्रयत्नशील रहता है। मानव प्राणी आदर्श की निर्दोष प्रतिमा बनने में सदैव अपनी निजता का

निषेध करता हुआ अपने साथ छल करता रहा है। 'साहित्य' में प्रादर्श है, किन्तु 'क्या है' में यथार्थता के दर्शन होते हैं। मानव स्वभाव है कि वह अपनी सच्चाई को पूर्णतः उद्घाटित नहीं करना चाहता।

जैनेन्द्र का साहित्य व्यक्ति के द्रुत और मियावादी का भण्डारण कर देता है। व्यक्ति को भरे समाज में उधार कर खा कर देता है। वह सच्चाई को मन ही मन स्वीकार करता हुआ भी स्पष्ट पदों में उसे स्वीकार करने का साहस नहीं कर पाता। अपने पन्तम् को सच्चा का साहित्य की भूमि में प्रकट हुआ देखकर वह लेखक के प्रति उत्फुल्ल हो जाता है। 'खिमियानी बिल्ली' की भाँति तिलमिलाया हुआ पाठोक्त लेखक को ही लाञ्छित करने लगता है। इस प्रकार साहित्यकार के प्रति सच्चा न्याय नहीं हो पाता। जब तक साहित्य में अभिव्यक्त सत्यता को अपने जीवन में प्रात्य-सात् करके नहीं देखा जाता, तब तक उसके सम्बन्ध में सही निर्णय सम्भव नहीं हो सकता।

प्रेमचन्द के बाद साहित्य-जगत् में जैनेन्द्र के पदार्पण करना ही ठीक ठाँव चल-सी मच जाती है। जैनेन्द्र साहित्य-जगत् में एक तूफान के साथ आता हुआ है। जैनेन्द्र ने जान बूझकर प्रेमचन्द की मान्यताओं का खण्डन नहीं किया। साहित्य में उनका प्रवेश सहज रूप में ही हुआ था तथापि उसकी पूर्णतया-स्वरूप साहित्य जगत् में एक नवीन भाव-धारा का संचार हुआ। जैनेन्द्र द्वारा ग्रहीत नवीनता यदि वैचारिक ही होती तो सम्भवतः उसे शब्दों के मान्यम में समझने में सुविधा हो सकती थी किन्तु उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति अपने टेढ़े-मेढ़े मार्गों से की है कि वह सामान्य साहित्य पथिकों के लिए दुर्गम प्रतीत होती है। उनके शब्द सूचक मात्र हैं। भाव शब्दों में पाए जाते हैं। किन्तु पाठ की कठिनाई में घबडाकर गन्तव्य को निश्चय नहीं माना जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि जैनेन्द्र की दार्शनिकता ने एक ओर यदि विषय को दुरुह बनाया है तो मनोविज्ञान की सकरी गली में वह प्रस्पष्ट भी हो गया है। शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी जैनेन्द्र इतने मितव्ययी हैं कि प्रायः कुछ ग्रन्थों के शेष के लिए उल्टादि से ही काम चला लेते हैं और भावोत्कर्ष की शक्ति में तो वे प्रायः मौन ही हो जाते हैं। पाठक बेचारा सिर पीट कर रह जाता है। वह बार-बार समझने की चेष्टा करते हुए भी प्रायः शरफल ही रहता है। किन्तु जिसे हम जैनेन्द्र के साहित्य की जटिलता समझते हैं, वह हमारी अपनी ही असमर्थता है। हम राजमार्ग पर चलने के इत्ते अग्रगस्त हो गए हैं कि टेढ़े-मेढ़े मार्गों पर चलना हमें अच्छा नहीं लगता किन्तु मार्ग की जटिलता के कारण साहित्य में अनाभूत सत्य रूप गन्तव्य का निषेध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र के पूर्ववत् साहित्यकारों ने सत्य की अभिव्यक्ति का साहस ही नहीं किया था, किन्तु जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम मानव-आत्मा में निहित सत्य को स्पष्टरूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसकी समग्रता में स्वीकार किया है। उसमें यदि देवत्व है तो दानवत्व भी है। एक के निषेध गौर दूसरे की स्वीकृति से व्यक्तित्व में पूर्णता नहीं आ सकती।

सृष्टि के मूल स्तम्भ 'स्त्री-पुरुष' की समस्या को उठाकर जैनेन्द्र ने साहित्य जगत् में एक नवीन किन्तु शाश्वत सत्य का उद्घाटन किया है। इनकी दृष्टि में व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का उत्स 'ग्रह' है। 'ग्रह' विसर्जन ही उनके साहित्य का मूल स्वर है। जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त काम-भावना फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से पृथक् है। जैनेन्द्र अचेतन मन को 'दमित वासना' का पुत्र मानकर 'भगवत्ता' का केन्द्र मानते हैं। उनके पात्र भोग से योग की ओर उन्मुख होते हुए दृष्टिगत होते हैं।

जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य 'विसर्जन' और 'ऐक्य' में ही ग्रन्थभूत है। सम्पूर्ण साहित्य इन्हीं दो आधार-बिन्दुओं को लेकर चरितार्थ हुआ है। आध्यात्मिक स्तर पर ग्रह अर्थात् ग्रह का ब्रह्म अर्थात् पूर्ण के समक्ष विसर्जित होना तथा सान्निध्य स्थापित करना ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। द्वैत लौकिक सत्य है, अद्वैत अन्तिम सत्य है। मानव जीवन का उद्देश्य द्वैत से अद्वैत की ओर उन्मुख होना है।

जैनेन्द्र ने जीवन की चिरन्तन समस्याओं के अतिरिक्त शाश्वत सत्यों पर भी प्रकाश डाला है। ईश्वर, आत्मा, जन्म, मृत्यु, भाग्य, पुनर्जन्म आदि भी उनकी चर्चा और चिन्तन के विषय रहे हैं। जैनेन्द्र की आस्तिकता सत्य अर्थात् ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध करने में असमर्थ है।

जैनेन्द्र ने बाह्य जीवन की परिस्थितियों और द्वन्द्वों का भी अपने साहित्य में चित्रण किया है। उनकी दृष्टि में द्वन्द्व का कारण बाह्य परिवेश में न होकर अन्तर्मान में ही स्थित होता है।

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का विवेचन करते हुए उनकी कहानियों और उपन्यासों के साथ ही निबन्धों द्वारा भी उनके विचारों की पुष्टि का प्रयास किया गया है। उनके सैद्धान्तिक विवेचन का क्षेत्र इतना वृहत् है कि उसे छोड़कर उनके चिन्तन का पूर्ण परिचय प्राप्त करना असम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य में जहाँ कहीं विचारगत विरोधाभास दृष्टिगत होता है, वह उनके निबन्धों के द्वारा सहज ही स्पष्ट हो जाता है। अतएव जैनेन्द्र के विचारों की सत्यता को जानने के लिए उनके उपन्यास और कहानियों के साथ ही साथ उनके निबन्धों तथा प्रश्नोत्तर रूप में संग्रहीत विचारों को भी जानना अनिवार्य है।

व्यक्ति का जीवन परिवेश और सस्कारो की समष्टि है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर परम्परागत सस्कारो और परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। जैनेन्द्र का व्यक्तित्व उनके सस्कारो और परिवेश का ही योग है। उनका जन्म सन् १९५० में कोडियागज (अलीगढ़) में हुआ था। जन्म के दो वर्ष बाद ही पिता की मृत्यु हो गई, अतः उनका सारा भार माँ रमा देवी बार्न तथा मामा महात्मा भगवानदीन पर पड़ा। मामा के द्वारा स्थापित गुरुकुल में ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई थी। वहाँ का वातावरण बहुत ही शुद्ध और धार्मिक था। जैनेन्द्र पर इस वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। एक बार तो वे 'बाहुबली' की कथा सुनते-सुनते रो पड़े थे। उस समय वे इस कथा से इतने प्रभावित हुए कि आगे इसी नाम से एक कहानी भी लिखी। महात्मा भगवानदीन अत्यधिक त्यागी और अपरिग्रही पुरुष थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'काश्मीर की वह यात्रा' में देखने को मिलता है। जैनेन्द्र के साहित्य पर उनके जीवन की घटनाओं तथा माँ और मामा के सस्कारो का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। स्वधर्म (जैनधर्म) के प्रति आस्था तथा ईश्वरीय विश्वास उन्हें अपने सस्कारो से ही प्राप्त हुआ है।

जैनेन्द्र के साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख होने का कारण स्वेच्छित न होकर आन्तरिक और बाह्य जीवन की विवशता और अभाव ही है। बाह्य जीवन की बेकारी और आर्थिक सकट तथा आन्तरिक अभाव के कारण उनके मन की पीड़ा अधिकाधिक घनीभूत होती गई। ऐसे में मन के बोझ को लेगनी द्वारा कागज पर उतारने में उन्हें चैन मिला। वस्तुतः आन्तरिक उफान को शान्त करने के प्रयास में अनायास ही साहित्य-सृजन की यह प्रक्रिया आतान्तर में उनके लिए अनिवार्य हो गई। समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की माग तथा रेडियो पर प्रसारित होने वाले उनके धारावाहिक उपन्यासों की माग ने उन्हें लेखन-कार्य के लिए विवश कर दिया। जैनेन्द्र के द्वारा 'अपनी कैफियत' से ज्ञात होता है कि वे कभी भी स्वेच्छा से लिखने के लिए प्रवृत्त नहीं हो सके हैं। प्रारम्भिक अवस्था में कभी-कभी उन्होंने (साहित्य-रचना द्वारा) आर्थिक सकट में त्राण पाने के हेतु साहित्य-रचना की और उसमें प्राप्त होने वाला लाभ ही उनके साहित्य का श्रेय था, किन्तु बाद के उपन्यास—'मुखदा', 'विवर्त', 'अनन्तर', और कहानियाँ तो मानो उनके सिर चढ़कर ही लिखवायी गयी हैं। कहानी और उपन्यास की भाँति निबन्धों के क्षेत्र में भी उनकी यही स्थिति देखी जा सकती है। जब प्रश्नकर्ता कागज-कलम लेकर उनके पीछे पड़ जाता है तो उन्हें विवश होकर उत्तर देने ही पड़ते हैं। इस प्रकार से एक-दो नहीं अनेकों सग्रह तैयार हो गये हैं। 'समय और हम' जैसे बृहद् दार्शनिक ग्रन्थ को अठारह

माह तक के अनवरत प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया द्वारा ही पूर्ण किया जा सका है। 'सुनीता' लिखने के बाद तो वे दस वर्ष तक मौन रहे। किन्तु साहित्य का भाग्य था कि जैनेन्द्र फिर से जागे और परिणामस्वरूप 'सुखदा', 'विवर्त', 'मुक्तिबोध' आदि जैसी महत्तम कृतिया उपलब्ध हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र की चिन्तन और लेखन-क्षमता कुण्ठित नहीं हुई है। उनमें वही जीवतता आज भी बनी हुई है, जो कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में दृष्टिगत होती है। 'कल्प' पाक्षिक पत्रिका के द्वारा भी जैनेन्द्र के विचारों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिल रहा है। अब उनके जीवनदर्शन का अभिनव सस्करण— 'समय, समस्या और सिद्धान्त' के नाम से प्रकाशित होने में आया है। इसमें जीवन, सिद्धान्त और जीवन व्यवहार से सम्बन्धित ४५० प्रश्न हैं, उसमें जीवन के चिरन्तन प्रश्नों के साथ ही आध्यात्मिक और शाश्वत प्रश्नों के समाधान भी प्राप्त होते हैं। सम-सामयिक राजनीतिक स्थितियों के सस्पर्श के कारण अत्याधुनिक स्थितियों पर भी प्रश्न किए गए हैं। जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर उपरोक्त अप्रकाशित पुस्तक की जानकारी प्राप्त हुई थी और श्री प्रदीप भाई की कृपा से पुस्तक की टकित प्रतियों के अध्ययन करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। इस कृपा के लिए मैं उनके प्रति अत्यधिक आभारी हूँ। समयाभाव के कारण मैं सूक्ष्मरूप से उसका अध्ययन तो न कर सकी किन्तु जितनी सुविधा उपलब्ध हो सकी उसके अनुसार मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि 'समय और हम' से 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में भिन्नता है। यह भिन्नता जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति-क्षमता में विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'समय और हम' में जो ऋजुता, क्लिष्टता और बौद्धिकता के कारण शुष्कता आ गई थी, जिसके कारण वह कोरा वैचारिक ग्रन्थ प्रतीत होता है, वह अभाव 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में नहीं रह गया है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की हादिकता, भाव-स्निग्धता तथा अभिव्यक्तिगत स्पष्टता तथा अनुभूतिगत गहराई पूर्णतया दृष्टिगत होती है।

उपरोक्त वृहद् जीवनदर्शन के अतिरिक्त 'वृत्त विहार' भी प्रकाशित कृति है, जिसमें जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों पर जैनेन्द्र के विचार समाविष्ट हैं। 'त्यागपत्र' के नायक की अगली कहानी भी 'अनामस्वामी' के नाम से 'कल्प' पाक्षिक पत्रिका में धारावाहिक रूप में छप रही है। जैनेन्द्र के 'जीवन-दर्शन' पर कार्य करते हुए सदैव उनके दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा मन में बनी रहती थी, किन्तु परिस्थितिवश सौभाग्य नहीं मिल पाता था। परन्तु जब शोध-निबन्ध लगभग समाप्त हो रहा था, तब उनके दर्शन की आकांक्षा का लोभ सवरण न हो सका और १७ मई की शाम को उनके दर्शन की अभिलाषा पूर्ण

हुई। उनसे मिलने के पूर्व मन एक अज्ञात भय से ग्रस्त था। उगही वरिष्ठता तथा वयोवृद्धता के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि सम्भवतः वे मेरी अल्पबुद्धि का आभास पाकर मुझे अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करने की छूट न दें? किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव ने मेरे भयभीती को धीरे-धीरे धीरे भर में ही विलीन कर दिया। मेरे उनके समक्ष अपनी आत्मीयता हो गई कि जिसकी कि मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी। पांच दिन तक लगातार मैं पांच-छ घण्टों तक प्रतिदिन प्रश्न करती और वे बड़े स्नेह के साथ मेरे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते। उनके सम्बन्ध में मेरे मन में एक यह भी भय था कि कहीं उन्होंने मेरे प्रश्नों के उत्तर अपनी प्रकृति के अनुकूल केवल 'हाँ' में ही दिए तो कैसे बात स्पष्ट होगी? परन्तु आशा के विपरीत उन्होंने हर समस्या को भली प्रकार सुलझाने में सहयोग दिया। कई बार मेरे सन्तुष्ट न होने पर वे तनिक भी रुक न होते थे और अपनी बात को बड़े ही सहज ढंग में स्पष्ट करने का प्रयास करते थे।

जैनेन्द्र से मिलने पर उनके साहित्य की कुछ बहुचर्चित रचनाएँ और उपन्यासों में जो विवाद प्रचलित हैं, उन पर भी चर्चा हुई और उन्होंने उनका सन्तोषजनक समाधान किया। इसी अवसर पर मन उनसे सवाल किया कि क्या वे निकट भविष्य में कोई उपन्यास लिखेंगे? इस सम्बन्ध में उन्होंने यही विचार व्यक्त किया कि वे स्वेच्छा से तो कभी लिखते नहीं हैं, जब कहीं में जोर पड़ता है, तभी उनके भीतर व्याप्त द्वन्द्व रचना का रूप धारण कर लेता है, तथापि उन्होंने यह अवश्य बताया कि 'अन्तर्जाति का लेकर उपन्यास लिखने की बात मन में उठी थी जो मन से रायचा दूर रही। उच्छ्वास मन में ही रह गई, बाहर उद्भासित न हो सकी।' उन्होंने एक बहुकाल से इच्छित विषय पर उपन्यास रचना की अपनी इच्छा प्रकट की थी। विषय का सार है कि—'अर्थ विनिमय ही यदि धनार्जन का माध्यम हो तो अन्ततः वैश्या का स्थान वैश्य से ऊँचा होना चाहिए।' उपरोक्त विषय को लेकर वे वैश्यों के प्रति अपने आक्रोश तथा वैश्या बनी विवश नारी के प्रति अपनी संवेदना को ही व्यक्त करना चाहते हैं।

श्रद्धेय जैनेन्द्र जी से विदा का वह क्षण तो मेरे मन की पीठिका पर वह अमिट छाप छोड़ गया है जो अविस्मरणीय है। अस्वस्थ होने के अनन्तर भी वे द्वार तक मुझे पहुँचाने आए और बड़े प्यार से बेटी के सदृश विदा किया। मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा और आभार को शब्दों द्वारा व्यक्त कर सन्तुष्ट नहीं पा रही हूँ। मैं विनत भाव से उनके प्रति आभारी हूँ।

सर्वप्रथम मैं उस परम पिता के प्रति नतमस्तक हूँ, जिसकी अनुकम्पा में पग-

पग पर मुझे गुरुजनों और स्नेहियों का सहयोग प्राप्त होता रहा है। तदनन्तर मैं अपने परम पूज्य फादर डा० कामिलबुल्के के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा के शब्द-पुष्प अर्पित करती हूँ, जिनकी स्नेहयुक्त प्रेरणा और सहयोग मुझे वरदान सिद्ध हुई। अपने निर्देशक डा० मोहन गवस्थी के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने निरन्तर मेरी सहायता की।

मैं विभागाध्यक्ष, श्रद्धेय डा० लक्ष्मीसागर वाष्पाण्य के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे विषय का चुनाव करके मुझे अपना अमोघ सहयोग प्रदान किया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा केन्द्रीय पुस्तकालय से मुझे पुस्तकों की पर्याप्त सहायता तथा अन्य सुविधाएँ अध्ययन सम्बन्धी प्राप्त होती रही हैं, मैं उन अधिकारियों के प्रति आभारी हूँ।

मैं अपने परमपूज्य पिता जी के प्रति किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, जिनकी महत् प्रेरणा ही मेरे शोध-कार्य के आदि से इति तक छायी रही और यह प्रस्तुत शोधप्रबन्ध एकमात्र उन्हीं के आशीर्वाद के फलस्वरूप प्रकाशित हो पा रहा है।

अन्त में मैं श्री रामहित त्रिपाठी, हिन्दी टक्क के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मेरे शाध प्रबन्ध को बड़े ही आत्मीय भाव से शीघ्रातिशीघ्र टंकित किया है।

(कुसुम कक्कड)



जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन की भूमिका



दर्शन क्या है ?

“साधारण भाषा में ‘दर्शन’ का अर्थ है ‘देखना’ दार्शनिक प्रक्रिया का उद्देश्य समस्त ब्रह्माण्ड को एक साथ देखना अथवा सम्पूर्ण दृष्टि प्राप्त करना कहा जा सकता है।” दार्शनिक का तात्पर्य सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य का साक्षात्कार करने के प्रयत्न में ही दार्शनिक साधक अथवा द्रष्टा बन जाता है। वह वस्तु का वाह्य-निरूपण अथवा मूल्यांकन नहीं करता। वह तो आध्यात्मिक और भौतिक जगत में अन्तर्भूत अदृश्य सत्य की खोज करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से एक आस्था-परक आध्यात्मिक व्यक्ति भी दार्शनिक हो सकता है और विज्ञान के सहारे भौतिक सत्य का अन्वेषण करते वाला वैज्ञानिक भी दार्शनिक हो सकता है। क्योंकि सत्य से कुछ भी वद्विर्गत नहीं है और सत्य की खोज करना ही दार्शनिक का प्रमुख कर्तव्य है तथापि वैज्ञानिक और आध्यात्मिक व्यक्ति की प्रक्रिया में अन्तर है। यह अन्तर प्रारम्भिक स्तर पर विशेषरूप से द्रष्टव्य है, किन्तु जब वैज्ञानिक सत्य को वाह्य इन्द्रियों के माध्यम से न जानकर अंतर्दृष्टि, सबुद्धि से जानने का प्रयास करता है, तब वही वैज्ञानिक दार्शनिक की श्रेणी में आ जाता है। वैज्ञानिक सबुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान का बुद्धि के आधार पर विश्लेषण करता है। प्रज्ञा को

वस्तुरूप प्रदान करने के प्रयत्न में तक और बुद्धि का पोश हो जाता स्वाभाविक है। न्यूटन को सबुद्धि के आधार पर भुस्तत्वावगम की शक्ति का बोध प्राप्त हुआ था किन्तु बुद्धि के द्वारा उसने गणन सिद्धांत का विनाश किया था। विज्ञान और दर्शन में यही मूल भेद है कि वैज्ञानिक सत्य को आंशिक रूप में अथवा खण्ड-खण्ड करके देखता है, किन्तु दार्शनिक सत्य का समग्ररूप में साक्षात्कार करता है। भारतीय ऋषि और साधक परमात्मा उन्होंने साधना की चरम सिद्धि पर पहुँचकर मन्त्र का साक्षात्कार किया था अन्तर्नयनों से दर्शन किया था, इसलिए उस सत्य का जो रूप उपस्थित किया है उसे दर्शन कहना उचित ही है।”

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य फिलासफी में अन्तर है। भारतीय दार्शनिक आत्मशुद्धि के मार्ग से ही आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने आत्मशुद्धि को प्रश्रय दिया है। उन्होंने तक की तुला पर अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः फिलासफी की प्रक्रिया विश्लेषण प्रधान होती है और दार्शनिक की पद्धति सम्मेलनात्मक है। भारतीय दार्शनिकों ने तक के आधार पर सत्य का प्रतिपादन नहीं किया बरन् पारमा और विश्वास के आधार पर सत्य का साक्षात्कार किया है। भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य सत्य के बोध द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है।

दर्शन शास्त्र का कार्य मानव जीवन की सापेक्षता में फलित होता है। जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसका दार्शनिक विवेचन सम्भव न हो सके। मानव जीवन की समग्रता का बोध प्राप्त करने के लिए उसमें विविध राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि पहलुओं का अध्ययन अनिवार्य है, किन्तु विशुद्ध दार्शनिक और साहित्यिक दार्शनिक की प्रक्रिया में मूलतः अन्तर दृष्टिगत होता है। डा० देवराज के अनुसार दर्शन शास्त्र की शैली साहित्य से भिन्न है। काव्य, उपन्यासकार जीवन पर विचार करने में किसी नियम का पालन नहीं करते। दार्शनिक चिन्तन नियमानुसार होता है। साहित्यकार किसी वस्तु या व्यक्ति के इन्द्रियगम्य बाह्य अंगों को ही अपने विवेचन का विषय नहीं बनाता बरन् वस्तु और व्यक्ति के मूल में अन्तर्निष्ठ आत्मा को समझने का प्रयास करता है। अपने इस प्रयास में ही वह अपनी दार्शनिक दृष्टि का परिचय देने में समर्थ होता है।

जैनेन्द्र ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक ‘समय, समस्या और सिद्धांत’ में ‘दर्शन’

१ डा० देवराज ‘भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास’, पृ० १।

२. डा० देवराज ‘भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास’, पृ० १८।

के सबध पर किए गए विवेचन में दर्शन को सबुद्धि प्रधान ही माना है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य उनकी अन्तर्चेतना का ही प्रतिफल है। उनके साहित्य में दार्शनिकता की जो झलक दृष्टिगत होती है, उसमें उनकी आस्था और हार्दिकता ही अन्तर्भूत है। उनके साहित्य का अवगाहन करने में यह विदित होता है कि साहित्य-सृजन के हेतु उनका प्रमुख आदर्श सत्य के साथ साक्षात्कार करना रहा है। सत्य आत्मा में है। दर्शन शास्त्र का उद्देश्य सत्य के प्रति व्यक्ति की जिज्ञासा को शान्त करना है। जनेन्द्र दार्शनिक होने के साथ ही साथ साहित्यकार भी है। सत्य तो यह है कि वे लेखक होने के कारण ही दार्शनिक के रूप में जाने जा सकते हैं। अतएव उनकी जिज्ञासा सूक्ष्म सत्य के साथ जगत् में व्याप्त स्थूल अथवा व्यावहारिक सत्य का अनुभव करने के लिए प्रयत्नशील रही है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति का ही प्रतिफल है।

‘दर्शन’ शब्द स्वयं में इतना गूढ़ और गम्भीर भावबोधक बना दिया गया है कि उसके उच्चारण मात्र के तद् स्थित विषयगत जाटिलता और तात्त्विकता सहज ही मानस-पटल पर अंकित हो जाती है। सामान्यतः लोगो की यह परिकल्पना रही है कि दार्शनिक जीवन की सहजता में पराङ्मुख होकर ब्रह्म, जीव, जगत् और माया आदि तात्त्विक विषयो पर विचार करने वाला व्यक्ति है। उसमें मानवीय प्रेम, सहानुभूति आदि की भावनाएँ सुप्तप्राय रहती हैं, किन्तु दार्शनिक को एक नीरस व्यक्ति समझना तथा दर्शन को जटिलता प्रदान कर अग्राह्य बनाना हमारी भूल है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार समार के वैचित्र्य तथा प्रकृति की विराटता में अंतर्भूत रहस्य को जानने का प्रयास करता है। व्यक्ति-भेद के कारण दृष्टि-भेद होना भी स्वाभाविक ही है। जगत् की यथार्थता, ईश्वर के अस्तित्व, जीवन के द्वन्द्व के सबध में प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। वस्तुतः दार्शनिक कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है। वह भी सामान्य व्यक्तियों के सदृश्य ही मानव-समाज में जीवन व्यतीत करता है, समाज के दुःख-सुख से अभिभूत होता है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति का जीवन के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण होता है, किन्तु सामान्यतः सभी व्यक्तियों के दृष्टिकोण में इतनी प्रौढ़ता नहीं होती कि वे ससार को अपनी दृष्टि दान कर सकें अथवा उनके विचारों से मानव जाति को एक नवीन चेतना मिल सके। दार्शनिक अपने विचारों और मान्यताओं को मुनियोजित रूप में व्यक्त करता है। अतएव दार्शनिक और अदार्शनिक के मध्य कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खींच देना सम्भव नहीं है। दर्शन जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि का

स्रोतक है। किसी व्यक्ति के लिए यह कहना कि वह दार्शनिक है, मनोवैज्ञानिक नहीं है, अथवा लेखक है, दार्शनिक नहीं है, अनुचित और प्रभावित है। मूलतः प्रत्येक व्यक्ति चाहे दार्शनिक हो या वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक हो या साहित्यिक, सब के मूल में मानवीय सोचना अवश्य ही चलता रहता है।

जनेन्द्र का व्यवहार-दर्शन

वस्तुतः जनेन्द्र दार्शनिक है या लेखक ? इस प्रश्न का उत्तर तब विवाद करना निराधार है। जनेन्द्र ने जीवन को उसकी समझता में समझने का प्रयास किया है। जीवन अखण्ड त्काल से यह साहित्य, मनोविज्ञान, सांसारिक में घुलित नहीं है, केवल हम अपनी (अव्यक्त की) सुविधा के लिए उसे विभिन्न पक्षों में विभाजित कर देते हैं। अपनी या जीवन की सत्यता का बोध उसी सम्पूर्णता में ही सुलभ हो सकता है। जनेन्द्र चाहे साहित्यकार हो अथवा दार्शनिक, किन्तु उन सबसे परे वह एक व्यक्ति है। उन्होंने मानव जीवन के मातृ सत्य का उनके व्यावहारिक धरातल पर समझने का प्रयास किया है। जीवन मातृ जगत के मन्थन से उन्हे एक नितान्त मौलिक रहस्य प्रकट हुआ, जो उनके दर्शन अथवा दार्शनिक होने की शुरुआत है। किन्तु उनका मौलिकता परम्परागत विचारों से पृथक् नहीं है, किन्तु साहित्य के व्यक्तित्व पर उस प्रकट करने का उद्देश्य निश्चित है, जो उसे परम्परागत मार्ग में प्रतीकृत करता है।

सृष्टि का शाश्वत सत्य अपरिवर्तनीय है, किन्तु उस गहन करने और व्यक्त करने की दृष्टि में युगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। अतः, जगत जीव, जगत के परस्पर संबंध तथा उनके रहस्य को समझने के लिए व समाज से दूर नहीं गए, वरन् प्रतिदिन के जीवन में ही उन्होंने सत्य को पहचानने का प्रयास किया। मानव-धर्म की विराट् भूमिका को उन्होंने अपने अन्तरात्मकता से समझना चाहा है। अपनी आन्तरिक सहानुभूति और संवेदना के योग में उन्होंने गम्भीरता और जटिलता में भी सरलता तथा भावगत पारंगतता का सन्निवेश किया है।

हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचन्द-काल में साहित्य जगत परम्परागत मान्यताओं, सामाजिक मर्यादा, विशेषतः प्रेमचन्द की सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण अत्यधिक बाह्योन्मुखी हो गया था। समाज और उसकी समस्या ही साहित्य का मुख्य विषय था, यद्यपि उस युग की भावना को दर्शाते हुए प्रेमचन्द का साहित्य अपना आन्तरिक स्वरूप रखता है। उनके उपन्यासों में जन-जीवन के घात-प्रतिघात, ममता, सहानुभूति, त्याग आदि मानवीय गुणों की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु जहाँ जीवन का बाह्य पक्ष पुष्ट हो रहा

था, वही व्यक्ति-चेतना कुठित होती जा रही थी। समाज में व्यक्ति की प्रतश्चेतना, उनके मूल में अवस्थित प्रेम की भावना को उपन्यास और कहानियों के माध्यम से पूर्णतः पोषण नहीं मिल रहा था। एक ही मन स्थिति में बने रहने का साहित्यिक-परिवेश में नवोन्मेव का अभाव था। ऐसी स्थिति में जैनेन्द्रजी ने साहित्य में, एक नवीन स्वर ही नहीं प्रदान किया, बल्कि उनके परिवेश में साहित्य-जगत् में एक क्रान्तिकारी प्रभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई और समस्त हिन्दी कथा-साहित्य ने एक नवीन करवट ली।

जैनेन्द्र की समन्वयात्मक दृष्टि ने विज्ञान की विभीषिका से सन्नस्त मानव को प्रबुद्ध और विश्वास का अपूर्व सम्बल प्रदान किया। उन्होंने भौतिकता और आध्यात्मिकता के मध्य सामन्जस्य की एक कड़ी जोड़कर मानव-जीवन को सरसता की ओर उन्मुख किया।

जैनेन्द्र जी के जलन्त प्रश्नों के समाधान

जैनेन्द्र का साहित्य मानव जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। साहित्यिक-परिवेश में परम्परागत दार्शनिकों से पृथक् उन्होंने एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। सामान्यतः आध्यात्मवाद और भौतिकता के प्रतिनाश में विभाजित करके देखा जाता है। दोनों पृथक् वर्ग में बंट गये हैं, किन्तु जीवन का सत्य वर्गों में विभाजित होकर अग्रग्राह्य हो जाता है। जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि विश्लेषणात्मक न होकर सश्लेषणात्मक है। विश्रह में एकपक्षीय फलता दृष्टिगत होती है और हठवाद को प्रश्रय मिलता है, किन्तु दर्शन का उच्च गणर्प और वैमनस्य न होकर प्रेम और स्वयं को मूलभूत दृष्टि प्रदान करना है। सामान्यतः प्राचीन दार्शनिकों ने भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वन्द्व के मध्य किसी समन्वयात्मक मार्ग की स्थापना नहीं की थी। गद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने इस क्षेत्र में समन्वय का प्रयास किया था। किन्तु उनका योगदान सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम साहित्य के माध्यम से जीवन की इस विशाल खाई को पाटने का प्रयास किया है। उन्होंने विचार और व्यवहार में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया। दर्शन में वैचारिक पक्ष अधिकांशतः प्रधान रहा है। शास्त्रीय रूप में नीति और उपदेश की बाते शास्त्रों में कही गई थी, किन्तु उनमें नित्यप्रति के जीवन संघर्ष से त्राण पाने का व्यावहारिक मार्ग निर्दिष्ट नहीं किया गया था। फलतः वैचारिक पक्ष अपनी शुष्कता के कारण नीरस और जटिल होता गया। ऐसी स्थिति में सदा से उपेक्षित व्यवहार पक्ष पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

जैनेन्द्रजी के अनुसार मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए बुद्धि के साथ भावना का योग भी प्रनिवार्य है। भावगत व्यवहारिकता से मानव जीवन का अत्येक पहलू समाविष्ट हो जाता है। आज इस वैज्ञानिक युग में एकोदेशीय ढाँचर गन्तव्य की प्राप्ति करना असम्भवा है। निरी भौतिकता उगी पक्षर स्वरूप में अपूरण है, जैसे आत्मा के समान में पाण्डुरीन शरीर का आकषण। वस्तुतः जैनेन्द्र ने विज्ञान और प्रत्यात्मवाद में सामन्जस्य स्थापित करके जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है। यही से जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन के मूल तत्व अभेदत्व अथवा अद्वैतवाद का आरम्भ होता है। उनकी अभेदात्मक दृष्टि साहित्य में विभिन्न शब्दों द्वारा जीवन के विविध क्षेत्रों में अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

जैनेन्द्र ने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पूर्ण समाधान अथवा प्रश्नाभाव की स्थिति का वह नहीं स्वीकार करते, क्योंकि जीवन अनन्त सम्भावनाओं में पूर्ण है। उसकी प्रगति काल की अनन्त व्याप्ति तक सम्भव है। अतः जीवों का समाधान समय-सापेक्ष ही हो सकता है। समाधान नहीं।

मानव-ज्ञान और मानव-परिस्थिति से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर विचार और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण

जैनेन्द्र का साहित्य उन जीवन सघर्षों से उद्भूत मानसिक और हृदयगत अतृप्ति का ही परिणाम है। वे अपने जीवन की छोटी-छोटी कठिनायियों से भी आत्मवाद प्राप्त करते रहे, उसे ही उन्होंने कल्पना के सहारे अद्वैत के रूप में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने 'स्व' से परे 'पर' की सत्ता का अपने जीवन में ढाल कर अपने भावों और विचारों का पुट ढककर निरस्त किया है। जैनेन्द्र ने मानव-कर्म के द्वारा उसके मूल-स्वात का पकड़ना का प्रयास किया है। सामान्यतः निम्न जीवन की कठिनायियों का जाना में फसकर उन्हीं के विवेचन में अपने कर्तव्य की उत्तिष्टी समझाते हैं, किन्तु जैनेन्द्र ने प्रत्यक्ष सागत से अप्रत्यक्ष की ओर अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का प्रयास किया है। उन्होंने जीवन की समस्त कठिनायियों, कठिनायियों के समक्ष एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है। क्या ? कैसे ? का प्रश्न निरन्तर उनके अद्वैत में घुमता रहता है। उन्होंने इस प्रकार के प्रश्नों को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त न करके संकेतमात्र में काम चलाया है। जीवन-परिस्थिति के मूल स्वरूप का उस रूप में व्यक्त किया है कि पाठक अन्त में मानने का विवश हो जाता है कि ऐसा क्यों ?

वस्तुतः जैनेन्द्र ने जीवन के सत्य को ग्रहण कर उसे जीवन के विविध क्षेत्रों में व्यक्त किया है। जैनेन्द्रजी के अनुसार व्यक्तित्व का अहं उसके जीवन का वह उद्गम-स्थल है, जहाँ से उसके समस्त विचारों, भावों और आचरण को दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। (अहं के अस्तित्व-बोधक अर्थ में अधिक उन्होंने उसको 'मैं' तथा 'पर' के द्वन्द्व रूप में व्यक्त किया है।) जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में अहं का विशद् विवेचन प्राप्त होता है। विचारात्मक निबन्धों से लेकर अधिकांश कहानियों और उपन्यासों में अहंविस्मर्जन की समस्या मुख्यरूप से मुखरित हुई है। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का परम लक्ष्य आत्मोत्सर्ग है। 'मैं' भाव की अतिशयता भेद-भाव सूचक है। किन्तु जैनेन्द्र भेद में अभेद की खोज करते हैं। उनकी दृष्टि में अभेद ही सत्य है। 'मैं' का प्राबल्य व्यक्ति-चेतना को कुण्ठित कर देता है जैनेन्द्रजी के अनुसार अहंभाव को सुरक्षित बनाए रखने से वह पुष्ट ही होता है, उसका विगलन नहीं होता। अतः वे 'मैं' को विस्तार देकर समष्टि में मिला देना चाहते हैं। व्यक्तित्व का स्व-बोध इतना फैल जाय कि वह स्वयं अस्तित्वहीन-सा अनुभव करे। उनकी कल्पना मानो बूढ़ को सागर की व्याप्ति में समा देना चाहती है। यद्यपि समुद्र में बूढ़ का अस्तित्व ही मिट जाता है, किन्तु जैनेन्द्र अस्तित्व को बनाए रखते हुए व्याप्ति का भाव उत्पन्न करना चाहते हैं।

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का प्राण-तत्त्व व्यक्तित्व के 'अहं' में निहित है। सामान्यतः उनके इस तात्त्विक दृष्टिकोण को समझने में लोग भ्रम में पड़ गए हैं और अपने भ्रमित दृष्टिकोण के आधार पर ही जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की भी आलोचना की है, किन्तु जैनेन्द्र की विचारधारा मूलतः भिन्न है। सामान्यतः आधुनिक लेखक और विचारक अहं को अस्तित्व-बोध तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर ग्रंथि के रूप में लेकर अपने विचारों की पुष्टि करते हैं, किन्तु जैनेन्द्र अहं को ग्रंथि नहीं मानते। ग्रंथि विकार और व्यक्तित्व के अचेतन में दबी हुई पशुता की सूचक है। मनोवैज्ञानिक मानव-प्रिया का प्रेरक स्रोत अचेतन मन को मानते हैं। उनके अनुसार अचेतन में व्यवस्थित व्यक्ति की दमित वासना ही उनके कार्यों का प्रतिनिधित्व करती है। जैनेन्द्रजी के अनुसार अहं मूल प्रवृत्तियों का पुत्र है।^१ मनुष्य के अचेतन मन में पाप नहीं, वरन् भगवत्ता निहित है।^२

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम' (१९६२), प्र० स०, दिल्ली, पृ० ५७१।

२ "मनुष्य के समर्पितमर्म में भगवत्ता पड़ी हुई है और जो अहं के एक-एक पटल को भेदकर और चुकाकर भगवत्ता भाव तक पहुँच पाता है। वह प्रशंसा से उठकर सर्वता को प्रकट करने लग जाता है।"

—जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', प्र० स०, दिल्ली, १९६२, पृ० ५६७।

महन्ता ईश्वरोन्मुख हुए बिना व्यक्ति में महम्मन्यता की पोषक सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति द्वन्द्वात्मक होती है। प्रत्येक के ग्रह के मध्य द्वन्द्व की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, किन्तु भगवत् की ओर उन्मुख होने से महन्ता का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।

जैनैन्द्र ने गुरुभाव का जीवन के विविध परिप्रेक्ष्य में विविध रीतियों से व्यक्त किया है। जैनैन्द्रजी प्रकृति के क्रिया-कलापों में एक महत् मानवता के दर्शन करने हैं। सूर्य के प्रकाश, वृक्ष की छाया, धरती की शरण में मानव के समस्त जो माता सम्पन्न का भाव निहित है, उसे मानव-प्राणी नहीं समझ पाता, फलतः उसे अपनी एकाकीपन भारी लगने लगता है। 'एकाकीपन से शरण पाने के लिए ही हमें ग्रह को मिटा देने की भावना जाग्रत हुई। वस्तुतः जैनैन्द्र के अन्तर्गत ग्रह विसर्जन की भावना व्यक्ति के एकाकीपन से मुक्ति प्राप्त करने तथा समष्टि में 'स्व' को समाहित कर देने की भावना से ही उद्भूत है।

जैनैन्द्र के कला-साहित्य में आत्मोत्सर्ग की भावना अपने व्यापक रूप में गति पाती हुई है। जैनैन्द्र का साहित्य उनके आत्म-विसर्जन का प्रमाण साधक प्रतीत होना लगता है। 'रत्नप्रभा', 'गद्गार' और 'नाहाली' आदि कृतानुसार के पाठ करने पर हमें अपने आत्म-आघात हो जाते हैं कि यदि वे 'स्व' का 'पर' में समाहित करने के लिए प्रेरित न होता उनका जीवन पथ को भूलकर समस्त ऐसा दूट जाय कि उसमें पुनः जन्म की सम्भावना ही न रह जाय। किन्तु जैनैन्द्र को यह विमर्शन की भावना उनके पात्रों को दूटने नहीं देती, वे अपने जीवन की कल्पसर्प बनाकर समाज के आघात-पतितों का सहकर प्रार्थनित के द्वारा समष्टि के प्रति अपने 'मे' भाव को समर्पित करके शून्यवृत्त हो जाते हैं।

जैनैन्द्र के पात्र दा गन्दर्भों में अपनी ग्रहता को विसर्जित करने की गार उन्मुख होते हैं। एक तो सामाजिक सन्दर्भ में जहाँ उनका ग्रह 'पर' को पीड़ित करता है। उसमें स्व-हित की भावना प्रमुख होती है, दूसरे वैयक्तिक स्तर पर जिसमें व्यक्ति को अपने 'मे' का एकाकी बांध कष्टदायक प्रतीत होता है और वह 'स्व' का 'पर' में समाहित करने के लिए विफल होता है। दूसरे रूप में उन्होंने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लिया है। स्त्री अपने स्त्रीत्व में तथा पुरुष अपने पुरुषत्व में नितात एकाकी तथा अपूर्ण हैं। स्त्री-पुरुष में अपने अभाव को खोजती है, पुरुष स्त्री में शरण पाता है। जैनैन्द्र के साहित्य में यह

भावना अर्ध नारीश्वर के रूप में अभिव्यक्त हुई है। 'फासी', 'एकरस' 'रानी महामाया' (पान वाला), 'दिन, रात, सबेरा' में स्त्री-पुरुष का एकाकीपन उन्हें निक्षिप्त कर देता है। वे अपने जीवन की व्यस्तता में भी मन की 'यास बुझाने का मार्ग' ढूँढ़ते रहते हैं। उनके कार्य-व्यापार में स्पष्टतः इस ओर संकेत नहीं मिलता, किन्तु उनके ग्रन्थों में व्याप्त अभाव तथा शून्यता उन्हें अन्तर्जाने ही अपने गन्तव्य की ओर उन्मुख करती है।

दूसरी ओर सामाजिक सन्दर्भ में उनके पात्र अपने जीवन में अधिक से अधिक कष्ट सहकर समाज की मंगलाकांक्षा में रत रहते हैं। 'त्यागपत्र' की मृणाल तथा 'कल्याणी' में कल्याणी पीड़ा को सहकर ही स्वयं को समाज के प्रति समर्पित करती है। यद्यपि जैनेन्द्र ने आत्मोत्सर्ग को जीवन का अन्तर्लक्ष्य माना है, किन्तु उनके पात्रों के स्वाभिमान को कोई ठेस नहीं पहुँचती। अभिमान अथवा महत्ता और स्वाभिमान में अन्तर है। जैनेन्द्र के पात्र पीड़ा को सहते हैं, किन्तु अपने व्यक्तित्व पर ग्राह नहीं जाने देते। 'वह रानी' कहानी में यह रानी दुर्भाग्य के थपेड़ खाती हुई कहा से कहा पहुँच जाती है, किन्तु अपमानित होकर अपने प्रेमी की सहानुभूति नहीं ग्रहण कर सकती। 'त्यागपत्र' की मृणाल भी कम स्वाभिमानिनी नहीं है। वह जज की बुझा होने के कारण सुख से जीवन व्यतीत कर सकती थी, किन्तु वह समाज की दृष्टि में काटा बनकर अपने आत्माभिमान को खण्डित नहीं करना चाहती।

जैनेन्द्रजी ने जीवन में ज्ञान और श्रद्धा अथवा बुद्धि और भावना के साथ सामन्जस्य स्थापित करने लिए अहं विसर्जन को अनिवार्य माना है। ज्ञान अथवा बुद्धि अहं की प्रतीक है। उसमें व्यक्ति का आग्रह निहित रहता है, किन्तु आग्रह में सत्य का बोध नहीं हो सकता। ईश्वर के प्रतिपत्त्य के लिए के लिए तर्काश्रित बुद्धि से परे हृदयगत श्रद्धा की आवश्यकता है। जब तक व्यक्ति का 'अहं' प्रबल रहता है, तब तक वह ईश्वर के समक्ष समर्पित नहीं हो सकता। शक्ति-भावना इसीलिए आत्म-निवेदन प्रधान होती है। परतुल जैनेन्द्र की आसक्तिता के मूल में भी अहं विसर्जन की भावना ही समायी हुई है।

जैनेन्द्र के पात्रों की जिज्ञासु प्रवृत्ति भी उनकी निरहकारिता की प्राप्ति करती है। वे सदैव स्वयं को अपूर्ण तथा अतृप्त पाते हैं। उनमें यह चुनौती नहीं होती कि उन्होंने सत्य को जान लिया है, वरन् वे यही समझते हैं कि उनके समक्ष सत्य अज्ञ रूप में ही व्यक्त हुआ है। वस्तुतः जैनेन्द्रजी जीवन और साहित्य में अपनी निरहकारिता में निरन्तर आसक्तिता की ओर उन्मुख होते रहे हैं। जैनेन्द्र की निरहकारिता पर सत खलील जिब्रान ने

विचारों की झलक स्पष्टतः दृष्टिगत होती है।^१

जनेन्द्र ने ग्रह विसर्जन के द्वारा जीवन के प्रति उपेक्षणीय विषय पर विनोयरूप से प्रकाश डाला है। स्त्री-पुरुष के परस्पर आश्रयण के मूल में उनकी प्रात्म-विसर्जन की भावना ही विद्यमान है। जनेन्द्र सबप्रकार के व्याकरण के, जिन्होंने स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्ध पर विशद विवेचन किया है। सामान्यतः हम नर-नारी को पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पिता आदि सम्बन्धों के सम्बन्ध में ही पहचानते हैं किन्तु उनके मूल में जो निर्गुण तथा निर्वर्णक सत्य छिपा हुआ है, उसे जानने का प्रयास नहीं करते। जनेन्द्र ने स्त्री का उसकी निर्वैयक्तिकता और गुणहीनता में ही समझने की चेष्टा की है। सम्भवतः जनेन्द्र ने निर्गुण रूप स्वीकार करते हुए भी जिन विभिन्न सम्बन्धों को स्वीकृति प्रदान की है, वह उसके रूप को सहज ब्राह्म तथा सुगम जानने के हेतु ही किया है। जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर्मिन् तथा नीरस भाग्य है। बिना उन्मिष्यगोचर हुए ईश्वर का स्वरूप समझना और उसको भक्ति प्राप्त करना दुर्लभ है। सुगुण रूप के द्वारा ही भावना का सतोष प्राप्त होना है। उसी प्रकार जनेन्द्रजी ने स्त्री और पुरुष को निर्वैयक्तिक रूप की रूपरूपता का दूर करने के लिए इन्हें विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों में प्रस्तुत किया। 'सुनीता' में जनेन्द्र जी यह भावना स्पष्टतः परिलक्षित होती है। किन्तु उनके विचारों की मौक्तिका और चलावता इस पुरुष का उनके प्रकृति रूप से स्वीकार करने में ही है। उनके अनुसार 'पूज्य परिवार पीछे आते हैं, नाते-रिश्ते, नाम-गोत्र सब पीछे आते हैं' का सूत्रित्व है सुनीता ही है, और हरिप्रसन्न हरिप्रसन्न है। पर यह भी गहरा सूचना

- १ 'कभी यह न कहता मेने समस्त सत्य या लिया है, बल्कि यन्त एक सत्य पाया है।'

—सुनीता विमर्श

—'दि फोफेट' (हिन्दी अनु० 'जीवन-दर्शन', सत्यकाम विद्यालयाकार), संशोधित संस्करण, १९५८, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० ४०५८।

- २ 'तुम शायद स्त्री के होने को उसी तरह जानते हो, जैसे पदार्थ के होने को। स्त्री का 'स्त्री' सजा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ-न कुछ और भी कहना होगा। माता कहो, बहन कहो, उपपत्नी कहो, प्रेमिका कहो कुछ न कुछ अपनापन जतलाए बिना 'स्त्री' सजा का प्रयोग करके उस स्त्री-द्रव्य से छुट्टी तुमको नहीं मिलेगी।'

—जनेन्द्रकुमार, 'सुनीता', दिल्ली, १९६४, पृ० १५।

चाहिए की सुनीता नाम के सग्रहीत लालित्य के भीतर वह भाव और प्रकृति स्त्री है, उसी भाति दूसरा भी अपने नाम की अमिधा प्रोढ़कर बस पुरुष है।” सृष्टि के आरम्भ में भी स्त्री-पुरुष नाम और व्यवितत्वहीन थे। वे दोनों शारीरिक तथा भावात्मक दृष्टि से स्वयं में अपूर्ण हैं। स्त्री कोमल गुणों का प्रतीक है, पुरुष कठोरता का प्रतीक है। स्त्रीत्व में मातृत्व की लालसा है, पुरुष अपने दान में उसे सन्तुष्ट करता है। जैनेन्द्र की अधिकांश कहानियों के नारी पात्रों में मातृत्व की उत्कट अभिलाषा है। मातृत्व के पूर्व ही स्थिति काम और भोग की है। जैनेन्द्र काम को ‘पाप’ नहीं समझते। जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती लेखक स्त्री की रोम-रोम में समायी इस मातृत्व की प्राकाशा की उपेक्षा करते रहे। उन्होंने सत्यता का निषेध करते हुए उसे अश्लीलता का पोषक बताया, किन्तु जैनेन्द्र जीवन के मूल सत्य के प्रस्तुतीकरण में अनैतिकता तथा अश्लीलता के दर्शन नहीं करते। काम और भोग में सृष्टि की दाम्पत्य निहित है, तो वह कैसे उपेक्षणीय हो सकता है। जैनेन्द्र के पुरुष-पान अपने अहं को विगलित करने के लिए स्त्री के प्रति प्रार्थी रहे हैं। यतएव सभोग में व्यक्ति की ग्रहता की हार है। सम्पूर्ण समर्पण में भगवत्-भाव निहित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार पूर्ण समर्पण एकमात्र ईश्वर के प्रति ही सम्भव हो सकता है। प्रतः स्त्री-पुरुष के सम्मिलन-भाव को भूलकर प्रद्वैत ग्रथवा ग्रन्थिता की प्राप्ति द्वारा ही काम में मोक्ष तथा भोग में योग की कल्पना की जा सकती है।

वस्तुतः जैनेन्द्र फ्रायड के मत के समर्थक नहीं प्रतीत होते। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि ‘सब के मूल में फ्रायड वाले काम को नास्तिक होकर मैं कैसे मान सकूँगा?’ मूल सब कर्तृत्व में, मैं उस परम तत्त्व को मानता हूँ, जिसके लिए हमारे पास ईश्वर जैसे शब्द हैं। भगवत्ता तथा आत्म-समर्पण की भावना से सम्बन्धित होकर ही वे काम, प्रेम, भोग आदि प्रकृत भावों को निःसंकोच रूप में व्यक्त कर सके हैं। छिपाव तथा दुराव में ही मन का पाप छिपा रहता है, जहाँ छिपाव ग्रथवा बचाव के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वहाँ पाप ग्रथवा अनैतिकता की सम्भावना ही नहीं उठती वह सहज और स्वाभाविक रूप में ही अभिव्यक्त हो जाते हैं। नग्नता में जो कामोद्रेग की क्षमता है, वह स्त्री की सहजता में उद्भूत न होकर उसकी प्रदर्शन

१ जैनेन्द्र कुमार सुनीता, दिल्ली १९६४, पृ० १३६।

२. जैनेन्द्र कुमार ‘काम, प्रेम और परिवार’, १९६१, दिल्ली, पृ० १२२।

३. जैनेन्द्र कुमार ‘काम प्रेम और परिवार’, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६१, पृ० १२४।

मात्रा में ही गिहित रहती है। जैनेन्द्र के पात्रों में नग्नता शरीर के मोक्ष के लिए प्रेरित करने के लिए न होकर सम्पूर्ण समर्पण के रूप में हो सका हुआ है।^१ जैनेन्द्र को नैतिकता का मानदण्ड उतना सखीम नहीं है, जैसा कि हमें पवित्रता का दर्शनवादी देखते हैं। 'पुरुष' शब्द की भाँति 'मृतीता' उल्लाप में उनकी समर्पण भावना की मूल भावना प्रतीत है।

जैनेन्द्र के इतिहास में विवाह और प्रेम की समस्या भी पर्याप्त विस्फोटक रूप में व्यक्त हुई है। जैनेन्द्र ने विवाह को सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। प्रेम-विवाह उनकी दृष्टि में पवित्रता का अग्रक सिद्ध होता है। प्रेम में दायित्व प्रथम विवाह की बाध्यता प्रेम की ही बात है। पत्नी और पति का साथ-साथ नदी के दो किनारे के पत्थर चलाता स्थापित है। उनके अनुसार— 'पत्नी को काम्य शरीर यदि मानना स्वीकार है तो किसी-न-किसी चोर मार्ग से आ ही जाता है।' जैनेन्द्र के अनुसार विवाह केवल मंगल में प्रवेश का द्वार है, उसे पवित्रता का प्रतीक के प्राकृतिक प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इससे प्रेम का नैतिक विचार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। पत्नी का प्रेम है कि पति का प्रेम प्रेम को सामाजिक दृष्टि में अनुचित नहीं समझते। प्रेम का प्रतीक प्रेम समाज की सीमा में बाध नहीं कर सकता। प्रेम मुक्त भाव है। जीवन का प्रेम सामाजिक मर्यादा का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रेम की प्रतीक जिज्ञास ने भी प्रेम में पारस्परिक स्वतन्त्रता को प्रतिपादित माना है। प्रेम की प्रतीक प्रेम अनुचित हो जाता है। जैनेन्द्र खलील जिब्रान के विचारों का बहुत अधिक प्रभावित है उनकी जीवन, जगत और प्रेम सम्बन्धी भाषा

१ 'हमने इस को स्नानों में बाँट दिया है और शरीर जहाँ उपस्थित है वहाँ शरीर और अनुपस्थित है वहाँ पवित्रता की भावना को बिठा दिया है। प्रेम मानता है कि जो अधूरा है वह नृष्णार्थ है।'

—जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली, १९६१, प्र० स०, पृ० ३३।

२ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली, १९६१, प्र० स०, पृ० २६।

३ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', दिल्ली १९६१, प्र० स० पृ० ११०।

४ खलील जिब्रान 'जीवन-दर्शन' (दि प्रोफेट का अनुवाद) अनु० सत्यकाम विद्यालकार, दिल्ली, सशोधित स०, १९५८, पृ० १६।

मालीन जिज्ञान के बहुत ही निकट प्रतीत होती है।^१ जैनेन्द्र का सम्प्रति साहित्य प्रेम की व्यापकता से ही इतना हृदयग्राही बन सका है। उन्होंने मानव जीवन ही नहीं पशु-पक्षी तथा जड़ प्रकृति के क्रिया-कलापों में भी अन्तर्निहित उनके प्रेम की अभिव्यक्ति की है। पशु-पक्षी में उन्होंने मानवीय संवेदना को प्रतिष्ठित करके प्रेम का उच्चादर्श व्यक्त किया है। 'एक गौ' तथा 'दो चिड़िया' कहानियों में गार्विक तथा रोमान्टिक प्रेम की अत्यधिक मार्मिक अभिव्यक्ति है।

जैनेन्द्र की आस्तिकता प्रेम अथवा श्रद्धा का ही पर्याय है। श्रद्धा ही उनके विचारों के मूल में अवस्थित वह स्रोत है, जो उन्हें जीवन-यात्रा के अनन्त कष्टों तथा निराशा के मध्य आशा और विश्वास की एक दिव्य दृष्टि प्रदान करती है। विज्ञान के इस युग में मानव नितान्त श्रद्धाहीन हो गया है। उसी आत्म-शक्ति समाप्त प्राय हो गई है। किकर्तव्यविमूढ़ हुआ-मा परग गत्य को जानने की चेष्टा न करके निरर्थक कार्यों में अपनी ऊर्जा नष्ट करता है। जैनेन्द्र के अनुसार विज्ञान समय की आवश्यकता है, किन्तु आस्था जीवन का सार है। ईश्वर की परम सत्ता में विश्वास करता हुआ व्यक्ति प्राजीवन कष्ट भोगों से निराश नहीं होता। पीड़ा में भी उसे ईश्वरीय वरदान की अनुभूति होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन-संघर्ष है। ससार युद्ध-स्थल है। मनुष्य प्रतिक्षण अपने गारंग और परिस्थिति के थपेड़ों को झेलता हुआ भी अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रयास करता है। उनकी अधिकांश कहानियों और उपन्यासों में जीवन को शहादत और यज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है।^२ 'कल्याणी', 'जगन्मन' आदि उपन्यासों में जीवन के यज्ञ में स्वयं को हुताशन बना देना ही उन्हा लक्ष्य है।^३ जैनेन्द्र के समक्ष गांधी और ईसा की कुर्बानी ही वह आदर्श रही है, जिसके कारण उनके पात्र सदैव अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं। जैनेन्द्र के साहित्य में ईसा के जीवन की पीड़ा को मानव जीवन का महानतम आदर्श के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। पीड़ा ही व्यक्ति की पूजा है, जिसे अपने अन्तस् में सजोए हुए वह जीवन-शक्ति का

१ 'प्रेम न किसी पर अधिकार जमाता है और न स्वयं ही किसी से अधिकृत है।

२ 'जीवन एक शहादत है। शास्त्र कहते हैं यज्ञ है।'

—जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', दिल्ली, १९५६, पृ० ११०।

३ 'जीवन ही जलना है।' वह है, यज्ञ में उससे बचना क्यों चाहे।

—जैनेन्द्र कुमार

रस ग्रहण करता है, क्योंकि पीडा से ही प्रेम और 'पर' के प्रति सहानुभूति का भाव समाहित होता है। 'कत्याणी', 'अनन्तर', 'त्रयवर्धन' आदि सभी उपन्यासों में ऐसा का यादश प्रस्तुत किया गया है। यस्तुतः यदि जीवन है तो वह सघर्ष हीन हो नहीं सकता। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन एक कठोर सत्य है। वह इतना सरल और सुखमय नहीं है, जितना बाह्याकषण के कारण प्रतीत होता है।^१ व्यक्ति जीवन में सघर्ष करने की इच्छा लेकर सन्तुष्ट नहीं रहता। सघर्ष की शक्ति प्रेम में से ही उत्पन्न होती है। यही कारण है कि जैनेन्द्र जीवन में सहने को ही धर्म मानते हैं। सघर्ष करना जीवन का सार नहीं, वर्ण जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का सार-तत्त्व प्रेम है। प्रेम के लक्ष्मीभूत होकर व्यक्ति में अपने को 'पर' में मद्भूत शक्ति उद्भूत होती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में जीवनगत सघर्ष का जो रूप उद्घाटित होता है, वह प्रणत की व्याख्या के कारण ही सतत गतिशील रहता है। 'कत्याणी' और 'मणान' ऐसी नाटिकाएँ हैं, जो प्रेम के हतुः जीवन में जूझती रहती हैं, किन्तु परिस्थिति में पराजित होकर वे पीड़ित नहीं रहती। जीवन-यात्रा पूर्ण करती हैं। उन्हें अपने-अपने कष्ट सहने पड़ते हैं, किन्तु वह पराजित नहीं होती।

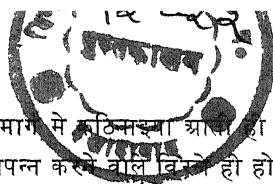
जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की साधकता उससे छिपते रहने में ही नहीं है।^२ अतीत ही जन्मद्वी के स्वाद को समझ सकता है, जो हमने हुए प्राणों की प्राप्ति दे देता है। जीवन के लिए रहने में मौत का भय व्यक्ति की प्रगति को अवरोध नहीं देता है, क्योंकि उसके मन में सदैव यही काटा चुभता रहता है कि कहीं मौत उसके जीवन के सुख को पल भर में समाप्त न कर दे। जैनेन्द्र की कहानियों और उपन्यासों में ऐसी अनेक भटनाम उद्घाटित होती हैं, जब उनके पात्र स्वेच्छा से मृत्यु का आनिगन करके अपने जीवन को समाप्त बनाते हैं। 'फासी' में शमशेर अपनी मौत द्वारा जीवन को अर्थवन्ता प्रदान करता है। वह मौत को बड़ी चीज नहीं मानता, किन्तु जीवन के लिए कभी-कभी मृत्यु का आनिगन श्रेयष्कर होता है। जैनेन्द्र मौत में जीवन की यात्रा को समाप्त हुआ नहीं पाते, क्योंकि जीवन तो अनन्त यात्रा है।

जैनेन्द्र का जीवन-आदर्श नितान्त व्यावहारिक प्रतीत होता है। समाप्त

१. 'जीवन निरी मुलायम चीज नहीं है। वह युद्ध है। जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझता नहीं है और कोई अन्त नहीं है।'।

— प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', पृ० ६६।

२. जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', प्र० स० दिल्ली, १९५३, पृ० १२६।



मे ऐसे व्यक्ति दुर्लभ ही होंगे जिनके मार्ग में कठिनाइयाँ आती ही नहीं। राजमार्ग पर चलकर अपनी जीवन-यात्रा सपन्न करने वाली विरति ही होते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार "जिनके मार्ग में कठिनाइयाँ आती ही नहीं हैं, सब सुगमता ही सुगमता रहती है, वे जीवन में बहुत दूर तक और ऊँचे तक नहीं जा पाते।

"देखा जाता है कि कठिनाई और अवरोधों ने ही अमुक जीवन के मार्ग को दिशा और स्वरूप दिया है।"

कठिनाइयों को झेलते हुए भी जीवन-सरिता सतत् प्रवाहित होती रहती है। जैनेन्द्र जीवन की परिवर्तनशीलता में ही विश्वास करते हैं, पराजित होकर जड़बद्ध हो जाना तथा प्रगति को अवरुद्ध कर देना वे उचित नहीं समझते। जैनेन्द्र के अनुसार परिवर्तन जीवन का नियम है। जीवन प्रेम है और प्रेम का भी नियम परिवर्तन है।^१ 'प्रेम जीवन का मूलाधार है, अतएव जीवन में परिवर्तन आवश्यक है। प्रकृति परिवर्तनशील है, समाज की मान्यता परिवर्तनीय है तो व्यक्ति का जीवन जड़ नहीं हो सकता। 'कल्याणी' में एक स्थल पर जैनेन्द्र ने जीवन की गतिशीलता पर प्रकाश डालते हुए कहा है - "रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है, जिन्दगी नाम चलने का है।" जीवन में सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, किन्तु जीवन की यात्रा चलती रहती है। खिन्न होकर रुक जाना जीवन का आदर्श नहीं है। जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' में कल्याणी के द्वारा रचित एक गद्य-गीत में जिस बटोही की कल्पना की वह अपनी अन्तर्न्यासा को सजोण अज्ञात पथ की ओर चलता जाता है। उसकी वेदना के मूल में प्रेम का स्वर ध्वनित होता प्रतीत होता है। वह एकमात्र उसी स्वर के श्रावकर्षण पर भटकता हुआ चलता जाता है। वस्तुतः जैनेन्द्र के जीवन का आदर्श अन्तस् में प्रेम की लौ को जलाकर जीवन की अनन्त यात्रा पूर्ण करना है। विरह-व्यथा से शक्ति उद्भूत होती है। जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' में जीवन में बूढ़-बूढ़ रिसने वाली वेदना का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह जीवन के सबध में उनके दृष्टिकोण को व्यक्त करने में पूर्णतः सहायक प्रतीत होती है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का आधार है—व्यथा।

१ प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', पृ० ८२।

२ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', दिल्ली, प्र० सं०, १९५३, पृ० ७०।

३ जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', पृ० ५।

४ "मानव चलता जाता है और बूढ़-बूढ़ दर्द उसके भीतर इकट्ठा होकर भरता जाता है वही सार है, वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव व्यक्ति-पथ उज्ज्वल होगा।"

—जैनेन्द्रकुमार 'त्याग-पत्र', बम्बई, पृ० ४५।

तपस्या के रस्से से प्रादुर होकर ही उनके पात्र अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न करते हैं।

जैनेन्द्र ने भ्रम और वेदना को जीवन का आधार माना है। प्येस में बिना तपस्य सम्भव नहीं हो सकता। विशेषण विज्ञान का निषेध है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जीवन को गति सन्तोषणात्मक है। वह भ्रम के मूल में समस्त विश्वास का शून्य होती है। द्वैत भाव मिट जाता है। विज्ञान में द्वैत ही प्रधान नहीं होता बल्कि जीवन विभिन्न शाखाओं-प्रतिशाखाओं में विभाजित हो जाता है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जीवन को वास्तविकता उसकी समग्रता में स्वीकार्य हो सकती है। जरा पूर्ण का प्रतीक नहीं बन सकता।

जैनेन्द्र ने अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र के साथ-साथ मानव जीवन की विविध परिस्थितियों का व्यापक अध्ययन किया है। समाजशास्त्र आदि विषय स्वयं निरपेक्ष रूप में जाने गले हैं, किन्तु जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में उन्हें व्यक्ति की सापेक्षता में विवेचित किया है। व्यक्ति का जीवन अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, जीवन-विज्ञान आदि विभिन्न शाखाओं का समन्वित रूप है। सभी शाखाएँ एक-दूसरे में सम्मिलित हैं, क्योंकि समाज की व्यवस्था का विषय मानव जीवन, मानव परिस्थिति तथा मानव जीवन में उत्पन्न समस्याएँ ही हैं। साहित्य मानव जीवन की समग्रतात्मक पार्श्व प्रतिष्ठित है। परन्तु साहित्य में जीव विज्ञान, अर्थ, धर्म, समाज, राजनीति का विवरण आवश्यक है।

जैनेन्द्र का साहित्य जीवन की व्यापकता को स्वयं में समाहित करने के युग-बोध तथा युग की विविध समस्याओं को विवेचित करने में बहुत प्रयत्न सहायक रहा है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में जो व्यक्ति बनना विविध रूप में मुखरित हुई है, उसका प्रेरक तत्व उनका युग-बोध ही है। यह सत्य है कि उपन्यास और कहानियों में उन्होंने अपने आस-पास की वस्तुओं की हो कल्पना का स्पर्श देकर वर्णित किया है, किन्तु उनके विचारों में निबन्धों में उनकी दृष्टि की व्यापकता युग-बोध के प्रति जागरूकता का परिणाम न होकर स्वानुभव पर आधारित है। यह सत्य है कि जैनेन्द्र की राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागरूकता उनके जीवन को सचेत नहीं बना सकी। उन्होंने परिस्थितिगत अनुभव को साहित्य के धरातल पर अपने विचारों का कवच पहना कर प्रस्तुत किया है।

जीव विज्ञान

मानव जीवन का प्रारम्भिक ज्ञान हमें जीव-विज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। जीव की उत्पत्ति के अनन्तर ही समाज, धर्म, अर्थ आदि की समस्या उद्भूत होती है। अतएव जीव-विज्ञान वह प्रारम्भिक अध्याय है जो हमें जीव और विशेषतः मानव प्राणी के विकास का बोध कराता है।

डाविन पशु योनि से जीव-विज्ञान का आरम्भ मानते हैं। वे विकास का आरम्भ पशुता से करते हैं, किन्तु जैनेन्द्र जीव वैज्ञानिक नहीं हैं, वरन् दार्शनिक हैं अतएव वे विकास में भी सत्य की खोज करते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार विकास की उपरोक्त स्थिति स्थूलतः सामाजिक और सत्य है, किन्तु पशुता में और गहरे जाय तो अन्तिम आधार में दिव्यता प्राप्त होगी। विकास का सिद्धान्त उतने आगे नहीं जायगा। परिणामतः मनुष्य को मूलतः पशु मान लिया जाता है। जबकि जैनेन्द्र की मान्यता के अनुसार प्रत्येक प्राणी और मनुष्य तो और भी विशेषतः दिव्य के आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार हिंसा की जड़ में भी सवेदना है, वस्तुतः मूल में दिव्यता ही है।

जैनेन्द्र ने विकासवाद में, पशुत्व के मूल में, देवत्व को हिंसा में अहिंसा की स्थिति के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार अहिंसा के आधार के बिना हिंसा भी नहीं हो सकती। हिंसा वह प्रक्रिया है, जिसमें स्वकीय के लिए 'पर' पर प्रहार होता है। यदि स्व के पास स्वकीय न हो तो प्रहार की प्रेरणा समाप्त हो जाय। वस्तुतः स्वकीयता का निर्माण अहिंसा के आधार पर होता है अर्थात् पर प्रहार की हिंसा में भी स्वकीयता अर्थात् अहिंसा की आधार स्थिति अनिवार्य है।^१ वस्तुतः पशुत्व के मूल में देवत्व विराजमान है। जैनेन्द्र ने 'जयवर्धन' में अपने इन्हीं विचारों की पुष्टि की है। जय आध्यात्मिक व्यक्ति है। वह यह स्वीकार करने में असमर्थ है कि फल बीज से भिन्न हो सकता है। उसका विश्वास है कि—'कभी मानव देवता होता तो इस विश्वास के आधार पर कि देवत्व में उसका उद्गम है'^२ उसका दृढ़ विश्वास है कि 'पशु आदि नहीं हैं, विकास में बहुत बाद की कड़ी है। गुण का, सत् और चित का आविर्भाव वहाँ से नहीं है। अणु टूट गया है और प्रतीति प्राप्त है कि गुण उसके भी गहरे गर्भ में है।'^३ 'उनकी दृष्टि में मनुष्य के उत्स को पशुत्व में खोजना उचित नहीं है। जय के अनुसार मनुष्य देव है और स्व

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार। (१६-५-७१)।

२ जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० १५१।

३ जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० १५१।

की बाधा तोड़ निखिल के साथ अखण्ड हो सके तो सच्चिदानन्द रूप है।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने जीव विज्ञान के द्वारा भी मानव जीवन की दिगता का ही प्रकट करने का प्रयास किया है। अथ जीवन का सन्निधाय प्रग है। ससार नितान्त अपरिग्रही प्रवृत्ति के अनुसरण से चल नहीं सकता, किन्तु किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक परिग्रह स्वयं में दोष है। जैनेन्द्र के अनुसार धन की आवश्यकता व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी के लिए स्वाभाविक है। यद्यपि सब के मूल में व्यक्ति ही प्रधान है किन्तु समाज और व्यक्ति की समस्या के रूप में कुछ अंतर अवश्य रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में धन का एकत्रीकरण समाज के लिए अभिशाप है। जिस प्रकार रक्त का प्रवाह पूरे शरीर में समान रूप से आवश्यक है, यदि रक्त किसी अंग-विशेष में ही रुक जाय और अन्य अंग रक्त-हीन रह जाय तो उससे शरीर में भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति अपने जीवन की भी आशा छोड़ बैठता है। उसी प्रकार धन रूपी रक्त का समाज रूपी शरीर के किसी भी अंग में रुक जाना सामाजिक दृष्टि से बहुत ही हानिप्रद है। धन की साधकता उसके अविरल प्रवाह में है, अवरोध होकर जड़ित होने में नहीं है। समाज में ऐसी स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति का अथवा समाज-विशेष का स्वाध उसमें केन्द्रीभूत हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार धन की वांछ उसकी वस्तुता को बढ़ाने के लिए न होकर जीवन सवर्धन के हेतु होनी चाहिए।

प्रार्थ-विभाजन की दृष्टि से जैनेन्द्र साम्यवादियों के सदस्य ही शोषक और शोषित के मध्य की खाई को दूर करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार श्रमिक वर्ग परिश्रम करने के बाद भी सदैव असन्तुष्ट और अतृप्त रहता है, किन्तु शोषक वर्ग आवश्यकता से अधिक वस्तु अपने गोदाम में भरता जाता है। आज धन को लेकर विभिन्न मतवाद उठ खड़े हुए हैं। साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद आर्थिक समस्या को लेकर ही विकसित हुए हैं। जैनेन्द्र अपने साहित्य में किसी वाद का भी समर्थन करने समय व्यक्ति को केन्द्र में लेते हैं। व्यक्ति की उपेक्षा करने वाला कोई भी वाद उन्हें स्वीकार नहीं है। उपन्यासकार यशपाल एक प्रकार से साम्यवाद के प्रचारक ही प्रतीत होते हैं किन्तु जैनेन्द्र किसी भी मत का दृढ़ता से समर्थन नहीं करते। उनके अनुसार समाजवाद में यद्यपि पूँजीवाद के सदस्य व्यक्ति का शोषण नहीं होता, किन्तु समाजवाद का विकसित रूप ही कालान्तर में व्यक्ति की उपेक्षा करके समाज को ही विशेष महत्व प्रदान करता है। साम्यवादी नीति को भी वे सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उपयोगी समझते हैं, किन्तु उन्होंने साम्यवाद के जिस स्वरूप को स्वीकार किया है, वह मार्क्सवादी न होकर आध्यात्मिकता

में परिपुष्ट है। मार्क्स ने भौतिक जगत में अधिक से अधिक उत्पादन द्वारा साम्य स्थापना का हिंसक प्रयास किया था। किन्तु जैनेन्द्र की नीति गांधी की गहिरी नीति का ही प्रतिफल है। जैनेन्द्र के अनुसार साम्यवाद में समस्त सम्पदा राष्ट्र में केन्द्रित हो जाती है, अतएव उसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य का व्यवसाय नहीं रहता। जैनेन्द्र का आदर्श भौतिक साम्य न होकर आत्मपरक है। उनके प्रसार प्रत्येक को अपनी योग्यता के अनुसार अर्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ऐसी विभाजन आवश्यक है। गरीब और अमीर का भेद समाज में मिटाया नहीं जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार आर्थिक दृष्टि से उत्पन्न भेद-भाव को मिटाने के स्थान पर व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य सहानुभूति और सहृदयता का सम्बन्ध अनिवार्य है। गरीब प्रगरीबों के द्वारा अपनी गरीबी के कारण अपमानित तथा शोषित नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र का मूलदर्श जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेम और दया का विस्तार करता है।

जैनेन्द्र को 'उपन्यास और कहानियों में स्वार्थ-रत पूजीपतियों के प्रति जो गंभीर उपेक्षा मिली, वह उनकी मानव-नीति का ही पोषक है। 'विवर्त' में जैनेन्द्र ने अमीरों की शान-शोकत तथा विलास का बहुत ही व्यंग्यात्मक चित्रण किया है।' जैनेन्द्र के अनुसार अर्थ की सार्थकता उसके परमार्थिक होने में है। 'कल्याणी' तथा 'प्रतन्त्र' में उनके विचारों की पूर्ण दृष्टिगत होती है। अर्थ-नीति राजनीति के घेरे में आवद्ध होकर मानव-नीति तथा परमार्थ मूलक आदर्शों से परे हो जाती है। जैनेन्द्र अर्थ-नीति को धर्म नीति के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। उनकी परमार्थिक दृष्टि के मूल में धर्मस्थिति ही केन्द्रीय है।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने अर्थशास्त्र के द्वारा मानव जीवन की विषम परि-

१ 'पत्थरों से (हीरा, पत्थरों से तात्पर्य हीरा-पन्ना आदि से) बच्चे खेलते हैं, लेकिन अमीर भी खेलते हैं।' —जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', १९५३, दिल्ली, पृ० ५०, पृ० ६४।

२ 'अर्थशास्त्र की बुनियाद में यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ की जैसी कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नहीं है। 'मेरा अनुमान है कि मनुष्य की गहराई में पड़े धर्म नैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ-रचना का आरम्भ हो सकता है और गांधी का प्रयत्न उसी का सूत्रपात था।'

—जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', दिल्ली १९६२, प्र० ५०, पृ० १५६।

स्थितियों को देखने और उन्हें साहित्य के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। एक और उन्होंने अर्थ सम्बन्धी सेवान्ति विवेचन अपने विचारात्मक निबन्धों द्वारा प्रस्तुत किया है। 'समय और हम' परिपेश, 'प्रश्न और प्रश्न' आदि वैचारिक निबन्ध तथा प्रश्नोत्तरों में श्रम, उत्पादन, वितरण तथा विभिन्नवादों की आर्थिक नीति का विवेचन किया है, दूसरी ओर उपन्यास और कहानियों द्वारा अर्थ के कारण जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अत्यन्त व्यावहारिक तथा सवेदनात्मक वर्णन किया है। उस दृष्टि से 'अपना अपना भाग्य', 'साधु का भेद', चोरी, पत्नी, आदि कहानियाँ प्रस्तुत की हैं।

वस्तुतः लेखक ने अर्थ को दृष्टि में रख कर व्यक्ति के जीवन को परखने और उसमें स्वयं को आत्मसात करने का प्रयास किया है, किन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्ति उसके प्रति निस्पृह रहे। वह अपरिग्रही बनकर परहित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे।

जैनेन्द्र ने अर्थशास्त्र के समान राजनीति को भी मानव-नीति में सम्मिलित रूप में ही स्वीकार किया है। राजनीति व्यक्ति द्वारा निर्मित होती है, अतः वह व्यवस्त पर अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सकती। मानव जीवन की व्यवस्था में वह एक हेतु बनकर ही स्थिर रह सकती है। जैनेन्द्र के अनुसार स्वाथ की भावना ही व्यक्ति को व्यक्ति से तथा सस्था विशेष से दूर रखती है। 'स्व' के विगजन में द्वन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र साहित्य के विचारात्मक पक्ष में राजनीति के विभिन्न आदर्शों की स्थापना और आलोचना की गई है। उपन्यास और कहानियों में उन्होंने मानव जीवन में तद्गत करके राजनीतिक नियम, कानून और व्यवस्था की विवेचना की है। 'जयवर्धन' में जैनेन्द्र के राजनीतिक विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। उनके अनुसार राजनीति की माथकता उसी में है कि वह धीरे-धीरे मानव-नीति की ओर अग्रसर हो और शासन तथा दण्ड का बाह्य आरोपण स्वयं में निरर्थक प्रतीत होने लगे। राज्य-सभा अथवा कानून को एकाएक समाप्त नहीं किया जा सकता किन्तु प्रयास उस बात का होना चाहिए कि व्यक्ति स्वशासित हो। शासन के स्थान पर अनुशासन को प्रथम मिले।'

'जयवर्धन' में जैनेन्द्र के विचार भारतीय सस्कृति और आदर्शों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं। उनके विचारों के मूल में गांधी की अहिंसक नीति भी स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार राज्य, राष्ट्र

आदि व्यक्ति के द्वारा कल्पित सीमाएँ हैं, किन्तु मूलतः अखिल सृष्टि कागज के नक्शे की रेखाओं में विभाजित नहीं है। 'राष्ट्रवादी' नीति में अपने पड़ोसी राष्ट्र के प्रति मानवता, पशुता का प्रतीक बन जाती है। सीमा-रेखा के कारण पड़ोसी राष्ट्रों के मध्य अवस्थित व्यक्तियों की पारस्परिक सहानुभूति और मानवीय संबंधों समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीय विभाजन के कारण प्रायः ऐसा होता है कि सीमा रेखा एक घर के कुछ कमरों को एक राष्ट्र में विभाजित कर देती है और कुछ को दूसरे में। इस प्रकार एक साथ प्रेमपूर्वक रहने वाला परिवार विभाजन के बाद पारस्परिक सहानुभूति और सहृदयता खो बैठता है।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र नक्शे की रेखाओं से परे सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में बांधने के पक्ष में है। राष्ट्र और राज्य बाह्य व्यवस्था के सूचक ही हो सकते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावना ही प्रधान होनी चाहिए।

जैनेन्द्र की राजनीतिक विचारधारा गांधीजी के आदर्शों से परिवेष्टित है। गांधीजी के अनुसार राजनीति, सौ फीसदी राज करने, बनाने या रखने की नीति होकर नहीं बैठ सकती। राजनीति निरपेक्ष रूप नहीं धारण कर सकती। मानव जीवन यदि भीतर-ही भीतर रूप होता जा रहा है, स्वार्थमयी धर्मशास्त्रों के द्वारा यदि सामान्य जीवन की उपेक्षा की जाती है, तो राजनीति शक्ति न रहकर शक्ति के उदय में बाधक सिद्ध होती है।^२ राज्य की शक्ति व्यवस्थामूलक होनी चाहिए। आत्मानुशासन ही वह यन्त्र है, जिसमें समस्त मानवता शासित हो। ऐसी स्थिति में राजा-प्रजा, नेता-जनता के मध्य की सार्वजनिक ही मिट जायेगी। जैनेन्द्र ऐसी ही राजसत्ता के पक्ष में हैं, जिसमें शीर्ष पर कोई न हो, फिर भी व्यवस्था बनी रहे। यही कारण है कि 'जयवर्धन' में जय को सिंहासन के प्रति कोई आसक्ति नहीं है।^३

जैनेन्द्र के माहित्य का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति और व्यक्ति का जीवन है। राजनीति में व्यक्ति की उपेक्षा करके राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने वाली

१. 'राज्य की सीमा है, वह लकीर धरती पर तो नहीं है, सिर्फ नक्शे पर है, इसलिए राज्य कृत्रिम है।' — जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६ प्र० स०, पृ० ४११।

२. जैनेन्द्र कुमार 'अकाल पुरुष गांधी', दिल्ली, १९६२, प्र० स०, पृ० ७५।

३. "भारतीय आत्मा का कभी सिंहासन पर चढ़ बैठने की आकांक्षा नहीं हुई है। उधर उसकी रूढ़ि ही नहीं गई। रुचि ही नहीं रही। यहाँ उसने माया को देखा। उसकी शोध सत्य की थी, इसलिए वह शक्ति से और उसकी प्रतीकों से बाहर रही।" प्र० स०, 'जयवर्धन'

साम्यवादी दृष्टि स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने व्यक्ति की सापेक्षता में ही जीवन के विविध अंगों की सार्थकता स्वीकार की है। व्यक्ति की अन्तर्निष्ठ प्रवृत्तियों के मत्त का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। वस्तुवादी लेखक बाह्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही अपने पात्रों के चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, किन्तु जैनेन्द्र आत्मपरक साहित्यकार हैं। उन्होंने व्यक्ति के मनोविज्ञान के सहारे उसके कार्य-व्यापारों के स्रोत का पता लगाया है। राजनीति, अर्थशास्त्र उनके द्वारा बहुत सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। व्यक्ति जीवन की समग्रता, अर्थ राज, धर्म आदि की सापेक्षता में ही सम्भव है, किन्तु व्यक्ति क्या है, उसकी मूल प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व के निर्माण तत्त्व तथा अन्तर्द्वन्द्व आदि बातों को जाने बिना किसी भी साहित्यकार की समस्त अभिव्यक्ति महत्वहीन ही रह जाती है। क्योंकि साहित्य समाज का ही दर्पण नहीं है,^१ वह व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति का साधन नहीं है। सागर की विराटता अथवा उसकी उठती-गिरती तरंगों ही उनकी महानता की सूचना नहीं है। उसकी महानता का रहस्य उसके अन्तर्गत में अवस्थित है, जो कि गन्धन के परिणामस्वरूप ही ज्ञात किया जा सकता है। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन का मत्त घटनाओं में न होकर मन के अन्तर्द्वन्द्व और आत्मबोध में विद्यमान रहता है। मनोविज्ञान के द्वारा जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसकी अस्थिरता में जानने का प्रयास किया है। अन्तर और बाह्य दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बाह्य जीवन अन्तर्द्वन्द्व के सहारे ही परिचालित होता है। सामान्यतः सुधारवादी लेखकों ने बाह्य परिस्थिति को ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण तत्त्व माना है, किन्तु जैनेन्द्र की कथा में व्यक्ति के चारित्रिक विकास की परिणति न होकर द्वन्द्वाभिव्यक्ति ही है। उनके पात्र प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारों के सदृश उत्तरोत्तर अपने चरित्र का विकास करते हुए नहीं प्रतीत होते। यद्यपि जैनेन्द्र के पात्रों का जीवन अनन्त सम्भावनाओं में पूर्ण है, उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई पूर्व निर्णय नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, किन्तु उनकी विशेषता अन्तर्द्वन्द्व द्वारा 'स्व' की अभिव्यक्ति करने में है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यास चरित्र प्रधान न होकर व्यक्ति प्रधान हैं। जैनेन्द्र ने व्यक्ति को उसके भूत और वर्तमान की सम्पूर्णता में देखा है। जीवन की वर्तमानता के मूल में उसका व्यतीत जीवन समाहित रहता है। व्यक्ति

१ जैनेन्द्र कुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', दिल्ली, १९६७, प्र० १०, पृ० १३०।

जो कुछ भी दिखता है वही नहीं है, वरन् उसके पीछे उसका एक इतिहास है, जो उसके व्यक्तित्व और आचरण का आधार है। जैनेन्द्र ने अपनी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा अखण्ड जीवन का अवलोकन किया है। 'रुकिया बुद्धिया' व 'गवार' में उनके इन्हीं विचारों की झलक दृष्टिगत होती है। 'रुकिया बुद्धिया' आजीवन बुद्धिया और रुकिया ही नहीं थी। वह भी कभी युवती थी। रूकिया ही नहीं रुकमणि थी। किन्तु बुढ़ापे में उसकी अति विनम्रता, सहनशीलता और त्यागमयी प्रवृत्ति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही वह वही से टूटी हुई है। उसके भावात्मक जीवन को कहीं कोई ठेस लगी है, जिसके कारण वह उतनी अधिक विनत रहती है। ऐसी स्थिति में लेखक ने बड़ी सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा रुकिया के बीते दिन की पर्त पर पर्त खोली है। लेखक की महत्ता बीते दिनों की घटना के वर्णन में नहीं है, वरन् उसे रुकिया बुद्धिया के जीवन को उभार कर अत्यधिक सवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत करने में है। 'गवार' में भी गवार व्यक्ति की अतिशय भक्ति भावना के मूल में उसके मन की कड़ाही वह प्रेरक तत्व है जो समस्त विचार और कर्म को प्रभावित किए रहती है। उसकी बातों में ऐसा आभास होता है कि वह अत्यन्त साधु पंक्ति का भक्त पुरुष है, किन्तु जैनेन्द्र ने उसके आचरण को कार्य कारण की श्रृंखला में रखकर समझने और मूल में अविस्थित सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः लेखक का उद्देश्य व्यक्ति के हृल्ल को फाटकर सत्य का उद्घाटन करना है। 'सुखदा', 'विवर्त', 'अनन्तर' आदि में जैनेन्द्र के प्रमुख पात्रों का आचरण बहुत ही असहज रूप से अभिव्यक्त होता है। उपन्यासों में जैनेन्द्र ने कर्म के कारणों की स्पष्ट निवेचना नहीं की है, किन्तु यह सत्य है कि उनके पुरुष पात्र यथा जितने, हरिप्रसन्न मनोग्रन्थि से पीड़ित हैं और उमीलिय वे क्रान्तिकारी का रूप धारण करते हैं।

जैनेन्द्र ने सत्य के उद्घाटन के लिए मनोविश्लेषण की शास्त्रीय पद्धति का सहारा नहीं लिया है, वरन् अपने व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर पात्रों के जीवन की असहजता तथा उनके अप्राकृतिक आचरण के मूल उत्स को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होंने स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्धों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। फ्रायड के अनुसार 'काम' शारीरिक भूत है जो सदैव तृप्त होने के लिए सचेष्ट रहती है।^१ जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के सम्मिलन में काम-तृप्ति की आकांक्षा को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। काम की क्षुधा को उन्होंने आध्यात्मिकता का पुट देकर

मौलिकता का परिचय दिया है। अतएव उनके अनुसार काम तृप्ति द्वारा दमित वासनाओं की ही तुष्टि नहीं होती, वरन् स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मिलन में भगवत्ता का बोध होता है तथा अहं विसर्जन की भावना को पोषण मिलता है, जिससे व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव होता है।

जैनेन्द्र ने खेल, पाजेब, आत्मशिक्षण, फोटोग्राफ आदि कहानियों में बाल मनोविज्ञान का अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन किया है। बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से 'खेल' उनकी बहुत ही सफल कहानी मानी जाती है। बच्चों की अपरिमेय कल्पना-शक्ति का उन्होंने बहुत आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य में नम, अथ, राजनीति और समाज में भौतिकता से ग्रान्यात्मिकता पिण्ड में ब्रह्माण्ड 'स्व' से 'पर' की ओर जो उन्मुखता दृष्टिगत होती है, उसके मूल में जैनेन्द्र के चिन्तनशील व्यक्तित्व की ही भक्तक मिलती है। जैनेन्द्र लेखक होने के साथ ही साथ विचार प्रधान दार्शनिक भी हैं। उनकी दार्शनिकता तत्त्व की प्रचारक न होकर व्यावहारिक जीवन को माधेय प्रधान करने वाली धुरी है। कोरी भावना व्यवित को कल्पना-लोक का प्राणी बना देती है। किन्तु व्याप्ति यथाय भूमि में चरण रखता हुआ सम्भावनाओं के लोह में प्रगतिशील होता है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता यथार्थ किन्हीं स्थानों में विषय की भावनात्मक गरिमा को बहुत बोझिला बना देती है,^१ किन्तु अविकसित वह जीवन की सत्ता को उद्धाटित करने में ही सहायक होती है। उनके दर्शन का स्वरूप जीवन के साथ इतना आत्मसात् होकर अभिव्यक्त होता है कि उसकी दुरुहता और जटिलता स्वतः ही नष्ट हो जाती है। जैनेन्द्र का दर्शन उनके आत्मबोध और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति का ही परिचायक है। उनके जीवन-दर्शन में मनोविज्ञान का विशेषतः याग रहा है। दर्शन समष्टि को व्यष्टि में समा लेने, अथवा व्यष्टि को व्यष्टि में समाहित कर देने की भावना का पोषक है। मनोविज्ञान व्यष्टि के अन्तर्द्वन्द्व का विवेचन करने में सक्षम हुआ है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता दृष्टि अज्ञेय वादियों की-सी रहस्यवादी है। वे अदृश्य और अप्रस्तुत के सम्बन्ध में सदैव सम्भावित अथवा सापेक्ष दृष्टि को ही स्वीकार करते हैं। जो अग्राह्य है, उसके सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से कोई निर्णय नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। जैनेन्द्र की सापेक्षिक दृष्टि जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दार्शनिकता का ही प्रतिफल है। जैन दर्शन में सत्य क्या है, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता।

१ जैनेन्द्र कुमार 'खेल' जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियाँ, सपा० शिवनन्दन-प्रसाद १९६६, प्र० स०, दिल्ली, पृ० ३४।

जैनेन्द्र की प्रनेकान्तवादी दृष्टि नितान्त ग्रहिसक तथा समन्वयमूलक है। वे किसी भी मत का खण्डन नहीं करते, क्योंकि प्रत्येक विचार अपनी सीमा में सत्य हो सकता है। विचारों और वादों का खण्डन भी एक प्रकार की हिंसा ही है। जैनेन्द्र की ग्रहिसक नीति कोरी जीव-हत्या तक ही सीमित न होकर व्यापक ग्रंथों में गृहीत है।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में सत्यान्वेषण के प्रति सतत् जिज्ञासा बनी रहती है। ईश्वर ही एकमात्र शक्ति है, जो जीवन के समस्त सूत्रों का संचालन करती है। प्रतिदिन के जीवन की घटित घटनाओं के मध्य प्रत्येक व्यक्ति को उस परम सत्ता का आभास प्राप्त होता रहता है। निराशामय जीवन में व्यक्ति अपनी श्रद्धा और विश्वास के सहारे ससार में जीने की शक्ति प्राप्त करता है। जैनेन्द्र की जीवन दृष्टि अमेद श्रद्धामूलक है। भेद-दृष्टि द्वन्द्वमूलक है, किन्तु जहाँ समस्त भेद-भाव अपने-अपने मार्गों से उस परम सत्ता में समाहित हो जाते हैं, वहाँ मतवाद का आग्रह नहीं रहता, वरन् पारस्परिक प्रेम की सम्भावना रहती है।

जैनेन्द्र की दार्शनिकता कोरी बुद्धि का ताण्डवनृत्य नहीं करती, उसमें व्यावहारिक जीवन के आत्मसात् होने की क्षमता विद्यमान है। अधिकांशतः दार्शनिक जीवन की व्यावहारिकता से दूर निर्जन में शाश्वत सत्यों की खोज में रत रहते हैं, किन्तु जैनेन्द्र ने जीवन-सघर्ष के मध्य ही सत्य का बोध प्राप्त करने की रास्ता की है। मानव-पीड़ा में ही सत्य का स्वरूप निवास करता है। जैनेन्द्र की विचारधारा का मूल उद्गम ही मानव-व्यथा है।^१ व्यथा में सम्पन्न की भावना उत्पन्न होती है। जैनेन्द्र के दुःख-बोध और गौतम बुद्ध के दुःख-बोध में प्रसर है। जैनेन्द्र दुःख से छुटकारा नहीं चाहते, वरन् दुःख में ही आत्मान्वेषण अथवा सत्यान्वेषण करते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार व्यथा की शक्ति आस्था पर ही निर्भर है। जैनेन्द्र के पात्र अपनी व्यथा का दोषारोपण समाज अथवा किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं करते, उमें वे अपने भाग्य का परिणाम समझते हैं। यद्यपि जैनेन्द्र की अतिशय भाग्यवादिता तो कभी-

१ "हर तत्त्ववाद को मानो सवेदना की कसौटी पर उतरना और अपने को सारा साबित करना होता है। सबसे प्रथम तथ्य और मूल तत्व हैं दुःख—दुःख बोद्ध कथन का भी शायद यह सार है। इस अनिवार्यता के ही विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया।"

—जैनेन्द्र कुमार 'कहानी . अनुभव और शिल्प' दिल्ली, १९६७, प्र० स०, पृ० ७२।

हमी खटकने भी लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कम से अधिक भाग्य पर विश्वास करते हैं। किन्तु यह सत्य है कि वे भाग्य-विश्वासी होते हुए भी कम की उपेक्षा नहीं करते। जैनेन्द्र की अति भाग्यवादिता के मूल में ईश्वरीय प्राप्ति ही विद्यमान है। उनके अनुसार 'म' (व्यक्ति) गदैव गपूगता म पूगता की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील रहता है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति भाग्य के समक्ष अत्यन्त विवश हो जाता है। उस विवशता को वह बहुत विनत होकर स्वीकार करता है। उसके पक्ष में यह बात होती है कि 'जब वह है, तब मैं कहाँ? तब यह बार क्या?' जैनेन्द्र व्यक्ति को प्रव्यक्त के व्यक्तीकरण का माध्यम मानते हैं। उनके अनुसार वह (व्यक्ति) भाग्य के हाथ में अपने को छोड़कर भी निरन्तर हमशील रहता है।

जैनेन्द्र का परमादर्श जीवन की सतत् यात्रा में अभेद अथवा अभिन्नता की प्राप्ति करना है। यद्यपि व्यक्त समार की व्यावहारिक पृष्ठभूमि में नितास्त भेद संभव नहीं, यत वे द्वैत के मध्य प्रेम का रूप गीतार भेदत्व की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमें आत्मानन्द का प्राप्ति हो सके। अभेद अथवा गपूगता जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का वह आधार है, जिस पर उन्होंने अपने गभस्त चिन्तन को साहित्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य में उनकी जीवन के प्रति प्रदूट प्राप्ति की अभिव्यक्ति हुई है। जीवन में लगन, निष्ठा, दायित्व, प्रेम, सहानुभूति आदि का महत्त्व उनके उपन्यास और कहानियों में स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के पात्र गभस्त मानवीय गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दया और सहानुभूति की भावना उनके पात्रों में कूट-कूट भर भरी हुई है। 'लाल सरोवर' में एक साधु निम्बाय भाव से कोढ़ी वेश्या की सेवा करता है। उसे सामाजिक मान-सम्मान का भय नहीं होता। वह बड़ी लगन और निष्ठा के साथ समाज द्वारा तिरस्कृत नारी की सेवा करता है। जैनेन्द्र की रचनाओं में त्याग की भावना विशेषरूप से दृष्टिगत होती है। 'परख' में कट्टों का त्याग और निश्छल सेवा, प्रेम का आदर्श प्रतुलनीय है।

जैनेन्द्र ने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से चिरन्तन प्रश्नों के भीतर प्रवेश किया है। जीवन के सत्य के प्रति वे सतत् जिज्ञासु के सदृश्य गदैव जगत और जगत की

१ प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', प्र० स०, १९२७, पृ० २४०।

२ जैनेन्द्र कुमार 'लाल सरोवर', जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ सपा० शिवनन्दनप्रसाद, प्र० स०, दिल्ली, १९६६, पृ० २४५।

घटनाओं से ही रमते रहे। उन्होंने जटिल-से-जटिल समस्या का समाधान भी जीवन की वास्तविकता में ही प्राप्त किया है। सत्य का शोध करने के लिए वे सगार से दूर नहीं गये, न ही उन्होंने परम्परागत दार्शनिकों के सादृश्य अपना कोई दर्शन परतुत किया है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रायः अधिकांश दार्शनिक अपने पूर्व प्रतिष्ठित मान्यताओं के आधार पर ही अपना ग्रन्थगन गौर निश्चेषण गारम्भ करते थे। उनके समक्ष खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया ही प्रधान होती थी। किन्तु जैनेन्द्र मात्र द्रष्टा है, वे स्वयं को किसी मत विशेष का ररुता होने योग्य भी नहीं स्वीकार करते। वे जीवन के पति उतने राजग रहे ह कि प्रतिदिन की घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव उन पर पड़े गिला नहीं रहा।

चिरन्तन में समय की निरन्तरता का बोध होता है। जीवन के वे प्रश्न जो पतिदिन की घटनाओं से सबध रखते हैं, वे ही चिरन्तन कहे जा सकते हैं। जैनेन्द्र के साहित्य की विशिष्टता चिरन्तन प्रश्नों के मूल में समाविष्ट सत्य की खोज करने में ही दृष्टिगत होती है। सामाजिक, ऐहिक, राजनीतिक आदिपना के अपरा माकार प्रकार में ही वे सन्तुष्ट नहीं होते और न ही उसमें सतार का पायापकता समझते हैं। उनकी दृष्टि में यदि व्यक्ति से जीवन के पति का पकड़ हो गाय तो बाह्य जीवन की समस्त विपमताएँ स्वतः ही दूर हो जायेंगी। पताच उन्होंने गधार पर दृष्टि डाली है, आदर्श पर नहीं। स्व पर की समस्या जीवन की सबसे विकट तथा विशद् समस्या है। पर, परिवार मेंकर राष्ट्र के मूल में 'स्व-पर' का द्वैत और द्वैत से उद्भूत दन्द ही प्रधानतः दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के अनुसार द्वैत की स्थिति जगत को गायता के लिए गतिवार्य और स्वाभाविक है, किन्तु द्वैत अन्तिम सत्य नहीं है, अन्तिम सत्य चद्वैत की प्राप्ति के हेतु स्व अथवा पर को मूलतः मिटाना अथवा अस्तित्व का ही समाप्त करना नहीं है, वरन स्व का आदर्श पर के सम्मुख समर्पित हाना है। स्व-पर की परम्परा द्वारा जीवन की बड़ी-से बड़ी समस्याएँ सहज ही समाप्त हो सकती हैं।

जैनेन्द्र आत्मपरक आस्तिक साहित्यकार और जीवन-द्रष्टा है। उनके जीवन का सत्य आत्मोपगन्धि प्रथवा आत्मोन्मुखता में ही प्राप्य है। प्रेमचन्द का साहित्य उनकी वस्तुनिष्ठ प्रकृति का परिचायक है। वे समाज की समस्याओं से दूरे थे। व्यक्ति की आत्मा उनके साहित्य में इतनी मुखरित नहीं हो सकी थी, अन्तिम कालान्तर में जैनेन्द्र के साहित्य में हुई है। जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन जिन् मान्यताओं पर आधारित है, वे स्वतः ही उन्हें आत्मोपगन्धि की ओर उन्मुख करती हैं।

‘ग्रह विसर्जन’ में आत्म समर्पण की भावना विद्यमान है बिना आत्म-समर्पण के आत्मोपतब्धि असम्भव है। जैनेन्द्र समस्त चराचर जगत को विनत भाव में समर्पित होते हुए ही पाते हैं। ‘स्व’ का ‘पर’ में समाहित हो जाना अथवा ‘पर’ को ‘स्व’ में मिला देना ही उनके विचारों का मूल सूत्र है। ‘मे’ कुछ नहीं है, जो कुछ है सब वही है, ऐसी भावना व्यक्ति का सगार का माया प्रपञ्च में दूर कर आत्मोन्मुख बना देती है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि व्यक्ति के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाए कि प्रकृति का समस्त वैभव उसके हिताय है, सब उसके आधीन है तो उसकी प्रगति अवरोध हो जाती है। प्रगति का मूल अपूर्णता के बोध में ही निहित है। ‘मे’ कुछ नहीं है इस सत्य का बोध होने पर ही व्यक्ति पूर्णता के लिए प्रयत्नशील होता है। आत्मा का परमात्मा में साक्षात्कार होने की स्थिति ही पूर्णता की सूचक है। किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि जीवन सतत् यात्रा है। व्यक्ति का सम्बन्ध यात्रा में होना चाहिए, मजिल से नहीं। मार्ग के कष्टों को सहता हुआ व्यक्ति निरन्तर आत्मोन्मुखी होता जाता है। अन्ततम में ईश्वर का सिवा कोई नहीं है। जैनेन्द्र के अनुसार “ग्रह एक है, उसके भी मम मूल में जायदाद नहीं। पार्श्व में रह कर यह विन्दु बन उठा है तो उसकी यथायता योग सत्यता में उतरने उतरने क्या हमें उस निखिल में ही पतन जाना नहीं भोगा ?” जैनेन्द्र की आत्मनिष्ठा में परम अन्तरंग परमेश्वर की प्राप्ति का योग होता है, उसमें अचेतन, अवचेतन आदि की ग्रन्थि नहीं होती। जैनेन्द्र सत्य की प्राप्ति के हेतु शब्दों में नहीं भटकते। उनके अनुसार शब्द बीच के पड़ाव हैं, उनमें ही भटक जाना लक्ष्य का निषेध करना है।

जैनेन्द्र आत्मनिष्ठ होकर वस्तु जगत् की उपेक्षा नहीं करते। जिस प्रकार उनकी समष्टि का ग्रहण करने की भावना स्वतः ही व्यक्ति को स्वीकृति प्रदान कर देती है। उसी प्रकार आत्मनिष्ठा में वस्तुनिष्ठा अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। वस्तु-जगत् की अनेकता आत्मोन्मुखी होकर एकता की ओर उन्मुख जाती है। उन्मिषा ही वह कड़ी है जो आत्मता को वस्तुता से जोड़ने में सक्षम होती है। वस्तु जगत् की उपेक्षा में जीवन की कल्पना ही असम्भव हो जाती है। वस्तुतः जैनेन्द्र की आत्मोन्मुखता एक ओर ईश्वर की प्राप्ति में सहायक है, दूसरी ओर वस्तुजगत् के भेद-भाव को दूर कर अभेदत्व अथवा अद्वैतता की ओर उन्मुख करती है। अखण्डता की प्राप्ति ही जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का परम लक्ष्य है।

आत्मनिष्ठा ही अधिक है

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में आत्मनिष्ठा स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। उनके पात्र अपनी आत्मा में ही सत्यान्वेष्टा का प्रयास करते हैं। पीड़ा ही बत रस है, जिसमें उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व ही प्रधान है। 'सुखदा', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' के नारी पात्र आत्मव्यथा में ही पीड़ित हैं। जैनेन्द्र की कहानियों में 'एकरात', 'गवार पानवाला', 'रुकिया बुढ़िया', 'अधे का भेद', 'दृष्टिदोष', 'जाह्नवी', 'रानी महामाया' आदि अधिकांश कहानियों में एक अन्तर्व्यथा विद्यमान है जो अपनी चरम सीमा में शून्यत्व हो जाती है। उस अवस्था में व्यक्ति को अपनी आत्मा के मर्मतिमर्म में प्रवेश कर गतिन्द्रियता का बोध होता है। स्त्री-पुरुष के सम्मिलन में भोग में योग की ओर गति होती है। योगावस्था में द्वन्द्व और द्वैत से मुक्त होकर व्यक्ति एकाग्र हो उठता है। जैनेन्द्र की कहानियों में अन्तरमन की रिवतता में सदैव प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा विद्यमान रहती है। 'एक-रात' में सभोग की स्थिति में स्त्री-पुरुष पात्र इतने तन्मय हो जाते हैं कि वासना का अश स्वयं में निमग्न गिर हो जाता है। अतः उनकी योगावस्था उन्हें एक दूसरे से दूर करके भी शान्त रखती है।

जैनेन्द्र की आत्मपरक नीति स्वरति से भिन्न है। जैनेन्द्र के आलोचकों ने उनकी आत्मनिष्ठा को आत्मयोग की सज्ञा दी है और उसे वासनामूलक तथा रीतिकालीन ऐहिकता से युक्त किया है। किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि में संयोग स्वयं में अन्तिम स्थिति नहीं है। शरीर में भटक जाना सत्य का निषेध करना है। वे इन्द्रिय सोपान द्वारा प्राप्त होने वाली आत्मोन्मुखता तथा परमतत्त्व की एकाग्रता को ही जीवन का प्रधान लक्ष्य मानते हैं।

जैनेन्द्र का साहित्य युगविशेष से बंधा हुआ नहीं है। बुद्धि व्यक्ति को काल और खण्ड की सीमा में आबद्ध करके ही उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है, किन्तु श्रद्धा खण्ड में ही सीमित न रहकर अखण्डता की ओर उन्मुख होती है। काल की गति अनन्त तथा अपरिमेय है, वह अविभाज्य है। जैनेन्द्र के अनुसार हम अपनी सुविधा के लिए काल का विभाजन करते हैं और उसे घटा, दिन और साल आदि में विभाजित कर देते हैं। किन्तु सत्य यह है कि काल की अनन्त धारा में भूत, वर्तमान और भविष्य स्पष्ट ही समाहित हो जाते हैं। यदि भूत वर्तमान से पृथक् है तो इतिहास का स्वयं में कोई महत्व ही नहीं रह जाता। युग-युगान्तर में सग्रहीत मानव-आधार विचार ही संस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं।

व्यक्ति-चेतना और काल-खण्ड के ऊपर उठने की चेष्टा

जैनेन्द्र के साहित्य द्वारा कालखण्ड और व्यक्ति चेतना से ऊपर उठने की चेष्टा है। वर्तमान में गढ़ा हुआ व्यक्ति शाश्वत सत्य के सम्मुख में पूर्ण निष्पक्ष निर्णय नहीं दे पाता। अतएव जैनेन्द्र के अनुसार साहित्य भग्न सामयिकता के प्रति सापेक्ष दृष्टिकोण रखते हुए समयातीत नहीं होना चाहता। उनका आदर्श समयोत्तीर्ण होकर ही युग सत्य बन सकता है। गोरामाजी तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरित मानस' चार सौ वर्षों के बाद आज भी अपनी समयोत्तीर्णता के कारण उसी प्रकार प्रासंग्य है, जैसे कि तुलसी के युग में था। शाश्वत सत्य को चिरस्थायी रखने के लिए उसे काल-खण्ड में सीमित नहीं रखना होगा।

जैनेन्द्र का जीवन-आदर्श उत्तरोत्तर गहण्डता की ओर उन्मुख होता है। आत्मोपलब्धि में व्यक्ति, व्यक्त जगत के बन्धन से मुक्त हो परम प्रतरण से साक्षात्कार करता है। जीवन यदि वर्तमान से सम्बद्ध होता तो ज्ञान की गहण्डता स्वयं में ही निशेष हो जाती। जैनेन्द्र ने कारणभूमि से ऊपर उठने की चेष्टा की है। आधुनिकता अथवा नवीनता की स्थापना के लोभ में वे स्वयं को किसी युग-विशेष के घेरे में आवद्ध करके नहीं लेते। आधुनिक और नवीन कहलाने के लोभ में आज साहित्य के क्षेत्र में पुराने के उन्मूलन तथा नितान्त नवीन की स्थापना के हेतु कांति हो रही है। 'वर्णित लेखक' भी जैनेन्द्र को ऐतिहासिक में स्थान देकर आधुनिकता की पताका उन्नी करते हैं। किन्तु आधुनिक से तात्पर्य यदि वर्तमान में ही है, तो वह एक दिन स्वयं में ही विनष्ट हो जायेगा। व्यक्ति अथवा साहित्य भूत को परम्परा रूप में स्वयं में समाहित करता हुआ भविष्य का आलिंगन करता है। 'युग-विशेष का डका पीटने वाला साहित्य शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठापना नहीं कर सकता। जैनेन्द्र की आत्मा सदैव काल की अनन्तता में खो जाने के लिए व्याकुल रही है। व्यष्टि को समष्टि में समाकर शून्य में विलीन हो जाना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "मैं कभी भी आधुनिक नहीं होता चाहता, क्योंकि काल से तत्सम होना चाहता हूँ। काल के खण्ड को लेकर तुष्ट और मग्न नहीं हो जाना चाहता।" वे काल को भूत, वर्तमान

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', दिल्ली, १९६२, प्र०स०, पृ० ५०३।

२ कमलेश्वर 'नई कहानी की भूमिका', इलाहाबाद, १९६६, पृ० १२।

३ जैनेन्द्र के साक्षात्कार के अवसर पर।

४ जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', पृ० ६०।

और भविष्य की रेखाओं से विभाजित करके समझने के पक्ष में नहीं है। व्यक्ति का सत्य समय से पार चलने में ही सार्थक हो सकता है। पार या तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान पर इष्टि ही नहीं रहे। जैनेन्द्र यथार्थ जीवन की उपासना में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार धरती पर पैर रखते हुए भी इष्टि अगन्त शून्याकाश से भी पार होनी चाहिए। उस अनन्तता की गोद में जागतिक द्वन्द्व, भेद-भाव और अखण्डता का दोष स्वयं में ही तिरोहित हो जाता है। जैनेन्द्र ने प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों के आदर्श को उपरिस्थित करते हुए 'जयवर्धन' में जय को समय के पार देखने वाले आदर्श व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।^१

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में व्यावहारिक जीवन में उत्पन्न होने वाले वर्ग-भेद के ऊपर व्यक्ति की सत्ता स्वीकार की है। मनुष्य खण्डता में जड़ित नहीं है। वह काल के अनन्त प्रवाह के सदस्य अपनी जीवन यात्रा में निरन्तर चलता जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य स्थूल और व्यक्त के पार सूक्ष्म की खोज करना है। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में वर्तमान से उतर पौराणिक कथाओं को अपनी कल्पना का पुट देकर तथा पौराणिक पात्रों को अपने आत्मिक सत्य की अभिव्यक्ति का प्रतीक बनाकर वर्णित किया है। उनकी अन्य कहानियों में तथा उपन्यासों में उस दिव्यता की प्राप्ति का प्रयास है, जहाँ पहुँचकर व्यक्ति चेतना भी विलुप्त हो जाती है, केवल शून्य शेष रह जाता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धों में भी जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ की भूमि से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण का प्रयास करते हैं। वे वर्तमान से चिपटे नहीं रहते, वरन् स्वप्न और कल्पना-लोक में अपने समस्त जागतिक बन्धनों से मुक्त होकर अद्वैतता की प्राप्ति में तत्पर रहते हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र साहित्य और जीवन के सम्बन्ध में उच्चतम मान्यताओं को ही स्वीकार करते हुए चलते हैं। आत्मनिष्ठा और अखण्डता उनके साहित्य की आत्मा है। उन्होंने सत्य की प्राप्ति में बुद्धि से अधिक भावना और श्रद्धा को प्रश्रय दिया है। बुद्धि और विचार के लिए सामाजिक और लौकिक आदि धारणाएँ सगत होती हैं, किन्तु जीवन का काम उनको लाघवा हुआ भी चल सकता है। **बाह्य जगत् की सम्बद्धता और अपेक्षा जब

१ 'चेतना समय से नहीं चलती वरन् समय उसके पार चलता है। **हो गये जिन्होंने समय के पार देखा है, ... । ...काल के बीच मनुष्य को अकाल बनना है, वह क्षण की उपासना से नहीं, शाश्वत के ध्यान से होगा।'

कि ग्रह के लिए अनिवार्य है, तब धारणात्मक विभिन्न विस्तृत नाना तत्व मय जगत् उतना अनिवार्य नहीं है। संक्षेप में जीवन में लौकिक सामाजिक भी अपेक्षा से अखिल अखण्ड की अपेक्षा अधिक सगत और स्वाभिमानी है।^१ खण्डता में स्थूल जगत् की लीला दृष्टिगत होती है, किन्तु सूक्ष्म अथवा लोक में व्यक्ति काल-खण्ड से ऊपर उठकर अखिल को अपना लेना चाहता है।

जैनेन्द्र के दार्शनिक विचारों पर सत खलील जिब्रान का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। खलील जिब्रान भी काल को प्रेम की भाँति अविभाज्य और असीम मानते हैं। उनके अनुसार कालातीत अतर्क्यता का कालातीत जीवन का ज्ञान रहता है।^२

जैनेन्द्र का साहित्य सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति का ही प्रतिफल है। सत्य दृष्टि-सापेक्ष हो सकती है, किन्तु मूलतः उसकी प्रकृति निरपेक्ष है। शाश्वत सत्ता का बोध अनुभूति द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि प्रतन्नाता और अखण्डता में प्रवेश करने में असमर्थ होती है। श्रद्धा विवेक सम्मत हो सकती है, जिससे कि ग्रह श्रद्धा न हो जाये, किन्तु उसका अस्तित्व तक में निमित्त हो जाता है। जैनेन्द्र परम आस्तिक विचारक हैं। वे सत्य का हृदय और मूर्त्ति का आधार पर ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति में उनका किसी मत विशेष से हेतु आग्रह नहीं होता। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने किसी मत को नहीं करते और न ही अपने मत की पुष्टि के लिए युक्तियों का व्यूह ही रचते हैं। जैन धर्मावलम्बी होने के कारण स्यादवाद में बहुत अधिक प्रभावित हैं। आत्म-टाइन की ग्लेटिविटी का सिद्धांत भी स्यादवाद का समान ही है। जैन धर्म में किसी भी मत का खण्डन नहीं किया जाता। प्रत्येक विचार दृष्टि सापेक्ष और समय सापेक्ष होने के कारण सत्य हो सकता है, किन्तु उस ही सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र भी अपनी अहिंसक नीति के कारण प्रत्येक मत का आदर करते हैं और अपने विचारों का किसी पर आरोपण नहीं करते। राजनीति, धर्म, समाज, दर्शन, मनोविज्ञान आदि सभी क्षेत्र में वे नितान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। राजनीति में समाजवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद आदि विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, जो कि स्वयं में अपूर्ण हैं। जीवन अखण्ड टुकड़ा है। जीवन की अखण्डता में असंयुक्त होकर कोई भी सिद्धांत सत्य का साक्षात्कार कराने में असमर्थ सिद्ध होता है। जैनेन्द्र

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', दिल्ली, प्र० सं०, पृ० ५७५।

२ खलील जिब्रान 'जीवन-दर्शन (अनु० सत्यकाम विद्यालयाकार) 'दि प्रोफेट' दिल्ली (संशोधित संस्करण १९५८), पृ० सं० ६६।

जगत की समस्त व्याप्ति को जीवन से आत्मसात् करके स्वीकार करते हैं। वस्तु और पाद बाहर की चीजे हैं, किन्तु जीवन का सत्य आत्मोपलब्धि में ही प्राप्य है। अनएव जैनेन्द्र के साहित्य में बाह्य निष्ठा अथवा प्रचार का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ व्यक्ति की आत्मता प्रधान है वहाँ पारम्परिक भेद-भान स्वतः ही निराधार सिद्ध हो जाते हैं।

तत्त्व-दर्शन के प्रचार में भारत के ही नहीं, विदेशों में भी बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र और मतवाद खड़े हो गये हैं। जैनेन्द्र का विश्वास है कि ईश्वर है या नहीं, उसका क्या स्वरूप है, इस सम्बन्ध में वे तर्कों का सहारा लेकर कोई निश्चित निरायण नहीं देते। ईश्वर के सम्बन्ध में वे परम जिज्ञासु के सदृश्य अनुमान ही लगाते हैं। उसके सम्बन्ध में कोई निरपेक्ष मत प्रस्तुत करके उसे ही सर्वोपरि नहीं मानना चाहते। जैनेन्द्र ने कहानी की रचना-दृष्टि-प्राप्त करने के हेतु ही की है, दृष्टिदान के हेतु नहीं की है।

वे तत्त्व प्रचारक नहीं एव युक्तियों का व्यूह नहीं रचते

आधुनिक साहित्यकारों में अधिकांशतः प्रचार की भावना विशेष रूप में रूपांगित होती है। वे नवीनता की छाप लगाकर अपने नाम में किसी नए बाद गिद्वानादि का प्रचार करना चाहते हैं। प्रचार की कामना से ही वे पाश्चात्त्य आदर्शों की उपेक्षा में जुटे हुए हैं। किन्तु जैनेन्द्र की साहित्य-रचना प्रार्थनायात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक न होकर नितान्त सहज और आत्मोपलब्धि के रूप में ही हुई है। प्रचारक को नाना प्रकार की युक्तियों के व्यूह रचकर अपने पक्ष को प्रमाणित करना पड़ता है, किन्तु जैनेन्द्र ने अपने मत की सत्यता को सिद्ध करने के लिए युक्तियों का जाल नहीं बिछाया है। वे सामान्य रूप से अपनी बातें कहकर फिर उनकी प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में चिन्तित नहीं होते। जैनेन्द्र की रचनाशीलता की अपरिग्रहिता भी उनके व्यक्तित्व की सहजता का स्पष्ट प्रमाण है। यदि उनमें यश की आकांक्षा होती तो स्वेच्छा से सदैव रचना करते रहते। सत्यता यह है कि अधिकांश कहानियों और उपन्यासों की रचना उन्होंने ऊपरी दबाव के कारण की।

जैनेन्द्र जीवन द्रष्टा हैं। द्रष्टा ज्ञाता से अधिक हैं। जानकर जो ज्ञानी बनते हैं वे व्यावहारिक जीवन में असफल रह जाते हैं, किन्तु जीवन को देखकर और उसके सत्यो में प्रवेश करके नवीन दृष्टि प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सत्य का सच्चा बोधक और निर्णायक हो सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य में बौद्धिक प्रगल्भता के साथ-साथ हृदयगत प्रसादिकता भी दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र द्वारा रचित विचार-प्रधान निबन्धों में उनका चिन्तनशील व्यक्तित्व सहज ही

अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। 'जैनेन्द्र के विचार' में सग्रहीत निबन्ध जैनेन्द्र की बौद्धिकता का अत्यन्त व्यावहारिक और सरस रूप व्यक्त करते हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन और अभिव्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे कठिन-मे-कठिन विषय को भी जीवन की घटनाओं से आत्मसात् करके उतने सरल रूप में अभिव्यक्त करते हैं कि सत्य का स्वरूप प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत हो जाता है। पाठक को उनकी सहजता पर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। दूर-पास, निरावाद, मानव का सत्य, उपयोगितावाद, जरूरी भेदाभेद आदि निबन्धों में उनका वैचारिक पक्ष जीव तत्त्व-दर्शन का विश्लेषण करता है। किन्तु तत्त्व-दर्शन जैसा निराकार विषय यदि कोरे शब्दजाल और युक्तियों के आधार पर प्रस्तुत किया जाय तो उसे ग्रहण कर बुद्धि को कसरत करती पड़ेगी और विचार का सार-तत्त्व हृदय तक उतरते-उतरते शुष्क होकर समाप्त हो जायगा। अतएव जैनेन्द्र ने बुद्धि को विचार-तत्त्व के स्तर तक ही स्वीकार किया है। विचार में अधिक जहां बुद्धि द्वारा तत्वों का प्रचार होने लगता है और हृदयगत आस्था समाप्त हो जाती है, वहां वे बुद्धि को उसे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने विचार के द्वारा भाव को स्थिरता प्रदान की है, क्योंकि कोरी भावना में टिकने की सामर्थ्य नहीं होती।

बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ हृदय की प्रासादिकता

जैनेन्द्र के साहित्य में हृदय की प्रासादिकता इतने व्यापक रूप में व्यक्त हुई है कि दर्शन की गम्भीरता भी उसमें सरस हो उठती है। उनकी कहानियों में यह भाव रमणीयता स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। पात्रों के विचार मानों हृदय तल की गहराई से आर्द्र होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। उनकी कुछ कहानियों में इतनी सरसता है कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते एक अप्रतिम आनन्द की अनुभूति होती है। 'लाल सरोवर', 'रानी महामाया', 'राजीव और भाभी', 'दो चिड़िया', 'नादिरा' आदि कहानियों में जैनेन्द्र ने व्यक्ति के अन्तरतम में प्रवेश कर अन्तस् की कोमल भावनाओं को बड़ी सहजता से अभिव्यक्त किया है। कही-कही तो भावावेश इतना बढ़ जाता है कि पाठक का हृदय कचोट कर रह जाता है। जैनेन्द्र की 'फोटोग्राफी' कहानी इस दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली है। भाव की सात्विकता मन को झकझोर देती है। वात्सल्य और स्नेहयुक्त ऐसी पवित्र अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। छोटी-सी घटना हृदयश्री के तार झकझोर देती है।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में स्त्री-पुरुष आकर्षण तथा परस्पर समर्पण भाव में स्त्री पात्र बहुत अधिक विनत हो जाते हैं। 'रानी महामाया'

प्रेम में अपना स्वत्व मिटा देने के लिए स्वयं को नाना प्रकार की यातनाएँ देती है। वह अपनी हार्दिकता के सहारे ही प्रिय का साक्षात्कार करना चाहती है।

‘परख’ के प्रारम्भिक अंशों में कट्टो और मास्टर साहब के मध्य होने वाला वार्तालाप बहुत आकर्षक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के साहित्य में अनेकों स्थल भरे पड़े हैं, जिनमें वे निरर्थक श्रद्धालु और प्रेमी रूप में ही व्यक्त होते हैं। बुद्धि की उष्मा तनिक भी नहीं पहुँच पाती।

मानवता के शाश्वत प्रश्नों पर विचार

जैनेन्द्र ने मानव जीवन के शाश्वत प्रश्नों पर विशद विवेचन किया है। ईश्वर, जीव, मृत्यु, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि विषयों पर उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं, जो किसी भी दार्शनिक मतवाद में बंधे नहीं हैं। उनके अनुसार दार्शनिक वही है, जो जीवनद्रष्टा है। जीवनद्रष्टा जीवन और जगत् की उपेक्षा करके नितात एकाकी बन जंगल में नहीं भटकता वरन् जीवन की घटनाओं और द्वन्द्वों में सत्य का अन्वेषण करता है। जैनेन्द्र ईश्वरवादी विचारक हैं। उनके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व ही एकमात्र सत्य है। उसकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि तर्क की गति वही सम्भव है, जहाँ व्यक्ति की पहुँच है, किन्तु जो विषय बुद्धि की पहुँच के बाहर है उसे तर्क द्वारा भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार मनुष्य की शक्ति अपूर्ण है। वह अपनी अपूर्णता से पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतएव ईश्वर के अस्तित्व को उन्होंने श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ही स्वीकार किया है।

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में पग-पग पर उनकी वास्तविकता दृष्टिगत होती है। उनकी अतिशय भाग्यवादिता ईश्वरीय श्रद्धा का ही परिणाम है। जैनेन्द्र के साहित्य में ईश्वर-भक्ति, पूजा, कर्मकाण्ड आदि के व्यक्त रूप में दृष्टिगत नहीं होती, वरन् उनकी आस्था पात्रों के हृदय में अन्तर्निष्ठ है। उनका हृदयगत प्रेम, त्याग, सेवा, समर्पण भाव ईश्वरीय भक्ति का ही द्योतक है। ईश्वर ही अप्रत्यक्ष रूप में समस्त सृष्टि का संचालक है। ‘सुखदा’ में उन्होंने ईश्वर को सूत्रधार के रूप में स्वीकार किया है।^१

ईश्वर को जानने के लिए उनके पात्रों में अतीव अविकलता है। ‘व्यर्थ प्रयत्न’ में ईश्वर के समक्ष समर्पित होने के लिए व्यक्ति का अहं छूटपटाता

रहता है। भौतिकता में शान्ति नहीं। क्योंकि समार नश्वर है। अतएव जैनेन्द्र एकमात्र ईश्वर को ही सत्य रूप में स्वीकार करते हैं। यही जैनेन्द्र की आत्मा का सत्य है। 'सब नहीं के पीछे एक है और वह है ईश्वर।'^१

जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही परिमित न होकर देश, समाज, धर्म और राष्ट्र के सन्दर्भ में भी फलित होती है। यही उनके विचारों की मौलिकता है। अर्थ का परमार्थीकरण राजनीति में मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ग्रह विसर्जन की भावना उनकी आस्तिकता के ही प्रतीक हैं।

जैनेन्द्र अज्ञेयवादियों के सदृश्य ईश्वर को रहस्यमय रूप में ही स्वीकार करते हैं, उनके बारे में कोई निश्चित स्वरूप नहीं प्रस्तुत करते। सृष्टि की अखण्डता में एकमात्र परब्रह्म का रूप ही परिलक्षित होता है। आत्मोन्मुख होकर ही अखण्डता की उपलब्धि हो सकती है।^२

जैनेन्द्र की धर्म सम्बन्धी धारणा बहुत ही स्पष्ट है। सामान्यतः धर्म के स्वरूप को लोग सम्प्रदाय में आबद्ध करके उसकी आत्मता की अवहेलना करते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का व्यापक रूप व्यक्ति की सहनशीलता में प्रतिनिष्ठित है। जीवन में कष्टों को सहते हुए उत्तरोत्तर कर्तव्य मार्ग की ओर बढ़ते जाना ही व्यक्ति का धर्म है। व्यक्ति का धर्म ही गार्हस्थ्य धर्मभाव का भी बोधक है। जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास और कहानियों में धर्म-भावना व्यापक रूप से छायी हुई है। उनके पात्र अपनी पीड़ा में ही जीते हैं। मृगाल समाज में तिरस्कृत होकर अधिक-से-अधिक कष्ट सहने में तथा 'अधे का भेद' कहानी में अधे की स्त्री अर्थोपार्जन के लिए तन बेचने को भी अधर्म नहीं समझती। वस्तुतः जैनेन्द्र की धर्म सम्बन्धी धारणा सकीर्णता की परिचायक न होकर दृष्टि की व्यापकता की सूचक है।

जैनेन्द्र आत्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हैं। 'आत्मा अपने परम रूप में परमात्मा है।'^३ आत्मा विकासशील है। आत्मता में व्यक्ति-भेद नहीं

१ जैनेन्द्र कुमार 'व्यर्थ प्रयत्न' (कहानी)

२ जैनेन्द्र ने इस ब्रह्म को विश्वास और उपासना का विषयमात्र न रहने देकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप में इसकी वैयक्तिक और अकाट्य व्याख्या की है, जो उनकी सबसे बड़ी देन है।

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० १६।

(उपोद्घात में—वीरेन्द्रकुमार गुप्त)

३ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ५३।

होता, किन्तु अहन्ता भेद-भाव मूलक है। आत्मता आन्तरिक चेतना है, किन्तु उसे सक्रिय होने के लिए अहन्ता का आश्रय लेना पड़ता है और अहन्ता भी आत्मा के अवलम्ब पर स्थिर है। जैनैन्द्र ने अहन्ता और आत्मता को एक-दूसरे की सापेक्षता में स्वीकार किया है। उनके अनुसार आत्मता ही सत्य और स्वीकार्य है। आत्मोपलब्धि में स्वचेतना ही प्रधान नहीं होती। वरन् 'स्व' में 'पर' में उन्मुखता की प्रेरणा विद्यमान होती है। 'स्व' को हम 'पर' में ही प्राप्त कर सकते हैं। 'अपने को पा जाना, सब को पा जाना है। * * * इसलिए आत्मोपलब्धि कोई वैयक्तिक आदर्शमात्र नहीं है, वह एक ही साथ सामाजिक और समष्टिपरक है।'^१

जैनैन्द्र के कथा-साहित्य में आत्मा का स्वरूप अखण्ड अथवा समग्र रूप में स्वीकार किया गया है। उन्होंने अहता और आत्मता का लौकिक व नैतिक अर्थ न ग्रहण करके उसे वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट किया है। जैनैन्द्र के अनुसार अहन्ता अर्थात् अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अश का समग्र व्यक्तित्व।^२ व्यक्ति अपने-अपने ग्रहबोध से समग्रबोध की ओर उन्मुख होता है। जैनैन्द्र की आत्मपरक नीति इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

ग्रह सदैव कर्मरत है। भाग्य व्यक्ति की कर्म-तत्परता में बाधक नहीं होता। भाग्य व्यक्ति के कर्मों का निर्णायक है। व्यक्ति होनहार के हाथ में है। भारतीय दर्शन में कर्मानुसार पुनर्जन्म हो जाता है। जैनैन्द्र की कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा परम्परागत भारतीय दार्शनिकों से भिन्न है। उनके अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा परमात्मा में समाविष्ट हो जाती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वही आत्मा अपने पूर्व कर्मों को साथ लेकर शरीर धारण करती है। मृत्यु के बाद कर्म, क्षितिज में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस प्रकार बूद समुद्र में मिलकर अस्तित्वहीन हो जाती है। इस दृष्टि से कर्म का कोई महत्व नहीं रहता और जन्म जन्मान्तर तक शुभ कर्मों द्वारा उत्तरोत्तर मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न भी निर्मूल्य हो जाता है। जैनैन्द्र कर्म के सम्बन्ध में यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति के कर्म अन्तरिक्ष में समाहित होकर व्यक्ति के न रहकर समष्टि के भी हो जाते हैं। इस प्रकार अपने कर्मों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी नहीं होता, वरन् उसे समष्टि के प्रति भी उत्तरदायी होना पड़ता है। इसलिए उसे अपने पाप-पुण्य के प्रति अधिक सतर्क रहना पड़ता है।

१ जैनैन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ६१।

२. जैनैन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० २० (उपोद्घात—वीरेन्द्रकुमार गुप्त)

जैनेन्द्र ने अपने कथासाहित्य में पुनर्जन्म को अनिवार्यरूप से स्वीकार किया है। उन्होंने उपन्यास और कहानियों में पुनर्जन्म पर तात्त्विकरूप से विवेचन तो नहीं किया है, किन्तु मृत्यु के बाद जीवन के द्वार को बन्द नहीं मानते। उनके अनुसार जन्म-मृत्यु का क्रम सतत् चलता रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु के अनन्तर जन्म की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभु नाम का विशिष्ट व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मों के सहित पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैनेन्द्र की पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा परम्परागत भारतीय दार्शनिकों से भिन्न है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि यद्यपि अन्य मान्यताएँ भी स्वीकार्य हो सकती हैं, किन्तु वे भी व्यक्तिगत अभिमत मात्र ही हैं, उन्हें परम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र अपनी पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता को तर्क और द्रष्टान्त के द्वारा पुष्ट करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने पुरुषाय को बीच की स्थिति माना है। जन्म और कर्म के मध्य व्यक्ति की सन्धिता ही पुरुषार्थ है किन्तु पुरुषार्थों के लिए भाग्य का सहारा अथवा ईश्वर के पति विश्वास होना आवश्यक है, क्योंकि कोरा पुरुषार्थ निराशा के क्षणों से पुनः शक्ति प्राप्त करने की क्षमता नहीं देता, जब कि प्रभु द्वारा व्यक्ति पुरुषाय की पराजयता को भाग्य का परिणाम मानकर असन्तुष्ट नहीं होता। जैनेन्द्र की भाग्य सम्बन्धी विचारधारा आस्तिकता में मण्डित है।

निष्कर्ष

जैनेन्द्र के साहित्य का पूर्णरूपेण अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका साहित्य स्वानुभव की भूमिका पर आधारित है। हृदयगत अतिशय वेदना ही साहित्यरूप में अभिव्यक्त हुई है। वे स्वच्छेदना से पराजित या उपन्यासकार नहीं हुए। परिस्थितिगत विवशता ही उनके लेखन की प्रेरक बनी। अतएव उन्होंने आम-पास के जीवन को ही अपनी अनुभूति का पुट देकर चित्रित किया है। उन्होंने जीवन के शाश्वत प्रश्नों का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्रदान किया है। चिरन्तन प्रश्नों के मध्य उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से प्रवेश किया है। उनकी बौद्धिक सूक्ष्मता व्यक्तिगत चिन्तनशीलता का ही परिणाम है। उन्होंने कभी भी ज्ञानवर्धन के हेतु शास्त्रीय पुस्तकों का अध्ययन नहीं किया। उनकी गहन चिन्तन में अभिरुचि नहीं थी। जीवन में घटित घटनाओं में उन्होंने तब दर्शन की झलक प्राप्त की है। धर्म, समाज, मनोविज्ञान आदि किसी भी विषय का उन्होंने अपनी समुद्धि के द्वारा विवेचन किया है। सत्य को जीवन से आत्मसात् करके देखने के कारण उन्हें जीवन से बाहर सत्यान्वेषण की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने जीवन के विभिन्न पक्षों का विशद् विवेचन किया है। उनका जीवन-दर्शन किसी पक्ष-विशेष का ही पोषक नहीं है। उन्होंने जीवन की विविधताओं के मध्य सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। ईश्वर को स्वीकार करते समय वे जीवन की सामान्य घटनाओं की उपेक्षा नहीं करते। क्योंकि जीवन की सार्थकता तो ससार में रहकर ही पूर्ण होती है। अतएव जैनेन्द्र ससार में रहकर ही जीवन को ईश्वरमय बनाना चाहते हैं। उनकी आस्तिकता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के साहित्य और दर्शन को चार खण्डों में विभाजित करके स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—(१) ईश्वर, (२) जीव, (३) अध्यात्म, (४) राष्ट्रीय जीवन की समस्याएँ और बाह्य प्रभाव।

जैनेन्द्र राष्ट्रीय जीवन की विविध समस्याओं के प्रति बहुत ही सजग रहे हैं। समाज, देश, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता से उत्तरोत्तर वे विश्व-बन्धुत्व की भावना की ओर ही उन्मुख होते जा रहे हैं। धर्मनिरपेक्षता, भाषा, विदेश नीति, निग्रह, यौद्योगीकरण की नीति का उन्होंने विशद् विवेचन किया है। मार्क्सवाद, पृजीवाद, कम्युनिज्म, समाजवाद आदि विभिन्नवादों के सम्बन्ध में अपने विचारों को वैचारिक निबन्धों में प्रस्तुत किया है। 'समय और हम' उनकी ऐसी रचना है, जिसमें उन्होंने देश-विदेश की विभिन्न नीतियों को भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया है। भारतीय संस्कृति और राजनीति का उनके साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। उनका सैद्धान्तिक विवेचन उनकी वैचारिक रचनाओं में प्राप्त होता है, किन्तु उन सिद्धान्तों को उन्होंने मानव जीवन के सन्दर्भ में अपने उपन्यास और कहानियों में दर्शाया है। 'सुखदा', 'विवर्त', 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' में विशेष रूप से राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

जैनेन्द्र की समस्त विचारधारा के मूल में मानव-नीति ही मुख्यरूप से विद्यमान है। मानव-हित की सापेक्षता में ही वे किसी भी मत या आदर्श को ग्रहण कर सके हैं। उनके जीवनादर्श पर महात्मागांधी की अहिंसात्मक नीति का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। गांधी की अहिंसा-नीति मात्र जीव-अहिंसा के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त नहीं हुई है, वरन् उसे व्यापक अर्थों में जीवन के विविध परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया गया है। देश-विदेश की पारस्परिक मित्रता, सौजन्य तथा एक-दूसरे के कष्ट में होने की भावना के मूल में भी उनकी अहिंसात्मक दृष्टि ही विद्यमान है।

जैनेन्द्र पर जैन दर्शन का प्रभाव भी पूर्णतः लक्षित होता है। जैन धर्म जैनेन्द्र का स्वधर्म है। अपने साहित्य में उन्होंने यत्र-तत्र इस सत्यता की ओर

प्राण आकृष्ट भी किया है तथापि वे किसी भी धर्म और सम्प्रदाय से पूर्णतः बंधे नहीं हुए हैं। उनकी मान्यता सार ग्रहणी प्रतीत होती है।

जैनेन्द्र के ईश्वर सम्बन्धी विचार



ईश्वर के अस्तित्व का बोध

‘जिसके बारे में हम कुछ नहीं बता सकते, उसके बारे में चुप रहना चाहिए ।’ विलग्नस्तीन की यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर पूरी तरह सही उतरती है, तब भी मानव की बुद्धि और उसकी वाणी ईश्वर के विषय में कभी भी निष्क्रिय नहीं रही ।^१ सृष्टि की व्यापकता, व्यवस्था तथा निरन्तर जन्म-मरण के क्रम को देखते हुए मानव-मन में सदैव यह जिज्ञासा रही है कि इस समस्त दृश्य जगत् के पीछे कोई परम सत्ता अदृश्य रूप से अवश्य कार्य कर रही है । सूर्य का प्रकाश, दिन-रात का क्रमिक आगमन एवं विगट् प्रकृति ही उस परम सत्ता की अभिव्यक्ति है । आस्थापरक मनीषियों ने परमसत्ता के अस्तित्व को अपनी हार्दिक श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ही स्वीकार किया है । उन्हें अपने परमेश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क का सहारा नहीं लेना पड़ा । उनकी दृष्टि में ‘ईश्वर है’ और वही एकमात्र शक्ति सम्पन्न है, इस विश्वास के सम्मुख सारे तर्क और बौद्धिक बागजाल मिथ्यावाद का पोषण करते हुए प्रतीत होते हैं । विश्वासी के समक्ष ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता । भौतिकता-वादी विचारक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं । उनकी दृष्टि में ईश्वर इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए ईश्वर नाम की किसी परम सत्ता का प्रश्न ही

नहीं उठता। सृष्टि के समस्त क्रिया-कलापों का सिवाय प्रकृति के और कौन कारण हो सकता है।^१

जैनेन्द्र की आस्तिकता

जैनेन्द्रजी परम आस्थावान्, विचारक और लेखक हैं। उनका समग्र जीवन और साहित्य ईश्वरीय आस्था और प्रेम के रंग में रंगा हुआ है। उनकी आस्तिकता ही उनके साहित्य की आत्मा है, जो विषम से विषम स्थिति में भी व्यक्ति को टूटने नहीं देती। अपने जीवन की विषम स्थितियों की विभिन्न खाई-खन्दों को पार करते हुए ही वह आज साहित्य के माननीय स्थल पर आसीन है। लेखक के जीवन का ही अधिकांश साहित्य में अवतरित होता है। अपने जीवन की सत्यता को वह परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से कहीं-न-कहीं अवश्य ही रूपायित कर देता है अथवा उसकी आत्मा में अन्तर्भूत सत्य स्वयं भी यत्र-तत्र पकट हो उठता है। जैनेन्द्र के साहित्य में व्याप्त आस्था, समर्पण और निरभिमानिता तथा भाग्यवादिता के मूल में उनकी ईश्वर परायणता की पर्याप्त भावना दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र मानते एक साधारण और साहित्य उनकी मानना का प्रमुख अंग है। साहित्य ही उनकी भाव विभोरता की अभिव्यक्ति का उपादान बना है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की रचना उन्होंने साहित्य-जगत् में योगदान देने की अभिलाषा से न परंतु स्वानुभूति की अभिव्यक्ति या ईश्वर-उपासना के रूप में की है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में ईश्वर को तर्क या विवाद द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता। विवाद में 'मैं' की पुष्टि होती है, हमारी आस्तिकता भी नहीं। आस्तिकता तो निर्विवाद तथ्य है। ईश्वर को प्राप्त करना ही मानव की याकाक्षा भ्रम नहीं है, क्योंकि अनादि काल से यह जिज्ञासा प्रबल चल रही है। यदि ईश्वर की खोज मानव का पागलपन होती तो कभी उसनी दूर तक टिक नहीं सकती थी। 'हा, जो आस्तिकता टूट जाती है, वह आस्तिकता ही नहीं।' — अहं के रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। ईश्वर द्वन्द्व में नहीं है, वह तो दो के बीच ऐक्य में है अथवा 'मैं' से विसर्जन में है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'बूढ़ जब समन्दर में मिल जायगी तब सवाल ही कुछ नहीं रहेगा। पर यो बूढ़ चाहे कितनी फैले, कितनी ही फूले समुद्रता उसके लिए अप्राप्य ही

१ डा० राधाकृष्णन 'भारतीय दर्शन', दिल्ली, १९६६, पृ० २२८ (संबन्धितात संग्रह २५)

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रस्तुत प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० १०८।

बनी रहेगी।^१

ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि

ससार मे यदि कुछ नित्य, अनन्त और निर्विकार है तो वह ईश्वर अथवा ब्रह्म ही है। पाश्चात्य दार्शनिकों की ब्रह्म सम्बन्धी विविध मान्यताएं प्रचलित है। किन्तु सबकी दृष्टि मे परम सत्ता एक ही है अनेक नहीं है। धर्म, सभ्यता और सभ्यता के वैभिन्न्य के कारण ईश्वर के अनेक नाम और रूप है, किन्तु सब कुछ एक को सूचित करते है। चाहे उसे ईश्वर कहे या ब्रह्म, गॉड कहे या खुदा। इस्लाम धर्म अनेक देवी-देवताओं का कट्टर विरोधी है। आस्तिक विचारकों के अतिरिक्त नास्तिक अनीश्वरवादी होते हुए भी यह मानते है कि एक परम सत्य अवश्य है और उस सत्य को जानने की जिज्ञासा हममे सदैव बनी रहती है। आधुनिक वैज्ञानिकों मे भी किसी अदृश्य रहस्य के उद्घाटन की ही प्रबल आकांक्षा है, जिससे वे तल तक पहुंच कर यह देखना चाहते है कि वहां क्या है ? नास्तिक के लिए सत्य सहज स्वीकार्य है। किन्तु वैज्ञानिक उसे नकार कर भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करने की स्थिति मे ही पहुंचना चाहता है, किन्तु उसकी जिज्ञासा का कहीं अन्त नहीं है। चाद तक पहुंचने के प्रयास मे उसकी यही इच्छा छिपी हुई है कि देखे चाद मे क्या है ?

वस्तुतः दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही सत्य की खोज मे है। एक मे जिज्ञासा और अनुभूति है, दूसरे मे बुद्धि और तर्क द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न है। वैज्ञानिक बुद्धि और तर्क को सामने उपस्थित कर देना चाहता है, किन्तु दार्शनिक सबुद्धि द्वारा सत्य के स्वरूप और उसके अस्तित्व का अनुभव करता है। प्रत्यक्ष दर्शन और विज्ञान का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति होते हुए मार्ग भिन्न है। किन्तु आज समय की माग यही है कि दोनों के मार्ग की गहरी खार्ई पट जाये। अर्थात् उन दोनों मे एक-दूसरे को मिथ्या और निरर्थक सिद्ध करने की भावना न हो, वरन् कर्म की दृढता और उसमे विश्वास की प्रगाढ़ता हो।

साहित्य वह भूमि है, जिस पर समस्त विभेद अथवा पार्थक्य को ऐक्य की दिशा का ऐसा निर्देश प्राप्त हो सकता है, जो व्यावहारिक जीवन के हेतु उपयुक्त हो। साहित्य जीवन की कला है। जैनेन्द्र आस्थावान दार्शनिक है। उन्होंने वैज्ञानिक विवेक सम्मत बुद्धि को स्वीकार करते हुए भी परमेश्वर के सन्दर्भ मे आस्था का ही आचल पकड़ा है। अपनी हार्दिकता को वे किसी भी पल छोड़ ही नहीं पाते। विश्वास को छूटता हुआ देखकर सम्भवत वे अपने

जीवन को ही विनष्ट होता हुआ देखते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जब से उन्होंने साहित्य सृजन का मार्ग अपनाया तब से आद्यन्त वे अपने साहित्य में चरम आस्तिक और ईश्वरवादी साहित्यकार और दार्शनिक के रूप में ही दृष्टिगत होते हैं।

दार्शनिक हो अथवा साहित्यकार, प्रत्येक का अपना एक विचार पथ होता है जिस ओर वह सतत् गतिशील होता है। विचार व्यक्ति के समासों के ही परिणाम समझे जा सकते हैं। जैनेन्द्र यद्यपि जन्म से जैनी है, तथापि भारतीय सभ्यता के विविध अंग-उपांगों से वे पूर्णतः तटस्थ नहीं हैं। उनके विचारों पर वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि में निहित ईश्वरीय आस्था की पूर्ण झलक स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। वैदिक काल में एक परम सत्य की नाता देवी-देवता के रूप में पूजा और अर्चना दृष्टिगत होती है। उपनिषदों में भी ईश्वर की सर्वव्याप्ति पर प्रकाश डाला गया है। ईश्वर सर्वव्याप्त है, तथापि वह उतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियगम्य नहीं हो पाता है। ब्रह्म की सूक्ष्मता और गहराई उसको अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकती। जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म के गुणों का अन्त नहीं है। नेति नेति उस प्रकार का विशेषण ब्रह्म की अनन्तता को ही द्योतित करता है।

जैन दर्शन

जैन दार्शनिकों की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा वेद और उपनिषदों से भिन्न है। जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। तीर्थंकर ही जैनियों के सर्वज्ञ हैं।^१ तीर्थंकर यह हैं, जिसने अपने समस्त पूर्व कर्मों को नष्ट करके सामाजिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वरवादी विचारकों से ब्रह्म के सदृश्य स्थान प्राप्त करता है।^२ तीर्थंकर अन्य लोगों के लिए आदर्श के पात्र होते हैं। जैनियों का तीर्थंकर सिद्ध अथवा गृह्यत उपनिषदीय ब्रह्म के ही समक्ष है। हा, जैनियों का ईश्वर मृष्टि का संचालक अथवा विनाशक नहीं है।^३

१ राहुल सांकृत्यायन 'दर्शन दिग्दर्शन', १९४७, उलाहाबाद, पृ० ३०, ३८६, ४१०।

२ प० एन० उपाध्याय 'दि जैन कनसेप्शन आफ डिवाइनिटी', १९६८
BILTR A' GLZUR GESTE SGCHIGHI INDIAN-
SHESICH RIET FUR ERICH FRAUW ALLNER
Pg 390

३ वही, पृ० ३९०-३९२।

पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी एक परम सत्ता को स्वीकार किया है। अन्तर यह है कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने अधिकांशतः सत्य को सिद्ध करने के लिए तर्क और बुद्धि का सहारा लिया है। ब्रेडले ने 'परम सत्य' को अनुभव-गम्य रूप में स्वीकार किया है।

आधुनिक विचारों की आस्तिकता

आधुनिक युग के भारतीय दार्शनिकों और विचारकों ने भी एक सत्य की सत्ता स्वीकार की है। स्वामी विवेकानन्द, परमहंस, रविन्द्रनाथ टैगोर, डॉ० राधाकृष्णन, गांधीजी आदि महान विभूतियों ने ईश्वर के अस्तित्व को श्रद्धा और विश्वास के आधार पर स्वीकार किया है। विभिन्न पाश्चात्य भारतीय प्राचीन तथा आधुनिक दार्शनिकों के सन्दर्भ में जैनेन्द्र आध्यात्मिकता तथा विज्ञानवाद के संधिस्थल पर खड़े आस्था-परक दार्शनिक हैं। यद्यपि जैनेन्द्र साहित्यकार हैं और उन्हें परम्परागत दार्शनिक परम्परा में विवेचित करना असंगत प्रतीत होता है तथापि जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्त दार्शनिकता को समझने के लिए उपरोक्त विविध दार्शनिकों का वैचारिक दृष्टिकोण जानना अनिवार्य था। दर्शन के क्षेत्र में विवेकानन्द ने आधुनिक युग में सर्वप्रथम भौतिक और आध्यात्मिक जगत में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु साहित्य-जगत् में हमें वही प्रयत्न जैनेन्द्र द्वारा दृष्टिगत होता है। दर्शन जीवन का संद्धान्तिक पक्ष है तो सम्भवतः साहित्य उसका व्यापारिक पहलू है। साहित्य के जीवन्त पात्रों में जीवन के सत्य अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक रूप में घटित होते हुए दृष्टिगत होते हैं।

जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर है और वही सब कुछ है। शेष सब उसी के होने की प्रतीति है। समस्त मानवीय क्रियाओं तथा जडजगत का प्रेरक भी एकमात्र ईश्वर ही है। जैनेन्द्र की आस्तिकता उनके भावात्मक जीवन की आधारशिला है। उनकी रचनाओं के पात्र परम आस्तिक और भाग्यवादी हैं। 'समय और हम' उनकी एक विचारपूर्ण दार्शनिक कृति है। उसका प्रथम प्रश्न ही ईश्वर के अस्तित्व तथा आस्तिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैनेन्द्र की नवीनतम कृति जो अभी अप्रकाशित है, उसमें उन्होंने अपने ईश्वर और तत्संबंधी विचारों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसकी पुष्टि उनके सृजनात्मक साहित्य में सहज की उपलब्ध हो जाती है।

सृष्टि है इसलिए उसका सृष्टा भी है

जैनेन्द्र की दृष्टि में इस विराट् सृष्टि को चलाने वाला शान्त व्यक्ति

नहीं है, वरन् कोई असीम सत्ता है। 'होनेहार' द्वारा ईश्वर के अस्तित्व की ही सृष्टि होती है। उनकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड को आदमी नहीं चला रहा है। जगत-गति जिस नियम से चल रही है, वह निश्चय ही उस वरती नाम के ग्रह पर मनुष्य नाम का प्राणी नहीं है।^१ वरन् उसका सृष्टा परमेश्वर है। जैनेन्द्रजी सृष्टि को मानने के कारण सृष्टा को भी मानते हैं।^२ विराट् प्रकाश की अनन्त क्रियाओं में सूर्योदय और सूर्यास्त नदी के सतत् प्रवाह काल की अनन्तता के मूल में ईश्वरीय शक्ति ही विद्यमान है, जो कि समस्त प्रकाशगत कार्यों में एक अन्विति और सातत्य को उत्पन्न करती है।

ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता

बुद्धिवादी विश्लेषणात्मक दृष्टि द्वारा ईश्वर को अखण्ड रूप में स्वीकार करने में असमर्थ होते हैं। तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ विचारक ईश्वर के होने में ही सन्देह करते हैं। जैनेन्द्र की तो यह आस्था है कि यदि 'अस्ति' शब्द किसी के लिए प्रयुक्त हो सकता है तो वह एकमात्र ईश्वर है। 'हे' की अनन्तता में केवल ईश्वर ही समाया गया है। नीति नेति कहकर भी उसके अस्तित्व को ही स्वीकार किया गया है। 'कल्याणी' में नीति नेति द्वारा सत्य से इन्कार नहीं, वरन् स्वीकार पर बल दिया जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार परमतत्त्व के लिए नीति से सही परिभाषा दूसरी नहीं हो सकती। उनकी दृष्टि में नीति में तत्त्व कुछ नहीं है, उसमें अर्थ है तो यह अर्थ है कि मानव-भाषा अपूर्ण है। और जो ज्ञात है ज्ञातव्य सदा उसमें गाय है। जो है वह नकार नहीं है। परमात्मा इन्कार तनिक भी नहीं। वह सब का सर्वथा स्वीकार है।^३

अनन्तर में जैनेन्द्र के इन्हीं विचारों की स्पष्टतः भूलक मिलती है। उनकी दृष्टि में ईश्वर अखण्ड ब्रह्म है तथा बुद्धि की पहुँच से पर है। अतः जानने के द्वारा हम उस जान नहीं सकते। उसीलिए अज्ञेय और अदृश्य को जानने और शब्दों में व्यक्त करने की चेष्टा में व्यक्ति की अहता का आग्रह ही दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर व्यक्ति की चर्चा का विषय नहीं बन सकता। अस्तित्व स्वयं में प्रश्न नहीं होना चाहिए। प्रश्न होता है जब

१ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० ६०।

२ 'मैं आस्तिक हूँ और सृष्टि को मानने के कारण सृष्टा को भी मानता हूँ।'
--जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० ३६४।

३ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० ६८।

अस्तित्व में प्रलग होते हैं और हम सब अलग ही हैं। अस्तित्व की जगह हम अस्मित्व हैं।^१ परन्तु तब ईश्वर अखण्ड इकाई है। ईश्वर को लेकर प्रश्न तो हमारा 'म' भाव के कारण ही होता है, अन्यथा तो ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद ही है। मनुष्य परमेश्वर को मानकर स्वयं से छुटकारा पाना चाहता है, किन्तु ईश्वर का मानने में नाना मान्यताएँ फलित होती हैं। विविध मान्यताओं के कारण ही ईश्वर की अखण्डता पर आघात होता है। अतएव जैनान्द्र ईश्वर सम्बन्धी मत मान्यताओं को उचित नहीं समझते। उनकी दृष्टि में ईश्वर चर्चा का विषय नहीं है। इसलिए इस सन्दर्भ में उन्हें भटकना भी नहीं पड़ता। जैनान्द्र ईश्वर को जानने के यत्न में व्यक्ति की अहता के ही दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का यह सोचना कि 'मैं ईश्वर को जान सकता हूँ' कोरा मिथ्यावाद है। बूढ़ भला कब सागर को जान सकती है। बूढ़ तो केवल समुद्र में समाकर 'प्रसिम' को 'अस्ति' में खोकर ही पा सकती है, इसी प्रकार मनुष्य ईश्वर में खोकर ही उसका अनुभव कर सकता है। ईश्वर साक्षात्कार के लिए सारा जीवन नहीं, बरन् अन्तर्दृष्टि अर्थात् प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। सहज ज्ञान के द्वारा ही हम उसका अनुभव कर सकते हैं। ईश्वर की प्राप्ति हृदय की पालन मर्यादा में होती लगाने से ही होती है। तर्कवाद द्वारा अनास्था की तो प्राप्ति नहीं होती। श्रीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अन्तर्दृष्टि पर बल देते हुए स्वीकार किया है कि जिस सहज ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि से हम ईश्वर को देख सकते हैं, वह मन की दृष्टि में नहीं प्राप्त हो सकती।^२ बुद्धि उस दैवी रहस्य की 'पा' नहीं हो सकती।

जैनान्द्र की तर्कसूच्य आस्था

जैनान्द्र ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न में स्वयं को उलझाते नहीं हैं। वे परमेश्वर अस्तित्व का अस्तित्व प्रकाट्य है, क्योंकि उस परम शक्ति के अभाव में हमारा ज्ञान असम्भव और निराधार है। वे बौद्धिक जिज्ञासा द्वारा भी एक परम ज्ञान का प्राप्त करने हैं, जो उनके अत्यन्त ही निकट है। उनकी आस्था ईश्वर के अस्तित्व पर अन्य वस्तुओं की सत्यता को स्वीकार करने में

१. जैनान्द्रनाथ 'मानन्द', दिल्ली, १९६८, प्र० स०, पृ० ८५।

२. नाथ साहाय्यनाथ 'श्रीन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६२, अनु० ज्ञानवती
दरबार, पृ० १०१।

३. नाथ साहाय्यनाथ 'श्रीन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६३, पृ० ९३ (अनु०
ज्ञानवती दरबार)

असमर्थ है। जैनेन्द्र ईश्वर की अनुभूति के क्षणों में इतने विभोर हो जाते हैं कि उन्हें अपने अस्तित्व का भी भान नहीं रहता। वे सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते कि ईश्वर है, वरन् उनका विश्वास है कि वही है।^१ उनका विश्वास है कि नदियाँ सब समुद्र में गिरती हैं इसी तरह विश्वास सब ईश्वर में पटुचता है। विश्वास में हम अपने-आपको छोड़ दे तो ईश्वर के सिवा पटुचन न गिण हमारे पास कोई गति नहीं रह जाती है। यह विश्वास चरम शक्ति के प्रति होता है। यह आवश्यक नहीं कि उस शक्ति का रूप एक ही हो। हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख आदि धर्मों के विश्वास भिन्न हैं, किन्तु इसका कोई अंतर नहीं पड़ता। समस्त विश्वास एक उसी चरम सत्ता में ही समाहित होते हैं। अतः ईश्वर के अस्तित्व के लिए विवाद उठाना निरर्थक है।

विवाद मैं अथवा मेरे मत की स्वीकृति के हठ में से ही प्रादुर्भूत होता है। किन्तु यह अथवा 'मैं' के विसर्जन में भेद या मतवाद की स्थिति नहीं रह जाती। सब आत्माएँ उस परमात्मा की अश मात्र हैं। सब में उसका ही प्रकाश व्याप्त है। जैनेन्द्र के अनुसार जब तक आदमी में तर्क मौजूद है तब तक ईश्वर विवाद और व्यर्थता का विषय ही बना रहने वाला है। अज्ञान का विषय नहीं हो सकता।^२ ईश्वर के प्रति विश्वास रखने के कारण ही व्यक्ति का जीवन भी नाना कठिनाइयाँ सहज ही दूर हो जाती हैं। वह हमें कण्ट देकर कबल मनेत करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का भी यही विश्वास है। उनकी दृष्टि में प्रेम के

१ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ'—सम्पादक शिवनन्दनप्रसाद, दिल्ली, प्र० सं०, १९६६

'वह है, वह है।'

'कहा है ? कहा'

सब कही, सब कही है।

और हम ?

हम नहीं। वह है। पृ० ६३।

'ईश्वर की व्यक्तिगत अनुभूति के साक्षी पूर्व में ही नहीं है। सुकरात और प्लेटो, प्लोटिनस और पोफिरी, आगस्टाइन और दांते तथा अन्य असंख्य व्यक्ति ईश्वर के अनुभव के साक्षी हैं। ईश्वर का अनुभव सृष्टि के आदि से ही लोगों को होता रहा है और वह किसी देश या जाति तक सीमित नहीं है।'

—डा० राधाकृष्णन् 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि', पृ० सं० ५२८।

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८५।

कारण ही परमात्मा कष्ट भेजता है। वस्तुतः ईश्वर का विश्वास आदमी की बड़ी मदद करता है। जैनेन्द्र के पात्र अपने जीवन की विषम स्थितियों में भी ईश्वरीय आस्था का सहारा लिए हुए जीवनयापन करते हैं। आस्था के रहते हुए निराशा अथवा अविश्वास की भावना आ ही नहीं सकती। व्यक्ति को प्रत्येक कर्म के फल में होनहार की प्रेरणा ही दृष्टिगत होती है। 'अधे का भेद' में अधा भिखारी, 'त्यागपत्र' की मृणाल, सुखदा आदि पात्र अपने अन्तर में निहित विश्वास के कारण भी छूटने नहीं पाते। 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में जैनेन्द्र ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'जिसके प्रति अटूट विश्वास और श्रद्धा है, उसके द्वारा निराशा, पराजय मिलने पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है। किन्तु सूक्ष्मता से देखे तो अश्रद्धा और अवज्ञा की यह घोरता विश्वास की टूटन नहीं है, हमारी अपेक्षाओं के टूटने की ही प्रतिक्रिया है।'

अद्वैत दृष्टि

जैनेन्द्र मूलतः अद्वैतवादी हैं। ब्रह्म एक है। हर दो के बीच में एक है। उनकी दृष्टि में द्वैत टिक नहीं पाता। जहाँ द्वैत दृष्टिगोचर भी होता है, वह दो नहीं, वरन् एक ही परम सत्य की अभिव्यक्ति है। एक ही सत्य के दो रूप हैं। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार फल और रस में कोई अन्तर नहीं है।^१ उसी प्रकार ईश्वर के विविध रूपों में भी कोई पार्थक्य नहीं है। हमारी भाषागत सीमा ही भेद उत्पन्न कर देती है अन्यथा परम सत्य एक ही है। जैनेन्द्र की अद्वैतवादी विचार-धारा दार्शनिक क्षेत्र में कोई नवीन देन नहीं है। प्राच्य तथा पाश्चात्य अधिकांश दार्शनिकों में अद्वैत तत्व की ही प्रधानता है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल (२०वीं शती) तक के दार्शनिकों में यही धारा मुख्यतः मान्य रही है। जैन दार्शनिक अनीश्वरवादी होते हुए भी एक ही 'परम सत्ता' (तीर्थाकर) पर विश्वास करते हैं। गीता में वर्णित सर्वोपरि ब्रह्म एक निर्विकार सत्ता है।

जैनेन्द्र की अद्वैतवादी विचारधारा विशुद्ध अद्वैतवादियों की सी नहीं है। यद्यपि वे कहीं भी उपनिषदों के प्रभाव को स्वीकार नहीं करते, तथापि उनके साहित्य में अन्तर्भूत भक्ति-भावना के मूल में उपनिषदीय विचारों की झलक स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। सम्भवतः भारतीय दर्शन के तत्व सस्कारवश यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। भक्ति-भावना से पूर्ण होने के कारण उनके ईश्वर सम्बन्धी विचार पूर्ण

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित) पृ०स० १२६।

२ 'एको सत्यं विप्रा बहुधा वदन्ति'

जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', १९६८, प्र० ६५।

अद्वैतवादी नहीं प्रतीत होते तथापि वे विश्व की अखण्डता, एक ब्रह्म की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करते हैं।

द्वैत सासारिक तथ्य है। ऐक्य आध्यात्मिक सत्य है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही जीवन का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र के अनुसार जीव का अस्तित्व अपने में अद्वैत है। हममें एक-दूसरे की और फिर शेष की आवश्यकता में रहता है। इसलिए तब जीवात्मा का जो अखण्ड चिन्मय स्रोत है, ब्रह्म है, वही है। ऐसा मानकर हमारा जीवत्व खण्डित के बजाय अखण्ड होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में शक्ति का भी यही आशय है। भेद तो ऊपरी माया तक ही परिमित है। उसकी दृष्टि में समस्त चेतन्य से अस्तित्व का, उस अखण्ड ब्रह्म से अभिन्न भाव सबध है। जैनेन्द्र के अनुसार सृष्टि में ब्रह्म और जीव दो सत्ताएँ नहीं हैं। प्रतीति हमें द्वैत की होती है, किन्तु यदि निरा द्वैत ही होता तो प्रतीति तक सम्भव कैसे होती? इसलिए उस अनेक रूप प्रतीति के रहते एकता का प्रत्यय अनिवार्य हो जाता है।^१

‘मैं’ अथवा अलगत्व ही दुःख का कारण है, क्योंकि मेरे ‘मैं’ भाव के रहते हुए ब्रह्म से साक्षात्कार असम्भव है। जब ‘मैं’ मिट जाता है, अर्थात् उसे अपनी अहता का बोध नहीं रहता वह ‘पर’ अर्थात् ईश्वर के रूप में ही गीन रहता है, तभी सत्य की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक जगत में भी द्वैत की अनन्तता सम्भव नहीं है। जगत की साक्ष्यता द्वैत पर आश्रित है, किन्तु जीवन का लक्ष्य अद्वैत की प्राप्ति होना चाहिए। जैनेन्द्र के समग्र साहित्य में यह आदर्श स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। उनकी पात्र सदैव अद्वैत की ओर प्रवृत्त होते हुए दृष्टिगत होते हैं। उनकी दृष्टि में द्वैत द्वन्द्व का मूल है। अतएव द्वैत में पार जाकर ही व्यक्ति शान्ति और सत्य की प्राप्ति कर सकता है। द्वैत से ऊपर अद्वैत ही वह परम सत्य है, जिसे उन्होंने ईश्वर रूप में अभिव्यक्त किया है।

परम अद्वैत जीव के साथ जिस प्रकार एक है, वैसे ही एक है जड़ के साथ भी। ईश्वर की परम सत्ता में द्वैत को अवकाश नहीं है। द्वैत का स्थान हमसे है।^२ जहाँ युद्ध है, दो पक्ष हैं वहाँ भी अभेद की सम्भावना है, क्योंकि लड़ते हुए उनके बीच एक जमीन रहती है, जहाँ वे सधि पर आ सकें।^३

१ जैनेन्द्रकुमार ‘समय, समस्या और सिद्धांत’, पृ० ४४।

२ जैनेन्द्रकुमार ‘समय और हम’, पृ० ४५।

३ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, (भाग १, नई व्यवस्था), १९६२, प्र० सं०, दिल्ली, पृ० सं० १६६।

देवी-देवता मे अविश्वास

ऋग्वेदकालीन अनेक देवी-देवताओं मे जैनैन्द्र का विश्वास नहीं है। जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्होंने सत्य के अनेकान्तिक रूप को स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि मे विश्वास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के अलग-अलग देवता हो सकते हैं, क्योंकि आज भी कोई सूर्य का उपासक है, कोई दुर्गा का तो कोई गणेश का, किन्तु सभी के मूल मे एक ही परम सत्य का प्रकाश विद्यमान है। उसी की शक्ति सब मे व्याप्त है। हमारी भावना विभिन्नता की कल्पना करती है, किन्तु यथार्थ मे एकता ही सत्य है। ज्यो-ज्यो मानव-बोध विकसित होता गया, त्यो-त्यो विभेद को मिटाकर एक परम सत्य की कल्पना जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होने लगी। यही कारण है कि वैदिककालीन अनेक देवी-देवता उपनिषद् और भागवत् काल के एक परब्रह्म के रूप मे ही स्वीकृत हो जाते हैं। जैनैन्द्र ईश्वर के सम्बन्ध मे विभेद को निरपेक्ष रूप से नहीं स्वीकार कर सकते। 'नई व्यवस्था' मे उन्होंने पूर्व की परम्परा और पश्चिम की परम्परा द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध मे व्यक्ति की दूरी को ही व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि मे एक मत दूसरे मत से ऊपर उठने और अपनी सत्यता को प्रमाणित करने मे अधिकाधिक गौरवान्वित हो जाता है। एक ईश्वर को सत्य मानने से सारे विश्वास उसी मे समाकर ऐक्य की प्रतिष्ठा करते हैं किन्तु अनेक देवी-देवताओं को मानते हुए उन्हीं पर भटक जाने मे दृष्टि की सकीर्णता और मतवाद को ही प्रश्रय मिलता है, हृदयगत श्रद्धा और व्यापक दृष्टि विलुप्त हो जाती है।^१

ईश्वर . स्वयंभू

प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर एक है वह एक परम सत्य है तो उस सत्य का क्या स्वरूप है ? क्या वह व्यक्ति द्वारा ग्राह्य हो सकता है। यदि वह निराकार अमूर्त और अनन्त है तो वह सान्त व्यक्ति द्वारा स्वीकार हो पाता है ? क्या ईश्वर की उत्पत्ति हुई है अथवा वह स्वयंभू है ? आदि अनेको प्रश्न जैनैन्द्र के साहित्य मे समाधान ढूँढने के हेतु उठ खड़े होते हैं।

ईश्वर उत्पन्न नहीं हुआ। वह सृष्टि का आदि मूल कारण है, स्वयंभू है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी निश्चित है। जन्म और मरण का क्रम अनिवार्य रूप से चलता है। किन्तु ईश्वर न जन्मता है, न मरता है। वह परम आत्मा है। 'गीता' मे भी स्वीकार किया गया है कि वह कभी नहीं जन्मा और न वह मृत्यु को प्राप्त होता है और चूँकि उसका आदि नहीं, इसलिए अत

भी नहीं है।^१ जैनेन्द्र भी ईश्वर को स्वयम्भू मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'ईश्वर' शब्द की ध्वनि में ही है कि वह पैदा नहीं होता, फिर किसी से पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह केवल है। उस तरह वह अनादि अथवा आदि कारण है, पर कारण ऐसा कि कार्य उससे बाहर हो नहीं सकता।^२ सब कुछ है और उस सब की समष्टि ही ईश्वर है। ईश्वर समग्रता तथा अखण्ड है।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार यदि कुछ है तो उसका कारण अवश्य होगा। शून्य में अस्तित्व की कल्पना निराधार है। इस सिद्धांत के आधार पर हम ईश्वर को प्रकृति से उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। क्योंकि जड़-जगत् असत् है और उसका अस्तित्व भी ईश्वर के अस्तित्व के ही कारण सम्भव है। स्वयं में उसका कोई महत्व नहीं। अतः असत् से सत् (परमेश्वर) की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।^३

ईश्वर को कार्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य होने में उसमें परम तत्व का अभाव हो जायेगा। वह तो आदि है, उसके पूर्व कुछ भी नहीं है। काय-कारण के चक्कर में अनवस्था दोष की संभावना रहती है प्रतीति किसी वस्तु के कारण की खोज अनन्त तक की जायेगी पर फिर भी उसमें समाधान न होगा। अतः मानना होगा कि पृथक् जन्मशील वस्तु की उत्पत्ति किसी ऐसी वस्तु में होती है जो स्वयं अज तथा स्रष्टा है।

ईश्वर का स्वरूप

वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व को जानने के अनन्तर उसके स्वरूप को जानना भी अनिवार्य है। एक ही सत्य दृष्टि-भेद के कारण नाना रूपात्मक प्रतीत होता है। अद्वैतवादी ब्रह्म अरूप है, किन्तु व्यावहारिक जगत् में ब्रह्म को अपने समीप अनुभव करने के लिए उसे स्वरूप प्रदान करना आवश्यक है। ईश्वर रूप, आहार, मानव-हृदय की जिज्ञासा और प्यास का परिणाम है, ब्रह्म उसकी बौद्धिक जिज्ञासा का विषय है। मानव-मन आत्म समर्पण के लिए सदैव उत्सुक रहता है। मानव उसी स्थल पर अपने को समर्पित करना चाहता है, जहां उसे कुछ पान को शेष न रह जाय, अर्थात् उसकी समस्त इच्छाएं स्वयं तृप्त हो जाय। ऐसा परम आश्रय-स्थल ब्रह्म का ईश्वरमय स्वरूप ही है। जैनेन्द्र ने ब्रह्म

१ भगवद्गीता — ३, २, २०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४३।

३ 'भगवद्गीता' — 'ईश्वर शून्य से जगत् का निर्माण नहीं करता, वरन् अपने सत् स्वरूप से करता है।'

को 'ईश्वर' रूप में ही स्वीकार किया है।

जैनेन्द्र प्रत्येक विचार अथवा दृष्टि को सापेक्ष रूप में ही स्वीकार करते हैं। व्यक्तिगत अभिमत को निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति नहीं मिल सकती। जैनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर का स्वरूप किसी दूसरे को छोड़कर कोई एक निश्चित हो नहीं सकता। इसी से ईश्वर ईश्वर है। सुविधा हम सब को है कि अपने मन का स्वरूप उसको पहना ले।'''' उसे रूप में बाधना हमारी ही आवश्यकता है।'' इस प्रकार ईश्वर अनन्त रूपात्मक हो जाता है और पुनः एक ऐसी स्थिति आती है जब सब रूप उसी के हो जाते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर, अल्लाह, गॉड आदि को पृथक्-पृथक् सत्ता मानने में प्रश्न उपास्य का नहीं, उपासक का है। उपासक की निष्ठा ही उपास्य को सत्यता प्रदान करती है। जैनेन्द्र की दृष्टि में यदि सम्पूर्ण समर्पण भाव है तो उपास्य सत्य हो ही जाता है। चित्र उपास्य का कृष्णरूप हो अथवा क्राइस्ट का हो अथवा अन्य किसी का भी हो—यह प्रश्न वृथा है। जो सगत है, वह मात्र उपासक की हृदयगत सत्यता है।

जैनेन्द्र के अनुसार यदि ईश्वर के विशिष्ट रूप के प्रति आस्था सहज भाव में जाग्रत होती है, तब उसमें उपासना की सत्यता पर शका की जा सकती है, किन्तु जब प्रथावश उपासना की जाती है तब वह दबाव के नीचे उपासक में अपनी उपासना से उल्टे भाव पैदा करती है। इस प्रकार के मिथ्याचार से उपासना भी मिथ्या बन जाती है। वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में ईश्वर का स्वरूप चाहे कुछ भी हो उपासक की भावना और भक्ति ही सच्ची होनी चाहिए। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य में पात्रों को ईश्वरीय आस्था के लिए रूप व आकार पर टिकने की आवश्यकता नहीं हुई है। ये प्रतिपल अपने हृदय में ईश्वर के प्रति निष्ठा रखे हुए हैं। अपनी आस्तिकता को पोषित करने हैं। विवाद द्वारा वे भक्ति को खण्डित नहीं करना चाहते। ऐक्य की अनुभूति ही अन्तिम सत्य के रूप में शेष रह जाती है। स्थूल बुद्धि द्वारा निराकार ब्रह्म को समभाग संभव नहीं है, अतएव भाव और श्रद्धा के सहारे ही उसे रूपाकार प्रदान करके ग्राह्य बनाया जा सकता है। भगवद्गीता में कृष्ण का विराट् रूप अर्जुन को ग्राह्य नहीं हो पाता और वह कृष्ण से उनके साकार तथा सौम्य रूप को पुनः देखने के लिए प्रार्थना करने लगते हैं।^१

जैनेन्द्र के अनुसार उपास्य को हम निराकारता के क्षेत्र से मानो उतार कर अपने पास और प्रत्यक्ष लेने की चेष्टा किया करते हैं। परमेश्वर इस

१. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४४।

२. 'श्रीमद्भगवद्गीता' अध्याय ११, श्लोक ४५, गीताप्रेस, गोरखपुर।

प्रक्रिया में अनायास हमारी प्रिय में प्रिय मूर्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। यद्यपि यह सत्य है कि परमेश्वर रूप का रूपाकार में नहीं समा सकता तथापि जैनेन्द्र की दृष्टि में भक्त की भक्ति ही यह अक्षम्य साधना कर पाती है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रिय की प्रत्यक्ष अथवा समक्ष कल्पना करके उपासक की अनुरक्ति और भी बढ़ जाती है। उनकी दृष्टि में प्रेम की प्रगाढ़ता प्रनायास जब उपासना करती है तो उपलब्धि शक्ति सुगम और सुनिश्चित है।^१ ईश्वर का स्वरूप के सम्बन्ध में जैनेन्द्र का ऐसा विश्वास है कि जिसमें अन्तिम और परिपूर्ण विश्वास है वही ईश्वर है। जहाँ सम्पन्न सम्भव हो उसे ही ईश्वर रूप में अभिहित करने में उन्हें कोई बाधा नहीं है। व्यक्ति में जो विश्वास की क्षमता और अनिवायता है और वही पर्याप्त प्रमाण है, विश्वसनीयता की सत्यता।

ईश्वर आनन्दस्वरूप

जनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर आनन्दस्वरूप है।' आनन्द का तत्त्व न हो तो जीवन ही सम्भव नहीं है। हा, दुःख कोश भी उसे अनुभव होता है। इसका कारण स्वयं अज्ञ में अज्ञता की अनुभूति है। वह अनुभूति दुःखमय शोचनी होती है कि उसके आधार में पूर्णता में विद्योह है। फिर भी जगत स्वयं आनन्द का स्फूर्ति है। जैनेन्द्र की दृष्टि में प्राकृतिक सुगम में भी ईश्वरीय आत्मा के ही दर्शन होते हैं। उनके अनुसार - 'अज्ञ अज्ञी का पृथक् भाव जब कि वेदना का बोध देता है। तब उसके अभाव और संयोग भाव में एक साथ प्रसाद की अनुभूति खिल उठती है। कारण, अतः प्रकृति में जीवन सन्निधानन्द स्वरूप है। व्यक्ति समष्टि में अलग नहीं है। अलग की प्रतीति होते ही अपूर्णता और विकृतियाँ दीप्त होने लगती हैं।' जैनेन्द्र की उपरोक्त विचारधारा ही उनके साहित्य का मूल स्वरूप है। उनके साहित्य में समाहित पीड़ा अथवा वेदना का प्रमुख कारण अज्ञत प्रतीति ही है। जैनेन्द्र के अधिकांश 'म' का बोध होते हुए समर्पण के लिए पर्यत्नशील दृष्टिगत होते हैं। 'म' अथवा 'स्व' को 'पर' में विलीन करके वे एकमात्र परम सत्य अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। जगत में उनका द्वैत अर्थात् ईश्वर से वियोग बना रहता है। वे पीड़ा में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, किन्तु उनमें सदैव ईश्वर के गमक्ष

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धांत', पृ० ४६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धांत', पृ० ४८।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धांत', पृ० ४८।

४ वही।

समर्पित हो जाने की उत्कट लालसा दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के पात्रों की ग्रहशून्यता के मूल में उनकी ईश्वरीय आस्था के ही दर्शन होते हैं। इसीलिए जैनेन्द्र ईश्वर के प्रेममय रूप को ही स्वीकार करते हैं।

सत्य ही ईश्वर

गांधी के अनुसार 'सत्य ही ईश्वर है।' सत्य निर्व्यक्तिक तथा निराकार है। वह हमारी भावना का विषय नहीं बन सकता। यद्यपि गांधी जी का यह विश्वास अदार्शनिक सत्य तथा उपयोगी है कि सत्य के ऐक्य में साम्प्रदायिक विवाद की पश्रम रही है। क्योंकि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी एक परम सत्य को स्वीकार करते हैं। परम आस्तिक ही नहीं नास्तिक भी सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। सत्य स्वयं अकाट्य है। वस्तुतः बिना किसी द्वन्द्व के समस्त मतवादों की धारा नदी के सदृश्य सत्य-सा सागर में समाहित हो जाती है। किन्तु 'ईश्वर' को सत्य कहने पर हिन्दू धर्म का ईश्वर ही सत्य सिद्ध हो पाता है और नास्तिक तथा आस्तिक गाड़ और खुदा आदि की सत्यता विवादास्पद हो जाती है। यही कारण है कि गांधी जी ने सत्य को ही ईश्वर माना।^१ यद्यपि जैनेन्द्र को यह सत्य स्वीकार है, किन्तु सत्य ही ईश्वर है, ऐसा मानकर वे ईश्वर को निर्व्यक्तिक नहीं रहने देना चाहते। ईश्वर मानव की आवश्यकताओं का पूरक है। उसे रूप देकर रूप में प्रतिष्ठित करके हम उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर सकते हैं। समर्पण के अभाव में ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। 'स्व' का विगलन ही ईश्वर प्राप्ति का वास्तविक मार्ग है। सत्य को ईश्वर मानने में ग्रह का प्रश्न नष्ट रहता है। राम का मूर्ति रूप प्रतिष्ठित स्वरूप हमें सहज ही गानन्दमय बना देता है। श्रीमद्भागवद् गीता का ब्रह्म भी ईश्वर रूप में इसी प्रकार परिगणित हो गया है। जैनेन्द्र के द्वारा ब्रह्म को ईश्वर रूप मानने तथा उसे भक्ति प्रेम आदि का विषय स्वीकार करने में श्रीमद्भागवद् गीता का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में जैसे-जैसे उस मूर्त और सगुण में एकात्मता पाने की चेष्टा होगी, वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त, मूर्त अमूर्त और सगुण निर्गुण बनता जायगा। साधना साधक को आकार का सहारा देकर निराकार में उठती ही जायेगी।^२ जैनेन्द्र के अनुसार भक्त की भावना प्रियतम में मूर्तित हो

१. महात्मा गांधी 'दि वायस आफ ट्रुथ', १९६८, ग्रहमदावाद—'ट्रुथ इज गॉट नथिंग टु डू नथिंग एल्स' ... ६७।

२. महात्मा गांधी वही, पृ० ६६।

३. जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त'—(अप्रकाशित)।

जाती है। भक्त अपनी भावना के अनुकूल ही ईश्वर को रूप पदान करता है। तुलसी, मूर की भाव सघनता राम, कण्ण को अनायस ईश्वर बना देती है, परन्तु यदि वे तर्क पद्धति से ऐसा करना चाहते तो संभव न होता। वस्तुतः जैनेन्द्र अपने साहित्यिक क्षेत्र में दार्शनिक होने के साथ ही साथ भक्त और ईश्वर के अनन्त उपासक भी है। भवितकालीन मूर, मीरा और तुलसी के मध्य उनका हृदय भी आत्मसमर्पण के लिए विकृत होता हुआ दृष्टिगत होता है। 'साधु का हठ' कहानी दृष्टि में साधु की अतिशय विनम्रता और अहंशून्यता जैनेन्द्र के विचारों की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक विज्ञानवादी युग में सगुण साकार ईश्वर के प्रति निष्ठा का अभाव है। बुद्धि की शुष्कता में अहं का प्राचुर्य है। सत्य की खोज में हम अहं का ही पोषण करते हैं। यही कारण है कि आज आस्थाहीन समाज निरन्तर अनीश्वरवादी होता जा रहा है। जीवन में रही भी स्थिरता नहीं है। सबत्र समस्या और उलझाव है। जैनेन्द्र के अनुसार सबका समाधान ईश्वर की प्राप्ति में ही संभव है। उपासना के द्वारा पत्थर की मूर्ति में भी ईश्वरीय शक्ति और स्वरूप के दर्शन होते हैं। किन्तु मूर्ति की उपासना के लिए तपस्या अनिवार्य है। सच्ची श्रद्धा और तत्परता के अभाव में मूर्ति पूजा निष्फला साबित हो सकती है। पूजा का वास्तविक प्रयोजन नहीं पूरा हो सकेगा। एही स्थिति में नास्तिक की कमशीलता उसे नास्तिक से अधिक उच्च श्रेणी का उपासक बना देगी।^१

जैनेन्द्र की दृष्टि में यदि जड़मूर्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति भक्त है तथा ईश्वर के योग्य है तो यंत्रों के साथ अपनी प्रार्थनाशाला में गत-रत रहने वाला वैज्ञानिक भी किसी उपासक से कम नहीं है। किन्तु वैज्ञानिक की उपासना में समर्पण भाव नहीं जाग्रत होता। जैनेन्द्र के अनुसार यदि वैज्ञानिक में 'स्व' मोहन की जगह समर्पण की वृत्ति में तो वह भी नास्तिक से कम नहीं है। किन्तु देखा यह जाता है कि उपास्य के समक्ष उसका मिर नहीं झुकता, प्रार्थना नहीं होती, भक्ति नहीं फूटती।^२ वस्तुतः ईश्वर की प्राप्ति समर्पण में ही सम्भव हो सकती है। निष्कर्षतः यदि यह कहे कि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व भक्त, साहित्यकार और दार्शनिक का समन्वित रूप है तो अतिशयोक्ति न होगी। वे स्वयं को ईश्वर की विराट्ता के समक्ष पराजित हुआ-सा पाते हैं। अपनी इस पराजय को वे अपना

१ जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', दिल्ली, १९५३, प्र० स०, पृ० १६२-१६३।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५१।

सौभाग्य ही समझते हैं। एक स्थल पर तो वे स्वीकार करते हैं कि इस हार को कृतार्थ भाव से मानना सीख गए हैं।

सगुण ईश्वर

जैनेन्द्र के अनुसार परम सत्य व्यक्ति से निरपेक्ष है, इसलिए वह परम सत्य अनुभूति निरपेक्ष है। वह बौद्धिक जनो को तृप्ति दे सकता है। इतर को महान सम्बद्धता चाहिए। इसलिए गांधी का सत्य शेष जनो के लिए ईश्वर अधिक सत्य होगा। गांधी जी उतनी सगुणता सत्य को पहचानने की आवश्यकता नहीं समझते। उन्होंने निर्गुण निराकार रूप में सत्य के प्रति अपना सम्पूर्ण भाव प्रदर्शित किया। इसलिए जब उन्होंने कहा कि ईश्वर सत्य है, कहने की जगह सत्य ही ईश्वर है पर सन्तुष्ट हुए तो उन्हें भगवत् स्थापना को मूर्त रूप प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। जैनेन्द्र के अनुसार निर्गुण निराकार में उपलब्धि अथवा अनुभूति और संवेदन का भाव ग्राह्य नहीं है, इसलिए ईश्वरता से मंडित करके ही उस परम मत् को हम अपने मन के निकट लाते हैं। उस निकटता का माध्यम ही प्रेम अथवा भक्ति कहलाता है। इसीलिए भक्तों ने यहाँ तक कहा है कि हमें भगवान नहीं चाहिए भक्ति ही चाहिए। भक्त के लिए भक्ति ही प्रिय और निकट रहे, यही उसकी कामना होती है। जैनेन्द्र के साहित्य में भगवान और भक्ति की उपरोक्त सत्यता प्रेम में वियोग के स्तर पर दृष्टिगत होती है। उनकी दृष्टि में विग्रह ही वह स्थिति है, जिसमें प्रेम अथवा भक्ति अधिकाधिक घनीभूत होती है। इस प्रकार जैनेन्द्र के अनुसार भगवान् को 'सत् तत्त्व' के तल से उठाकर मानव, दया, अनुभूति में सन्निविष्ट कर लिया जाता है। प्रेम ही भगवान है, यह इसी स्थिति का तथ्य है। जैनेन्द्र के साहित्य में पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति एवं सेवा आदि के भावों में ही भगवत् भक्ति की कल्पना की गई है।^१

ईश्वर . प्रेममय

जैनेन्द्र का साकार और सगुण ईश्वर प्रेममय है। प्रेम ही ईश्वर की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। और उत्तरोत्तर साधन ही साध्य बन जाते हैं। जैनेन्द्र प्रेम को ही ईश्वर मानते हैं। जिस प्रकार गांधी सत्य को ही ईश्वर मानते हैं, उसी प्रकार जैनेन्द्र प्रेम को ही ईश्वर मानते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि 'सत्य' से परे कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वह सत्य में ही समाहित है। तथापि

१ जैनेन्द्रजी से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

सत्य निर्वैयक्तिक होने के कारण ही सहज ही प्राप्त नहीं हो सकता। 'प्रेम' वैयक्तिक तत्व है। 'मूर्ति' ईश्वर प्राप्ति के मार्ग का अवलम्ब है। जैनेन्द्र को तो ईश्वर से भी अधिक प्रेम प्रिय है। 'क्योंकि ईश्वर की एकान्तिक धारणा हो-भी सकती है। उसके नीचे स्वार्थ का सेवन भी हो सकता है, किन्तु प्रेम में सम्भव नहीं है।' ईश्वर के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों में सदैव सघर्ष हात-टुण देखा जाता है। किन्तु प्रेम ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, देश-विदेश और जातिवाद के भेद-भाव को पार करता हुआ अभेद की स्थिति पर ही आसीन होता है। जब कि सासारिक प्रेम किसी प्रकार की सीमा को स्वीकार नहीं करता तो ईश्वर प्रेम के लिए बन्धन की कल्पना ही निरर्थक है। प्रेम तो मुक्त है। वह सबको अपने में समेट लेता है, बाध लेता है। किन्तु बाधकर भी वह मुक्त है। यद्यपि यह विरोधाभास सा प्रतीत होता है कि प्रेम बन्धन भी है और मुक्ति भी, किन्तु सत्य इसी विरोध में समाहित है। दो बंध कर ही एक हो पाने हैं। ऐक्य में ही मुक्ति है। जैनेन्द्र प्रेम के सिवा कुछ भी मानने को तैयार नहीं हैं। प्रेम का अनिवार्य अर्थ है सम्बन्ध। वह बंध जो सबसे युक्त होगा है। प्रेम में द्वैत भाव अहं युक्त नहीं हो पाता। उसमें समर्पण की भावना समाहित होती है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि ईश्वर को प्रेम के रूप में लिया जा सके। वह ही है अन्यथा ईश्वर तक उनकी दृष्टि में सर्वथा और सहज ही अनावश्यक हो जाता है। प्रेम में ही सच्ची शान्ति एवं सुख की अनुभूति हो सकती है।

ईश्वर-प्रेम वियोग प्रधान

जैनेन्द्र प्रेम की सयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा वियोगात्मक स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। वियोग में प्रेम की तीव्रता कम नहीं होती, बरन् और भी द्विगुणित हो उठती है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती तब तक वियोग पक्ष ही प्रधान रहता है। विरह प्रेम में ही प्रेम पलता है। 'जयबन्धन' में जैनेन्द्र जी ने उपासक की उपास्य से दूरी के कारण उत्पन्न त्याग की पराकाष्ठा की ओर इंगित किया है। विरह में - 'भक्त किस शक्ति में हराते-हसते

१ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, प्र० स०, पृ० २६३।

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, प्र० स०, पृ० २६३।

३ प्रेम में इतना निःशेष आत्मसमर्पण हो सकता है कि अनायास ईश्वर भक्ति का फल मिल जाय, बिना ईश्वर को जाने या उसका नाम लिए प्रेम की परिपूर्णता में ताब पा जाने के उदाहरण अनेकानेक मिल जायेंगे।—जैनेन्द्र-कुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८७।

शहीद हो सकता है और हर यातना में भगवान के प्रेम को देख सकता है। तब कष्ट ही उसे भगवान का भोग हो जाता है।^१ जीवन में जैनेन्द्र का ऐसा विश्वास है कि 'हर व्यक्ति उसका ही है, जिसको वह कभी प्राप्त नहीं कर पाता।' जैनेन्द्र के पात्रों के जीवन में लौकिक प्रेम के द्वारा ही अध्यात्म साधना की ओर उन्मुखता दृष्टिगत होती है। प्रेम में लीनता तथा व्यथा का रस ही जीवन की शक्ति बनता है। प्रेम में बाध्यता नहीं होती, वरन् सहजता ही रहती है।

ईश्वरवादी अपने विचारों और मान्यताओं के प्रचारक हो सकते हैं। वे अनीश्वरवादियों के विरुद्ध अपने मत के प्रतिपादन की चेष्टा करते हैं। किन्तु जहाँ आस्तिकता का लक्षण प्रेम है, वहाँ प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ती।^२ 'प्रेम में व्यक्ति मनायास विस्तार पाता है।'^३ जैनेन्द्र की आस्तिकता 'अह' की पोषक नहीं है। इसलिए वे अपने को सुधारक या उद्धारक न मानकर ईश्वर का सेवक मानते हैं। सेवक का कर्तव्य दायित्वपूर्ण होता है। सेवा में ही उसे परम आनन्द की उपलब्धि होती है। जैनेन्द्र के साहित्य में 'पर' की स्वीकृति में ही सेवा के दर्शन होते हैं। एमीलिए जेनेन्द्र आनन्द और दायित्व में कोई विरोध नहीं देखते।^४

प्रेम का आनन्दमय रूप उपनिषदीय विचारधारा के अत्यधिक निकट है। डा० राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन' में उपनिषदों में स्वीकृत ब्रह्म के 'आनन्दमय' सब पर पाठाया वाला है।^५ वस्तुतः जैनेन्द्र का प्रेममय ईश्वर पारस्परिक विचारधारा में पृथक् उनकी कोई भौतिक देन नहीं है।

हमारी पृथ्वी जिन परमाणुओं से बनी है, यदि उसमें उन्हें एक-दूसरे के साथ बाध रखने की शक्ति न हो तो सारी सृष्टि पल भर में विनष्ट हो जाये। उसी प्रकार चेतन प्राणियों को परस्पर बाधने वाली शक्ति का नाम प्रेम है।^६ यदि पारस्परिक प्रेम न हो तो जगत् की ग्रखण्डता नष्ट हो जाय। मानवमात्र का प्रति सद्भावना रखने से ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। रविन्द्रनाथ टैगोर भी प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम को उत्तरोत्तर ईश्वरीय प्रेम में ही परिणत हुआ पाते हैं। 'प्रेमी और प्रेमिका का भेद तब तक बना रहता है

१ सूर की गोपियों का वियोग पक्ष ही अधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी है।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जगवर्धन', पृ० २०७-२०८।

३. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४६।

४. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ४७।

५. डा० राधाकृष्णन् 'भारतीय दर्शन', दिल्ली, १९६६, पृ० १५१।

६. महात्मा गांधी 'यंग इंडिया' ५-५-२०। ५७।

जब तक पूर्ण प्रेम में दोनों एक नहीं हो जाते ।^१ जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में स्त्री-पुरुष अथवा प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर आकर्षण को काम तक ही परिमित न कर उसे उत्तरोत्तर इन्द्रियेतर विषय के रूप में स्वीकार किया है ।

लौकिक जीवन में ईश्वरीय आस्था

जैनेन्द्र की दृष्टि में ईश्वर मात्र व्यक्ति की आवश्यकताओं का ही पोषक नहीं है । वह विज्ञान की विभीषिका से सन्नत मानव के लिए एक समाधान है । विज्ञान ने मानव को चाद तक पहुँचा दिया है, किन्तु पड़ोसी के दुःख-दर्द का अनुभव करने की प्रेरणा नहीं प्रदान की है । बोद्धिकता की प्रगति के साथ-साथ हार्दिकता शुष्क होती गई है । हृदय से शून्य व्यक्ति सदैव अभावग्रस्त बना रहता है । वह अपने अभाव को नशीली वस्तुओं के सेवन से पूर्ण करने का क्षणिक प्रयास करता है । उसकी पशुता समर्पण के अभाव में ग्रहता को पुष्ट करती जाती है । एक ओर विज्ञान के तर्कवाद दूसरी ओर अश्रुतुष्टता भी आधुनिक सभ्यता का दुःसाध्य रोग है । धन के पागलपन ने ही आज समाज में भेद भाव की भावना भर दी है । वस्तुतः जैनेन्द्र की ईश्वर सम्बन्धी विचार-धारा आधुनिक युग के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है । भौतिकता की नवतर्कधर्म में उन्हें ईश्वर एकमात्र अवतम्ब प्रतीत होता है ।

जैनेन्द्र की ईश्वरीय निष्ठा ही सामाजिक प्रेम और व्यवस्था का साधन है । वे प्राणी मात्र में ईश्वर की कल्पना करते हैं । अतः ईश्वर के समक्ष केवल 'स्व' का विसर्जन ही पर्याप्त नहीं है । आत्मा की परमात्मा में एकाकार होने में ही मुक्ति नहीं है, वरन् 'स्व' का त्याग 'पर' के हेतु परमावश्यक है । परहित ही उनके जीवन का मूलदर्श है । ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् सब में अपनी प्राप्ति ।^२ उस प्रकार स्व पर मूलक भेद मिट जाने पर ही ईश्वर की प्राप्ति संभव है । जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम अन्य के सत्कार और स्व के विसर्जन में ही फलित होता है । अपने को मिटाने में ही जीवन की सार्थकता है । जैनेन्द्र प्रतिदिन के जीवन इस प्रकार की विनत भावना के मूल में ही व्यक्ति की आस्तिकता के दर्शन करते हैं ।^३ जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में तथा राजनीतिक, आर्थिक

१ डा० राधाकृष्णन् 'रविन्द्र दर्शन', दिल्ली, १९६३, पृ० ५६-अनु० ज्ञान-वती दरबार ।

२ जैनेन्द्र कुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० २६ ।

३ जैनेन्द्र कुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० ४७ ।

— 'प्रेम से बड़ी आस्तिकता और क्या है ? उस प्रेम के रूप में अद्वैतता और एकात्मकता का प्रमाण क्या हमारे ही भीतर गर्भित नहीं पड़ा है ।'

एव सामाजिक क्षेत्र में 'स्व-पर' के भेद-भाव से ऊपर उठते हुए अद्वैतता अथवा अभेद की प्रतिष्ठापना की है। ईश्वर की उपासना में क्षिणिलता तभी आती है, जब व्यक्ति की वृत्ति स्वार्थपूर्ण हो जाती है। जैनेन्द्र ने जीवन में धर्म पर विशेषरूप से बल दिया है। उनकी दृष्टि में धर्म आस्तिकता अथवा समर्पण का ही प्रतिरूप है। प्रेम और समर्पण के मार्ग में द्वन्द्व की सभावना नहीं रह जाती। जैनेन्द्र के ग्रन्थ में केवल ईश्वर को जानने की जिज्ञासा ही नहीं है, वरन् वे भक्त-कवियों के सदृश्य प्रभु के समक्ष आत्म-समर्पण के हेतु विकल रहते हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान् के समक्ष स्वयं को घोर पापी, दुष्ट और नीचात्मा ही समझता है, उसके इस आत्म-निवेदन के द्वारा उसके व्यक्तित्व को नीचा नहीं समझा जा सकता। भक्त भावातिरेक के कारण ही स्वयं को इतना दीन-हीन मानता है। जैनेन्द्र दार्शनिक है, तथापि उनके साहित्य में अहं से मुक्ति पाने के लिए अतिशय विनम्र निवेदन की झलक स्पष्ट दृष्टिगत होती है। 'साधु का हठ' में साधु की ईश्वर के समक्ष गिड़गिड़ाहट उसकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास की ओर ही दृष्टि करती है।^१ जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास तथा कहानी के पात्रों के माध्यम से ही नहीं, निबन्धों में भी प्रत्यक्ष-रूप से उनकी विनम्रता तथा समर्पण की उत्कट अभिलाषा के दर्शन होते हैं। ईश्वर साक्षात्कार के अभाव में उन्हें अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। उनका हृदय भगवान् में खो जाने के लिए तड़पता रहता है। यही नहीं, उनकी साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी ईश्वर के उपासना का ही अंग है।^२ भक्त के सदृश्य उन्होंने साहित्य के माध्यम से अपने हृदय के उच्छ्वास को ही व्यक्त किया है। ससार के माया-जाल में घिरे रहने के कारण ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो पाता। उनके मन में एक विक्षोभ और व्यथा है। व्यथा का मूल ईश्वर

१ 'अब तो मेरे लिए तेरी यह प्रार्थना ही सब कुछ है। यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है। यही मेरी साधना है और यही मेरी साधना का साध्य है। प्रभु, भगवान् मैं ऐसा नहीं रहना चाहता। मैं बिल्कुल तेरा हो रहना चाहता हूँ। मेरे रोम-रोम में हरेक तुझे ही प्राप्त करे, तेरी ही स्फूर्ति पाये, किसी को मुझसे क्रोध की प्रेरणा न मिल सके।' —जैनेन्द्रकुमार 'साधु का हठ', दिल्ली, १९६३, पृ० ११।

२ —'शायद वही है (ईश्वर) जिसके लिए मैं जीना सार्थक मान सकता हूँ। मेरा लिखना अन्त में इसी प्रयोजन से जा मिलता होगा। अन्यथा अपने में उसका दूसरा प्रयोजन मुझे नहीं मालूम होता है।' —जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', दिल्ली, १९६५ से उद्धृत।

के से वियोग अथवा पाथक्य है। जैनेन्द्र सगुण भवतो के सद्श्य ससार में द्वैत को एक सीमा तक आवश्यक मानते हैं। आत्मा-परमात्मा अथवा उपासक-उपास्य के द्वैत में ही भक्ति की प्रगाढ़ता भासित होती है। 'पर' के गमात्र में 'स्व' के समर्पण का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र अपने मन में उठते हुए आवेग को स्पष्टतः व्यक्त करने में असमर्थ हैं, तथापि उनकी अगान्तिपिठा भावविह्वलता की स्थिति में प्रकट ही हो जाती है।^१

जैनेन्द्र के अनुसार 'ईश्वर से पदार्थ रूप में कुछ पाना व्यर्थ है। लेकिन पदार्थ के अतिरिक्त भी बहुत पाना शेष है। वह स्वयं अपने को पाना है।' जैनेन्द्र के पात्रों में समाहित विश्वास की अडिगता उनकी आसक्तिता को ही इंगित करती है। जीवन में अतत भगवान का सहारा ही डूबते को उबारने वाला होता है। विषम परिस्थितियों में उनके पात्र भगवान को ही याद करते हैं।^२ असत् की प्रतिष्ठा होते देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो उनका ईश्वर उनसे छीना जा रहा हो।^३ सत्य के मार्ग में चलकर वे कष्ट भोग सकते हैं, किन्तु असत् के मार्ग में उन्हें शान्ति नहीं है।

लौकिक प्रेम में भी उत्तरोत्तर ईश्वरीय प्रेम को ही अपना ले गई है। यदि प्रेम में ईश्वरोन्मुखता नहीं है तो वह मिथ्याप्रपञ्च मात्र है। यही कारण है कि 'कल्याणी' में जैनेन्द्र ने प्रभु प्रेम को ही सत्य माना है, बाकी प्रेम माया है।^४ 'सुखदा' में तो जैनेन्द्र ने पूर्ण विश्वास के साथ प्रेम की सत्यता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में 'ईश्वर या परमेश्वर—सब प्रेम ही हैं अथवा प्रेम मय है।'^५ प्रेम का क्षेत्र व्यापक है। उसकी परिधि में गमस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। ब्रह्माण्ड चलता ही उसी के चलाए है। प्रेम का कोर^६ भी सम्बन्ध अथवा

१ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', दिल्ली, १९६५—'मुझे ठीक पता नहीं कि मैं भगवान् के दर्शन पाना चाहता हूँ। मानता हूँ कि मैं एक उन्हीं को हूँ। पर साक्षात् मैं एक उन्हीं के दर्शन नहीं हो पाते।' * ऐसी परेशानी मैं दिन बीत रहे हूँ जीना अकारण हुआ जा रहा है।'

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और समाधान', पृ० ४८।

३ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', दिल्ली, १९६४, पृ० ६२।

४ जैनेन्द्रकुमार (स्वीकार), पृ० ७०।

५ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० ८२।

६ 'सत्य मैं उसी प्रेम को समझता हूँ, ईश्वर उसी प्रेम को समझता हूँ। ईश्वर के ऊपर कहते हैं परमेश्वर है, परमेश्वर उसी को समझता हूँ।' —'सुखदा', पृ० १५०।

रूप प्रपत्नी चरम सीमा पर पहुँचकर ईश्वरीय प्रेम में ही परिणित हो जाता है। यह स्थिति सगर्पण द्वारा ही सम्भव होती है। प्रेम और अह दो विरोधी तथ्य हैं। जब 'मे' 'पर' में समर्पित होकर विलीन हो जाता है तभी प्रेम का लक्ष्य पूर्ण होता है। उस समर्पण में अनायास ही ईश्वरीय प्रेम की उपलब्धि सम्भव हो जाती है।^१

ईश्वरीय आस्था द्वारा जीवन में व्यवस्था

जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वरीय आस्था जीवन में व्यवस्था तथा सुख-शान्ति लाने का साधन है।^२ ईश्वरीय आस्था के कारण ही समाज में व्याप्त श्रेणी बढ़ता सहज ही स्वीकार्य हो जाती है। क्योंकि व्यक्ति स्वयं को भाग्याधीन समझने लगता है। आस्तिक की दृष्टि में भाग्यवश ही कोई गरीब है तो कोई अमीर है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यदि यह विश्वास न हो कि सब ईश्वर की दया से होता है तो जीवन में प्रतिक्षण स्पर्धा व द्वेष के कारण कलह मचा रहे। जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था जीवन के सभी क्षेत्रों की परिचायिका है। आस्था का सक्षिप्त रूप धर्म है। वे राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि के मूल में धर्माभिमुखता को अनिवार्य मानते हैं। धर्म अर्थात् ईश्वर का भय ही व्यक्ति को अनैतिक आचरण से वंचित रखता है। जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त ईश्वर-प्रेम मंदिर और मस्जिद तक ही परिमित नहीं है। उनके साहित्य में हमें ऐसे स्थल कम ही प्राप्त होते हैं जहाँ परोक्ष रूप से पूजा अर्चना आदि की झलक मिल सके। कारण यह है कि वे प्रदर्शन से अधिक वास्तविकता को श्रय देते हैं। प्रदर्शन में सत्य विनष्ट हो जाता है अथवा उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्रों के जीवन में ईश्वर के प्रति निष्ठा शब्दों द्वारा अथवा प्रवचन द्वारा अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त करती वरन् प्रतिदिन के जीवन में विपमताओं से जूझने तथा 'पर' की स्वीकृति अभिमानता में ही उनकी आस्तिकता फलीभूत होते हुए दृष्टिगत होती है।

- १ 'प्रेम में इतना निःशेष आत्मसमर्पण हो सकता है कि अनायास ईश्वर भक्ति का फल मिल जाय, बिना ईश्वर को जाने या उसका नाम लिए प्रेम की परिपूर्णता में ईश लाभ पा जाने के उदाहरण अनेकानेक मिल जायेंगे।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ८७।

- २ 'ईश्वर नामक सच्चा सुव्यवस्था में सहायता तो अवश्य देती है...'

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' (नई व्यवस्था, भाग १), तृ० स० दिल्ली, १९६२, पृ० १६७।

प्रार्थना का महत्व

जैनेन्द्र ईश्वर की उपासना के लिए प्रार्थना को अनिवार्य मानते हैं। प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति में आत्म-शक्ति का विस्तार होता है।^१ गांधी जी ने अपने जीवन में प्रार्थना पर विशेष रूप से बल दिया था। प्रार्थना उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग थी। उनकी दृष्टि में प्रार्थना की बेला में पारस्परिक भेद-भाव विनष्ट हो जाता है। सत खलील जिब्रान ने भी प्रार्थना की अनिवार्यता को स्वीकार किया था। उनकी दृष्टि में प्रार्थना करते समय ऊँचे उठकर व्यक्ति उन महत्ती आत्माओं से भेंट करता है जो उस समय प्रार्थना रत होती हैं और जिनसे प्रार्थना-बेला के अतिरिक्त कभी भेंट नहीं हो सकती।

जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' के माध्यम से जिस पूजा गृह की कल्पना की है, उसमें नीच-ऊँच सभी का प्रवेश स्वीकार्य है। हिन्दू, मुसलमान, शूद्र आदि का प्रार्थना के मंदिर में निषेध नहीं किया गया है।

प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति ईश्वर के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है। उसमें अपना आपा भी शेष नहीं रह जाता है। वह भक्ति-भाव में विभक्त होकर भगवान के नाम की रट लगा लेता है। यही नहीं, उसका मन पूजा के वश अर्घ्य की भाँति समर्पित हो जाता है। 'साधु की हठ' पीछे छहानी में साधु प्रार्थना करता हुआ ईश्वर के साथ आत्मसात् हो जाने के लिए तैयार रहता है। वह चाहता है कि ईश्वर की भक्ति उसमें इस प्रकार समाहित हो जाय कि इतर भावों के हेतु अवकाशहीन न रह जाय। जैनेन्द्र की कुछ कहानियों में ('गवार' आदि में) भक्ति-भावना छद्म रूप से व्यक्त हुई है। उनमें ईश्वरीय आस्था प्रमुख नहीं है। किन्तु 'साधु की हठ' में साधु की अनिशय विनम्रता और समर्पण में ईश्वर से साक्षात्कार की कामना पूर्णतः निश्चलता के साथ मुखरित हुई है। उसकी भावविह्वलता में सत्य का छिपाव न होकर आत्म प्रकाशन की ही प्रधानता है। वह ईश्वर के विरह में व्याकुल होकर कहता है कि 'क्या मैंने तुम्हें रोकर अपनी आत्मा के अर्घ्य की अजलि को तेरी स्वीकृति के समक्ष लिए बैठकर, तुम्हें सौ-सौ बार, हर हर बार, विश्वास नहीं दिलाया कि

१ 'प्रार्थना से शक्ति आती है। जिस निर्बलता ने राम का बल पकड़ा है, उसका बल फिर क्यों हारे? परमात्मा में विश्वास रखो वह भय से हम तारेगे।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', दिल्ली, १९६४, प्र० स०, पृ० १६८।

२ सत खलील जिब्रान 'जीवन दर्शन' (अनु० दि प्रोफेट अनु० सत्यकाम विद्यालकार) सशोधित संस्करण, १९५८, पृ० ७०।

समिधा की भाति यज्ञ के हुताशन मे भस्म होकर भी मै तुझमे ही पहुँचना चाहता हूँ।^१ सत खलील जिब्रान के अनुसार भी प्रार्थना का अर्थ ही अपनी आत्मा को विश्वात्मा के सघर्ष मे लाना है।

वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य मे प्रार्थना का महत्व विशेषरूप से दृष्टिगत होता है। उसमे लेखक की आस्तिकता साकार रूप धारण करके फूटी पडती है। जिस प्रकार सूर, तुलसी आदि कवियों की रचनाओं मे अतिशय भावुकता के स्थल मे कवि का व्यक्तित्व कवित्व की मर्यादा को भूल जाता है। उसी प्रकार 'साधु की हठ' मे लेखक की भक्ति-भावना का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। जीवन का सारा ज्ञान, मारी साधना, प्रार्थना की तन्मय अवस्था मे विलुप्त हो जाती है, इसीलिए साधु के माध्यम से उनकी प्रार्थना के प्रति आस्था प्रकट होती है। उनकी दृष्टि मे प्रार्थना ही सब कुछ है। यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है। यही मेरी साधना है, यही मेरी साधना का साध्य है। 'टकराहट' मे लेखक ने भारतीय आस्तिकता और पाश्चात्य जीवन के मत्स्य से उत्पन्न द्वन्द्व की ओर इंगित किया है। जैनेन्द्र ने कैलाश के द्वारा आश्रम मे होने वाली प्रार्थना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि प्रार्थना मे व्यक्ति के मन का द्वन्द्व शान्त हो जाता है और वह ईश्वर की शरण मे जाकर परमशान्ति का अनुभव करता है। उसकी दृष्टि मे जीवन की मर्यादाओं को सहज भाव से स्वीकृत करने मे ही आत्मशांति की प्राप्ति हो सकती है।^१

जैनेन्द्र की आस्थामूलक भावनात्मक तथा आध्यात्मिकता उनके साहित्य की रूढ़ता और शुष्कता को दूर कर उसे सरस और ग्राह्य बना देती है, जिसके कारण वे लेखक होने के साथ ही दार्शनिक की आस्था को भी अपने मे समा लेते है। जैनेन्द्र के अनुसार ईश्वर की भक्ति मे जो नशा है, वह लौकिक नशे (शराब) मे सभव नहीं हो सकता। उन्हे तो प्रकृति की विराट्ता के मध्य एकमात्र उसी ब्रह्म की छाया ही दृष्टिगत होती है। लौकिक नशा पल भर के बाद समाप्त हो जाता है किन्तु ईश्वर की भक्ति जिसके हृदय मे समाहित हो जाती है, वह आजन्म उसी मे डूबा रहता

१ जैनेन्द्रकुमार 'साधु की हठ' (जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ६,) पृ० ११।

२ प्रार्थना मे हम अपने को अलग मानते है, इसी कारण प्रार्थना मे बल मिलता है।

--जैनेन्द्रकुमार 'टकराहट' (जैनेन्द्र की कहानिया, भाग ७), दिल्ली, १९६३, तृ० स०, पृ० ६।

है।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था कोरे विचार और तक का प्रतीक न होकर भक्तिमय आस्तिकता की अभिव्यक्ति है। उनके साहित्य का अध्ययन करते हुए कभी-कभी मन एकदम तन्मय हो उठता है और ऐसी स्थिति में लेखक का विचारक रूप पीछे रह जाता है तथा श्रद्धालु लेखक का रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है।

ईश्वर अज्ञेय

उपरोक्त विशद विवेचन के आधार पर हम उस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था अज्ञेयवादियों के सदृश्य ही ईश्वर के स्वरूप को समझने में असमर्थ है। उनके अनुसार एक परम शक्ति अदृश्य रूप से सारे जगत का संचालन करती है। व्यक्ति अपनी भावना और सबुद्धि के द्वारा उसके स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हुए भी अतत भगवन् ही रहता है। 'सुखदा' में सुखदा स्वीकार करती है कि मनुष्य का ईश्वर को जानने का समस्त प्रयत्न समुद्र के तट पर कौड़िया खेलने वाले बालक के सम्य व्यर्थ ही सिद्ध होता है।^२ वह ईश्वर अपने निराकार रूप में समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अतएव उसको अपनी कल्पना में सीमित करने निरपेक्ष मनोव्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती। उसके सम्भव में केवल हम सम्भावना ही कर सकते हैं, क्योंकि ईश्वर निरपेक्ष सत्य है, व्यक्ति का अभिमत सापेक्ष है। जैनेन्द्र ने सुखदा से व्यक्त किया है कि ईश्वर ऐसा सूत्रधार है, जो समस्त सृष्टि के सूत्र को अपने हाथ में लिए हुए है।^३ यद्यपि ईश्वर अज्ञेय है तथापि उसे जानने की व्यक्ति की जिज्ञासा कभी शान्त नहीं होती। सृष्टि ईश्वर का सत्य और प्रत्यक्ष रूप है। सृष्टि के प्रपञ्च को देखकर ऐसा भान होता है कि व्यक्ति शतरज की मोहर के सदृश्य जड़ है और खिलाडी तो कहीं छिपा हुआ समस्त जीवों को माया के

- १ 'उसका नशा कभी नहीं चुकता। उसको चाहो उसको पाओ वह नशा है जो उतरेगा नहीं। वह अशान्ति में भी शान्ति देगा।'

—जैनेन्द्रकुमार 'टकराहट' पृ० ६।

- २ —जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० १८।

३. खिलाडी तो जाने ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ-कहाँ छिपा बैठा है। और हम उसके खेल में कठपुतली के मानिन्द नाचते हैं। नाचते हैं सो मन में वहला भी लेते हैं। लेकिन हमारी यह सब उछल-कूद, जोड़-जुगत अपने मन तक की ही है। तार पीछे कहीं किसी और के हाथ में है। हम सामने भर होने के लिए हैं।

—जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० २०३।

प्रपञ्च में नचाता रहता है। जैनेन्द्र की आस्था भाग्यवादिता के रूप में ही मुखरित होती है। उनके अनुसार व्यक्ति नाना सकल्प-विकल्प रचता रहता है, किन्तु होता वही है जो ईश्वर को स्वीकार होता है। श्री प्रभाकर माचवे ने भी जैनेन्द्र के विचारों को अज्ञेयवादियों के समकक्ष स्वीकार किया है। माचवे जैनेन्द्र के विचारों को स्पेन्सर आदि अज्ञेयवादी विचारकों के सिद्धान्तों से पृथक् मानते हैं। स्पेन्सर की विचारधारा विज्ञानसम्मत अधिक है। किन्तु जैनेन्द्र, तालस्टाय और गांधी जी की विचारधारा से सहमत है, जिसमें कंट के 'परमात्म अस्तित्व' की नैतिक आवश्यकता का तर्क ही अधिक कर्मशील है।^१ जैनेन्द्र का दृष्टिकोण बौद्धिक से अधिक व्यवहार सम्मत है। बुद्धि के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को न ही सिद्ध किया जा सकता और न ही असिद्ध किया जा सकता है। सत्ता को बुद्धि के द्वारा जानने के प्रयत्न में व्यक्ति का अहंकार ही प्रकट होता है। परमात्मा को लेकर सदैव एक प्रश्नचिह्न सामने उपस्थित रहता है। विश्व की विचित्रताओं के मूल में एकमात्र वही है, किन्तु उसे कैसे जाना जाए? ससार मिथ्या है। 'व्यर्थ प्रयत्न' में परम तत्त्व को बरबस बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष देखने की नेट्टा की गई है। ग्रन्थों के सहारे केवल यही जान पड़ता है कि 'वह यह नहीं है, वह वह नहीं है। तब यह और वह क्या है—कैसे मालूम हो?' यही कैसे मालूम हो?^२ अन्ततः बुद्धि पराजित होती है और सबुद्धि ही सहायक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार कभी-कभी ईश्वर की ओर से मिलने वाली निराशा ईश्वर को मिथ्या समझने लगती है। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार वह (ईश्वर) ऐसा झूठ है जिससे ससार की समस्त असत्यता समाहित हो जाती है। ईश्वर को 'परम भक्ति' के रूप में स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति का अहंभाव विगलित हो जाता है। ईश्वर की भक्ति का नशा चढ़ने पर वही सब कुछ प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः जैनेन्द्र की आस्तिकता तर्क से इतर समर्पण में ही सत्य की खोज करती है। उन्होंने ईश्वर को अनुभूति के स्तर पर ही स्वीकार किया है। 'काश्मीर की वह यात्रा' में जैनेन्द्र को प्रत्यक्षरूप से ईश्वर के दर्शन नहीं हो पाते, किन्तु विराट् प्रकृति के आकर्षण में उन्हें एकमात्र ईश्वर के अस्तित्व की ही झलक मिलती है। अज्ञात ईश्वर उनके लिए अप्राप्य है किन्तु उसकी शक्ति और रूप का अनुभव करते ही उनका हृदय आर्द्र हो उठता है। 'आत्म-विभोरता' की स्थिति में प्रेम की अविरल धारा अश्रु बनकर प्रवाहित होने

१. प्रभाकर माचवे 'जैनेन्द्र के विचार', बम्बई, पृ० १३।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', सातवा भाग, तृ० स०, १९६३, दिल्ली, पृ० १२७।

लगती है। अश्रु-पवाह ही मानो भक्ति की वह पराकाष्ठा है जहाँ आगितक अपनत्व को भूतकर ईश्वर की अनुभूति में ही रम जाता है।^१ उनके हृदय में बस एक ही उच्छ्वास बार-बार उठता है कि 'हे अज्ञान, तू ही है, तू ही है।' भावना सदा ही अमृत को मृत रूप प्रदान करके स्वीकार्य बना लेती है। उनकी दृष्टि में एकमात्र वही है। (ईश्वर) जैनेन्द्र के अनुसार 'ज्ञान जानता है कि मानव-प्राणी के लिए एक अकेला सत्य अनुभव वही है।' पायद नहीं है। शायद नहीं, सचमुच वही है। जीवन के पास उससे बड़ी मरणा को दूसरी नहीं है, कोई दूसरी हो नहीं सकती है।'^२

ईश्वर भाग्यविधाता

जैनेन्द्र के साहित्य में ईश्वर का चाहे जो स्वरूप भी हो, किन्तु उसके अस्तित्व और उसकी महत्ता प्रतिपल उनके हृदय में बनी ही रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'भाग्य विधाता का ही दूसरा नाम है।' जैनेन्द्र के साहित्य में भाग्य के समक्ष नतमस्तक हुआ व्यक्ति अपरोक्ष रूप में ईश्वर को मत्ता का ही स्वीकार करता है।

- १ उस अज्ञान के तट पर खड़े होकर जी होता है, हम उसके अनन्त गर्भ की नीलिमा में आखे फाड़-फाड़कर कुछ देखने की स्पर्धा में ग्रथे बया बत क्यों नहीं। हम आख मूदकर घुटने आ बैठे, विवशता के दो आसू ढर जाने दे और गद्गद कण्ठ के गुहार दे, 'हे अज्ञान, तू ही है। हम सब और हमारा समस्त ज्ञान तेरे गर्भ में है, और तू उससे परे है, जाता है। तू ज्ञान नहीं है - इसमें तू ही है, तू ही सत्य है। तुझमें तेरी शरण म है।'

जैनेन्द्रकुमार 'काश्मीर की वह यात्रा', दिल्ली, १९६८, पृ० १२।

- २ जैनेन्द्रकुमार 'वह अनुभव' (जैनेन्द्र - प्रतिनिधि कहानियाँ), दिल्ली, १९६९, पृ० १२८।

- ३ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष्य', १९६५, प्र० ३०, दिल्ली, पृ० १११।

जैनेन्द्र और धर्म

जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि

जैनेन्द्र का जीवन अर्थात्मा और भौतिकता का समुच्चय है। भौतिकता यदि शरीर है, तो अर्थात्मा उसकी आत्मा है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। धर्म का अस्तित्व जीवन के स्वीकार्य में ही सम्भव है, और जीवन की सार्थकता धर्मगत होने में है। जैनेन्द्र का साहित्य उनके व्यक्तिगत अनुभव का ही प्रतिनिधित्व करता है। उनका धार्मिक-बोध किसी मत या वाद से आबद्ध नहीं है। उन्होंने वेद, पुराण, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों के गभीर अध्ययन का काण्ट नहीं किया है, किन्तु धर्म का शाश्वत रूप जो कि आदिकाल से विश्व के सभी धर्मों में प्राप्त होता है, उनके साहित्य में सहज ही देखने को मिलता है। उन्होंने धर्म को ज्ञान में नहीं, वरन् अनुभव से प्राप्त किया है। उनका धर्म मानव-धर्म है। धर्म के इस व्यापक रूप के अन्तर्गत जीवन के विविध अंग समाविष्ट हो जाते हैं। उनके साहित्य में धर्म का अस्तित्व उसी प्रकार अलक्ष्य है, जैसे लकड़ी में अग्नि।

जैन दर्शन

जैनेन्द्र का साहित्य उनके युग की परिस्थितियों और उनके जन्मजात सरकारों का ही परिणाम है। यद्यपि वे स्वयं को समस्त बन्धनों (परिस्थितिगत) से मुक्त मानते हैं, किन्तु सामान्य दृष्टि से यह सम्भव नहीं हो सकता कि व्यक्ति निदान्तर निरपेक्ष हो जाय। मनुष्य का जीवन और उसके विचार निरन्तर

गवीन नहीं हो सकते। जैनन्द्र के धार्मिक विचार भी किसी नये आदर्श की स्थापना नहीं करते, किन्तु उनका महत्व सत्य को तत्कालीन आवश्यकता के अनुकूल नये ढंग से व्यक्त करने में है। जैनन्द्र का जन्म जैन परिवार में हुआ है। जैन धर्म की आत्मा उनके सकारणों में समायी हुई है। जैनन्द्र ने यदि स्व-धर्म के रूप में किसी भी धर्म को स्वीकार किया है तो वह जैनधर्म ही है। जैनन्द्र ने अपने जीवन को जैन आदर्श में ही ढालने का प्रयास किया है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, अतः जैनन्द्र-साहित्य पर जैन धर्म और दर्शन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। अतएव जैनन्द्र के धार्मिक विचारों को समझने के लिए जैन धर्म का स्वरूप और उसकी व्यापकता को समझना अनिवार्य है।

जैनियों का विश्वास है कि जैन धर्म भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि विश्व में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।^१ जैनियों की ग्रहसक और रहस्यवादी दृष्टि समस्त विभिन्नताओं को स्वीकार करके चली है। उसमें किसी मत का निषेध नहीं किया गया है और न ही किसी भी विचार को निरपेक्ष सत्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। जैनियों ने 'एट इज नाट' के मार्ग का न स्वीकार करके 'एट कैन बी' के मार्ग का अनुसरण किया है। जैनियों की रहस्यवादी दृष्टि पाश्चात्य विद्वान् आइन्स्टाइन की रिलेटिविटी का सिद्धान्त पर्यन्त नहीं है।^२ भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने दोनों की शब्दावली में भी समानता को ही दर्शन किया है।^३ आइन्स्टाइन के अनुसार सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान मनुष्य ही बुद्धि के परे है, हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं।^४

१ 'It is true that according to the belief of the Jains their religion is a 'world religion' in the sense that it is a religion not only for human beings of all races and classes, but even for animals, Gods and denizens of hell' Winternitz - Calcutta (1933), (p 425)

२ Winternitz - Calcutta (1933)

३ डा० राधाकृष्णन ने स्याद्वाद की अंग्रेजी में 'रिलेटिविटी' से सम्बन्धित किया है और 'रिलेटिविटी' को हिन्दी में 'स्याद्वाद' के नाम से संबोधित किया गया है। डा० राधाकृष्णन 'इण्डियन फिलॉसोफी'

४ 'We can know only the relative truth, the absolute is known only to the universal observer.'

जैन धर्म का उद्भव ब्राह्मण धर्म के पराभव का काल था। जैन और बौद्ध दर्शन का जन्म ब्राह्मण धर्म की परम्परागत रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और मिथ्या कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। ब्राह्मण धर्म उन दिनों जीवन के बाह्य कर्मकाण्डों तथा विविध मतवादों से इतना चिपटा हुआ था कि उसमें धर्म के आत्म-भाव को खोजना कठिन हो गया था। उस समय पूजा पाठ का बाहुल्य हो रहा था, किन्तु धर्म के प्रति लोगों की आस्था समाप्त हो रही थी। धर्म जीवन का अंग न होकर मतवादों के प्रचार का माध्यम बन गया था। जैन दार्शनिकों से पूर्व के समस्त भारतीय दार्शनिकों ने 'ईश्वर के अस्तित्व', 'सृष्टि और सत्ता के सम्बन्ध' आदि अप्रत्यक्ष विषयों पर ही विचार किया था। उन्होंने गूढ़ सत्य को खोजने का प्रयास किया था किन्तु जैन दार्शनिक जीवन के व्यावहारिक धरातल को ही अपने अध्ययन का विषय बनाकर चले हैं। उनका धर्म पारलौकिक न होकर प्रत्यक्ष जगत और मानव-व्यवहार में ही निहित है। जैन-दर्शन तर्क पर आधारित है,^१ अन्धविश्वासों पर नहीं। यही कारण है कि सैकड़ों वर्षों के बाद आज भी अपनी उपयोगिता के कारण विश्व-व्यापी बना हुआ है।

जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु मोक्ष की स्थिति तक पहुँचने के लिए मार्ग में आने वाली विभिन्न स्थितियों को अवहेलना नहीं की जा सकती। मोक्ष यदि मजिल है तो सत्य अहिंसा, अपरिग्रह, प्रेम, त्याग आदि वे सोपान हैं, जिनके माध्यम से हम मजिल तक पहुँच सकते हैं। अतः जैन दार्शनिकों ने साध्य से अधिक साधन पर बल दिया। साधन की विशुद्धता के अभाव में साध्य की प्राप्ति की कल्पना निरर्थक है। जैनियों ने अज्ञात के रहस्य को जानने से अधिक वर्तमान जीवन के उत्कर्ष की ओर ध्यान दिया है। जैन दर्शन ही विश्व का एक ऐसा महत्वपूर्ण दर्शन है, जिसमें वर्तमान भौतिकता और अध्यात्मवादी प्रवृत्ति का अपूर्व 'संगम' दृष्टिगोचर होता है। विज्ञान में वस्तु अथवा 'मुद्गल' पर विशेष बल दिया गया है।

जैन धर्म में 'धर्म' शब्द का प्रयोग वस्तु के स्वभाव अथवा उसके धर्म के लिए हुआ है। वस्तु का प्रकृति के प्रतिकूल आचरण अधर्म का सूचक है। अग्नि का गुण ताप उत्पन्न करना, जल का शीतलता प्रदान करना, मनुष्य का धर्म मनुष्यता है। मानव-धर्म से च्युत व्यक्ति मोक्ष अथवा ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकता। जैनियों के वस्तु धर्म का तात्पर्य आत्म-धर्म है। वस्तु में विभिन्नता अनिवार्य है, किन्तु धर्म शाश्वत है, वह वस्तु के मूल में विद्यमान है। जिस प्रकार शरीर में निहित आत्मा का धर्म ही व्यक्ति का वास्तविक धर्म

१ V.R. Gandhi 'The Jain Philosophy', (1924) Bombay,

है, उसी प्रकार वस्तु के अन्तर्गत गुण को ही उसका धर्म कहते हैं। सब जीवों में एक ही आत्मा का निवास है, अतः समस्त जीवधारियों का मूल धर्म एक ही है। शरीर की भिन्नता के सद्बन्ध धर्म के बाह्य रूपों में भिन्नता हो सकती है, किन्तु आत्म तत्त्व में एकता अनिवार्य है। जैनियों का यह आत्मधर्म ही उनकी अहिंसक नीति और स्यद्धादी विचारधारा का मूल आधार है। सब जीवों के प्रति प्रेम तथा सभी मतावलम्बियों के प्रति समान आदर ही भावना जैन धर्म का मूलधार है। अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। उनके अनुसार प्रकृति के विभिन्न कार्य-कलाप अपना नियम तोड़ सकते हैं। मृग पश्चिम से निकल सकता है, चन्द्रमा में अग्नि की वर्षा हो सकती है किन्तु जीवहत्या में धर्म कदापि स्थिर नहीं रह सकता। हिंसा से बढ़कर कोई प्रधर्म नहीं है।^१

जैन धर्म का द्वितीय महत्वपूर्ण अंग त्याग और अपरिग्रह है। समस्त लौकिक उच्छ्वाशों का त्याग, 'पर' के हेतु स्व-सुख का त्याग, जैनियों के धर्म का उद्देश्य है। मानवता की सेवा और मानव मान के प्रति प्रेमभाव रखना ही धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है। जैन धर्म में अति सयद्ध की पूर्ति का निषेध किया गया है। कम-से-कम यत्न में ही जीवनयापन करना ही उनका मूलादर्श है। जैन तीर्थंकर का कोई घर नहीं होता, वह प्रकृति में मुक्त वातावरण में ही अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक कठोर तपस्या होती है। महावीर स्वामी का जीवन जैन धर्म की अपरिग्रही नीति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। मनुष्य की उच्छ्वाश अनन्त है। एक उच्छ्वाश के बाद दूसरी उच्छ्वाश जन्म ले लेती है। अतः जैनियों के अनुसार अपरिग्रही होकर ही हम ससार में सन्तुष्ट रह सकते हैं।

वस्तुतः जैन धर्म जीवन के अन्य आदर्शों का समुच्चय है। वह सैद्धांतिक और तात्त्विक होने से अधिक व्यावहारिक और विज्ञान सम्मत है।

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का अर्थ और स्वरूप

जैनेन्द्र जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित है। जैनेन्द्र का साहित्य उनके इस प्रभाव का ही प्रमाण है। संभवतः जैनेन्द्र ने जैन साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। अपने साहित्य में जैन धर्म के विभिन्न अंगों और उपायों का भी उन्होंने वर्णन

१ विण्टरनिट्स 'दि हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर', पृ० ४२५।

-अहिंसा परमोधर्मो यतो धर्मस्ततो जयः 'विजयधम्मसूरी' आत्मोन्नति दर्शन।

किया है। कुछ जैन-कथाएँ तो उनके जीवन का ग्रग बन गईं, उसके प्रभाव से उनका हृदय आर्द्र हो उठा। उनका जीवन विनम्रता और निरहंकारिता का आदर्श बन गया। जैनेन्द्र के अनुसार जैन धर्म किसी विशिष्ट समय में विशिष्ट व्यक्ति द्वारा नहीं बनाया गया था। यह तो जीवन-धर्म है। ईसाइयो ने ईसा को ही 'गॉड, अथवा 'ईश्वर' माना है, किन्तु जैनियो ने महावीर स्वामी को अपना आदि पुरुष नहीं, बल्कि चौबीसवाँ तीर्थंकर माना है। उनके अनुसार मनुष्य ही समस्त सासारिक वासनाओं और दोषों से मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त करता है। कैवल्य प्राण-व्यक्ति ही ईश्वर के सदृश्य है। महावीर स्वामी के तप-पूत व्यक्तित्व ने जैनेन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। वे उन्हें अमर विभूति मानते हैं। उनकी मृत्यु हमें उनसे दूर नहीं कर सकती।^१

जैनेन्द्र हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। साहित्यकार का भी एक धर्म होता है, उसे साहित्य का धर्म कहते हैं। साहित्य-सृजन की कुछ निश्चित मर्यादाएँ होती हैं, उनसे हटकर साहित्यकार अपने साहित्य के महत्व को अधुण्य नहीं रखा सकता। नृत्य करना, उपदेश देना अथवा प्रचार करना साहित्यकार का धर्म नहीं है। यही कारण है कि जैनेन्द्र जैन-धर्म के समर्थक होते हुए भी उसके प्रचारक नहीं हो सके। जैन धर्मावलम्बियों की यह तीव्र अभिलाषा थी कि जैनेन्द्र जैन-साहित्य की रचना करें अथवा अपने साहित्य द्वारा जैन-धर्म का प्रचार करें। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार जैन साहित्य लिखना ही जैन धर्मावलम्बी होने का सूचक नहीं है।^२ धर्म तो आत्मा का गुण है। वह साहित्य की आत्मा में व्याप्त होना चाहिए, उसके प्रचार के द्वारा हम अधर्मोन्मुख हो जाते हैं, क्योंकि प्रचार में आग्रह होता है। प्राचीनकाल के साहित्य पर धर्म की ऐसी छाप पड़ी कि उसे हम वाङ्मय कह सकते हैं, साहित्य नहीं।^३ जैनेन्द्र के अनुसार जिस धर्म के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा होती है, उसका प्रभाव अनायास ही साहित्य में परिलक्षित होने लगता है। साहित्यकार को उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि प्रयास में प्रचार का आग्रह रहता है। सच्चा धार्मिक

१ जैनेन्द्र 'मन्थन', दिल्ली, १९५३, पृ० २२१।

२ 'क्या जो मैं लिखता हूँ वह साहित्य जैन नहीं है।' क्या जैन धर्मग्रन्थों में वर्णित नामावली तथा शब्दावली के प्रयोग से जैन बन जाता है। उस सूरत में ऐसा भी तो हो सकता है कि वह साहित्य जैन तो हो साहित्य हो ही न।'

जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', प्र० स०, दिल्ली, १९१५, पृ० ४२।

३. परिप्रेक्ष, पृ० ४२।

स्वयं ही उस देश में रग जायगा। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य में धर्म-तत्त्व को ढढ़ना सरल नहीं है। बाह्य-वस्तु शीघ्र ही पकड़ में आ सकती है, किन्तु पात्रों में अन्तर्निहित सत्य के ज्ञान के लिए उनकी आत्मा के गुणों को समझना आवश्यक है। जैनेन्द्र ने अपने सैद्धान्तिक निबन्धों में प्रत्यक्ष रूप से जैन धर्म अथवा धर्म के अन्य विविध रूपों का वर्णन किया है, किंतु स्थूल दृष्टि से देखने पर हम उनकी धार्मिकता का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जैनेन्द्र के उपन्यासों में धर्म के किसी वाद का प्रचार नहीं किया गया है, उनके पात्रों का जीवन इस प्रकार से ढाला गया है कि वे अपने आचरण में अपनी धार्मिकता का आभास देते हैं।

जैनेन्द्र ने जैन धर्म की भाँति वस्तु के स्वभाव को ही धर्म माना है, किन्तु व्यक्ति के स्वभाव को ही धर्म मान लेने से धर्म का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं तथा उसके प्रत्येक कर्म का धर्ममय होना भी आवश्यक नहीं है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति या वस्तु की आत्म-प्रकृति को ही धर्म माना है।^१ व्यक्ति के शरीर में ही उसकी सम्पूर्णता नहीं रहती, शरीर तो स्थूल और बाह्य रूप है, किन्तु शरीर के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व आत्मा के रूप में विराजमान है। आत्मा जब जगत के समस्त बन्धनों से मुक्त है। आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही जीवन का परम धर्म है। जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास और कहानियों के पात्र उसी आत्मतत्त्व के साक्षात्कार में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। 'जयवधन', 'कत्याणी', 'त्यागपत्र', 'परम्ब' आदि उपन्यासों में अहं विसर्जन द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति का प्रयास किया गया है। धर्म की पूर्णता अहं के विसर्जन में भी सम्भव हो सकती है। जब व्यक्ति 'पर' के हेतु 'स्व' का त्याग करता है और इस कर्म में उसकी सच्ची निष्ठा विद्यमान रहती है, तभी उसे अपने कर्म की सार्थकता का अनुभव होता है।

जैनेन्द्र ने धर्म के शास्त्र सम्मत रूप को भी स्वीकार किया है। धर्म शब्द 'धा' धातु से निःसृत है। 'धा' का अर्थ है धारण करना। धर्म की धारणा शक्ति के कारण ही सृष्टि टिकी हुई है। मनुष्य का धर्म सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर उत्तरोत्तर ईश्वरोन्मुख होता है। हिन्दू धर्म में यह स्वीकार किया गया है कि धर्म की धारणा शक्ति की क्षमता 'आत्मा' में ही निहित है। अतः प्रत्येक कर्म का मूल आत्मकेन्द्रित होना चाहिए और समस्त कर्मों का ईश्वर की

१ जैन धर्म को भी इतना जानता हूँ कि वह आत्म धर्म है' जैनेन्द्रजी, 'मन्थन', दिल्ली, प्र० सं०, १९५३, पृ० ६१।

प्राप्ति के हेतु ही किया हुआ समझना चाहिए ।^१

सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना रखते हुए भी जैनेन्द्र ने स्व-धर्म को ही श्रेष्ठ माना है ।^२ जैनेन्द्र का धर्म जैन धर्म है । जैनी होने के कारण जैनेन्द्र स्वयं को जैन धर्मावलम्बी मानते हैं । जैन धर्म के अधिकांश आदर्शों का उन्होंने अपने सृजनात्मक साहित्य में प्रतिपादन किया है । अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, आस्तेय, अहंशून्यता आदि के उनके उपन्यासों में स्पष्ट ही दर्शन होते हैं । स्वधर्म जीवन का आदर्श होते हुए भी सीमित होना चाहिए । जब स्वधर्म को हम असीम मानकर चलने लगते हैं, तभी संघर्ष उत्पन्न होता है और यह विवादात्मक द्वन्द्व हिंसा का पोषक है । अपने धर्म को ही निरपेक्षरूप से महान धर्म मानना उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार हमारा धर्म हमें प्रिय है और श्रेष्ठ प्रतीत होता है, उसी प्रकार दूसरे का धर्म उसे भी श्रेष्ठ प्रतीत हो सकता है । जैनेन्द्र जैनी होते हुए भी जैनेतर को अपना भाई समझना चाहते हैं ।^३ उनके अनुसार जैन धर्म 'मानवधर्म' होकर ही सर्वसुलभ और उपयोगी हो सकता है । वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है । सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को स्वीकार करना पड़ेगा । इसकी जैनेन्द्र को कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती ।^४ जैनेन्द्र जैन धर्म की स्याद्वादी विचार-धारा के प्रभाव के कारण ही विविध धर्मों की अनेकता को मिटाने के पक्ष में नहीं हैं । हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म सब सत्य हैं,^५ किन्तु उन सब की विभिन्नता एक

१ (क) गीता में भी स्वीकार किया गया है—

सद्यश्चेष्टते स्वस्या, प्रकृते अपि,
प्रकृतिम् यस्ति, भूतानि, निग्रह, किम् करिष्यति ।

श्लोक ३३, अध्याय २ ।

(ख) —जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', प्र० सं०, पृ० १६६, १६७, २१५ ।

२ त्रेयाम् स्वधर्मो विगुणं परधर्मात्स्वमुच्छितात् ।

स्वधर्ममिधनं श्रेयं परधर्मो भयत्वं गीता ॥३५॥ अ० ३ ।

३ — जैनेन्द्र 'मन्थन', पृ० ८१ ।

४ — जैनेन्द्र 'मन्थन', पृ० ८१ ।

५ 'अपना धर्म छोड़कर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है । धर्मों की एकता तो परमधर्म में ही है ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन', पृ० ८५ ।

परम धर्म में केन्द्रित हो जाती है और वह है अहिंसा^१ पण्डित अपने धर्म का ऊँचा कहते हैं और मोलवी अपने धर्म को। सब का यही विश्वास रहता है कि मेरा धर्म ही समाज से पार दिलाने का एकमात्र सही माग है। उनकी 'समाप्ति' शीपक कहानी में धर्म के नाम पर होने वाले वाद-विवाद का स्पष्ट रूप देखने का भिन्नता है। मन्थि आचार्यों के अनुसार 'वेदगुणधाम का जो सम्भाग पहुँचाने वाला है, वह है, जो मेरे धर्म का है। बाकी और पायण्ड नहीं तो क्या है।' जैनेन्द्र उस द्वन्द्वपूर्ण मताग्रह को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार किसी के धर्म पर आघात करना ठीक है। अपने धर्म के प्रति निष्ठा होने के साथ ही दूसरे धर्म के प्रति भी आदर होना चाहिए। सच्चा धार्मिक व्यक्ति विनम्र होकर ही स्वधर्म पालन करता है।^२

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म अपने विशुद्ध रूप में अत्यन्त है क्योंकि वह आत्मनम है। आत्मा का हम केवल अनुभव कर सकते हैं अथवा उसके अस्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं, किन्तु उस देख नहीं सकते। किन्तु आत्मा की साधकता परीर में स्वरूप ही सम्भव है। अन्यथा वह प्रेत के सन्ध्य है। आत्मज्ञान जरीर भी सब ही कहलायगा। अतः दोनों का सहअस्तित्व अनिवार्य है। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। मोनेव जीवन में रूप रंग, गरीबी-गरीबी, ऊँच-नीच आदि नाना विभिन्नताएँ प्रकटगावर जाती हैं। मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण उन बाह्य भेदों को ही सत्य मान बैठता है और समस्त जीवों के प्राणत्व की समानता को स्वरूप का भूल जाता है। इसी अज्ञानता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में संघर्ष उत्पन्न होता है। धर्म एक भाव-नात्मक स्थिति है। भावना स्वयं में निर्बल है। जैनेन्द्र के अनुसार कारी नाम-भावना में उतनी क्षमता नहीं है कि वह अपने का विरम्यायी बनाए रख सके। अतः धर्म के स्थायित्व के लिए सम्प्रदाय अथवा संस्था का अस्तित्व अनिवार्य है। प्राचीनकाल से आज तक यदि मानव-धर्म स्थायी रह सका है तो वह विभिन्न धार्मिक संस्थाओं, धार्मिक ग्रन्थों आदि में सन्निहित होकर ही अत्यन्त

१ 'स्वधर्म में सीमित और आदश के सीमित होने के कारण हमको एक परम धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिंसा।'

२ —जैनेन्द्र 'समाप्ति' सम्पा० शिवनन्दनप्रसाद, दिल्ली, १९६६, पृ० २०६।

३ —जैनेन्द्र 'समाप्ति', पृ० २०७।

४ 'मन्थन', पृ० १६६।

रह सका है। धर्म और सम्प्रदाय आत्मा और देह के सद्दृश्य अकाट्य बन्धन से बंधे हैं। उनके सम्बन्धों को बाह्य प्रहारों द्वारा नष्ट करना उचित नहीं है। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का सस्थावद्ध रूप ही सामाजिक व्यवस्था के लिए उपयुक्त हो सकता है।^१

जैनेन्द्र की धार्मिक विचारधारा समयानुकूल परिवर्तनशील है। युग की परिस्थितियों और मानसिक चेतना के परिवर्तन के साथ यदि उसमें परिवर्तन नहीं होता तो उसे स्वीकार करना कठिन प्रतीत होगा। सृष्टि के आदिकाल से ही आत्मतत्त्व के ज्ञान की जिज्ञासा मानव में विद्यमान रही है। जीवन परिवर्तनशील है। जीवन में परिवर्तन होने के साथ-ही-साथ व्यक्ति विचारों और मान्यताओं में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। धर्म जीवन के विविध अंगों का मूलधार है। अतः धर्म के बाह्य रूप सम्प्रदाय और सस्थाओं में भी अन्तर आना स्वाभाविक है। जिस प्रकार शरीर नश्वर है, एक ही शरीर अनन्तकाल तक एक ही रूप में विद्यमान नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त रोगग्रस्त तथा वृद्धावस्था के कारण अर्जित शरीर का नष्ट होना आवश्यक है अन्यथा वह शरीर ही बोझ बन जाता है। उसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदायों की भी एक निश्चित आयु होती है। समय-समय पर सस्थाओं में अनेकों दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतः धर्माचार्यों द्वारा धर्म के सम्प्रदाय रूपी शरीर का पुनर्निर्माण आवश्यक है। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। अब लोगों की बाह्य कर्मकाण्ड में आस्था समाप्त हो रही है। जैनेन्द्र वर्तमान मानसिक चेतना और परिस्थितियों से पूर्णतः अवगत है। उन्हें धर्म की व्यापक शक्ति का पूर्ण ज्ञान है। उनके अनुसार धर्म कर्मकाण्ड में ही सीमित नहीं रह सकता। धर्म का स्वरूप युग-विशेष की आवश्यकता पर ही निर्भर करता है, किन्तु धर्म के अस्तित्व को कभी भी नकारा नहीं जा सकता। धर्म तो आत्म धर्म है, जीवन धर्म है अतः उसका रूप शाश्वत है। आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सभी सम्प्रदाय आत्म-धर्म से युक्त होकर ही सही माने जा सकते हैं। धर्म रहित सम्प्रदाय उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे आत्मा रहित शरीर। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म के सस्थागत रूप को स्वीकार करने के लिए अहिंसा धर्म का पालन आवश्यक है। किसी भी सम्प्रदाय के अस्तित्व पर आघात नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे धर्म की प्राप्ति के विविध मार्ग हैं, जो एक ही लक्ष्य की ओर सतत अग्रसर हो रहे हैं। जैनेन्द्र का यह दृष्टिकोण सत्य और उपयोगी प्रतीत होता है। उसमें द्वन्द्व के लिए स्थान

१ 'मन्थन', पृ० १६६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, पृ० ११६।

नहीं रहता। जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होती हुई भी सागर में ही समाहित होती हैं। उसी प्रकार विभिन्न मतवाद मात्र ईश्वर-प्राप्तक मार्ग ही हैं। लक्ष्य की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। यदि हम मार्ग में ही उलझे रह गये तो सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। सत्य तो सर्वत्र एक है, चाहे वह भारत में हो या विश्व के किसी भी कोने में हो। जैनेन्द्र ने धर्म को व्यक्ति के आचरण तक सीमित करके उसे सामाजिक और विश्वव्यापी बनाने का प्रयास किया है। 'अनन्तर' में वनानि द्वारा जिस शान्ति-धाम की स्थापना की योजना बनाई गई है, वह धर्म की सकीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक न होकर विश्वव्यापी मानव-धर्म की स्थापना का प्रयत्न प्रतीत होती है।^१ सस्था और सम्प्रदाय में रहकर ही धर्म-भावना प्रगतिशील हो सकती है। 'अनन्तर' में शान्ति-धाम किसी खास धर्म या मत का प्रवर्तक न होकर मानव-मात्र की परस्परता को बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण साधन है। वस्तुतः जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार है। उनके साहित्य में जहाँ कहीं भी उनकी धार्मिकता के दर्शन होते हैं, वे उनके विचारों की उच्चता और व्यापकता के ही दर्शन कराते हैं। उनका साहित्य उनके आत्मज्ञान (धर्म) का ही अभिव्यक्त रूप है। आज मनुष्य की स्वार्थमयी दृष्टि ने सम्प्रदायों को दूषित और कलंकित कर दिया है। 'सम्प्रदाय' शब्द से ही स्वार्थ की गन्ध आती है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के समर्थकों पर नाना आरोप करते हैं। इस दुराग्रह में धर्म की मूल सवेदना सम्प्रदाय से छूट जाती है और वे कलह और संघर्ष के नेन्द्र बन जाते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार विभेद की विद्रोहात्मक स्थिति अधर्म की सूचक है। पर के लिए स्व का त्याग ही जैन धर्म का मूलधार है। जैनेन्द्र के अनुसार यद्यपि परम धर्म मानव धर्म अथवा अहिंसा धर्म है, किन्तु सामान्यरूप से किसी को किसी विशिष्ट मार्ग पर चलने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। 'अनन्तर' में जैनेन्द्र ने अपनी इसी सद्व्यता का परिचय दिया है।^२ उनके अनुसार मत-

१ 'वनानि एक सस्था स्थापित करना चाहती है, 'शान्ति धाम'। देश-विदेश का प्रश्न उसमें न होगा, न किसी खास धर्म या मन्तव्य। उनका विचार है कि अपनी-अपनी सस्कृतियों ने भी मनुष्य की परस्परता में बाधा डाली है।' —जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर' दिल्ली, १९६८, पृ० ६७।

२ 'हम अपने मन से सबको नापते हैं। शायद हम विवश हैं। इसलिए हममें से हर एक को नहीं चाहिए कि स्वयं को लेकर जो भी चाहे हो, दूसरे को उस जैसा रहने दे।'।

—जैनेन्द्र 'अनन्तर', पृ० ६७।

भेद स्वाभाविक है, किन्तु अपने ही मत का आग्रह व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के ग्रह का सूचक है। ऐसी स्थिति में उसका धर्म रूप विनष्ट हो जाता है। धर्म तो व्यक्ति के ग्रह को गला देता है, उसे अत्यधिक विनम्र बना देता है। उसमें द्वन्द का प्रश्न ही नहीं उठता।^१

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म के सम्प्रदायगत होने की भी कुछ मान्यताएँ हैं, उनकी पूर्ति में ही धर्म के सम्प्रदायगत होने की सार्थकता है, अन्यथा वह समाज में विषमता और संघर्ष उत्पन्न करने में ही सहायक होता है। कोई भी सम्प्रदाय धर्मगत होकर अवहेलनीय नहीं हो सकता, किन्तु आज धर्म-तत्व विलीन होता जा रहा है। केवल निर्जीव शरीर के रूप में सम्प्रदाय ही प्रचलित है। सम्प्रदाय सत्य की प्राप्ति का साधन है, उसे ही सत्य मानकर हम सत्य से विमुक्त हो जाते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार सम्प्रदाय धर्म को घेरते नहीं फैलाते हैं।^२ सत्य का जिज्ञासु व्यक्ति उत्तरोत्तर मौलिक शरीर के बन्धनों से मुक्त होता हुआ आत्मतत्त्व के रहस्य को जानने में रत रहता है, भौतिकता उसे घेर नहीं पाती। उसी प्रकार सच्चा सम्प्रदाय मतवाद के द्वन्द्वों से परे मानव-हित के हेतु स्वयं को बन्धन-मुक्त करता जाता है। उसका जीवन मानव सेवा में ही समर्पित होता है।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने धर्म के सम्प्रदायगत रूप को स्पष्टतः स्वीकार किया है। किन्तु उनकी आस्था मानव-हित में ही केन्द्रित है। धर्म का गुण मैत्री उत्पन्न करता है। जैनेन्द्र के अनुसार 'धर्म वह है जिसे मानकर बुद्धि में नम्रता आती है और विद्रोह नहीं रहता।'^३ धार्मिक सम्प्रदायों की यदि धर्म के प्रति आस्था नहीं है तो वे व्यर्थ हैं। जैनेन्द्र के अनुसार बाह्याडम्बर से अधिक धर्म के प्रति आत्मिक श्रद्धा होनी चाहिए। आज लोगों की धर्म पर से श्रद्धा उठ गई है। मानव जीवन अर्थ और काममय ही हो गया है। यद्यपि अर्थ और काम भी जीवन के पुरुषार्थ हैं किन्तु उनका भी धर्ममय होना आवश्यक है।

धर्म और विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। सामान्यतः लोगों में विज्ञान के सम्बन्ध में एक भयावह दृष्टि व्याप्त है। उनके अनुसार वैज्ञानिक आविष्कारों

१ 'धर्म जिसे गला देता है, मत उसी को फुलाने लगा।'

—जैनेन्द्र . 'अनन्तर', पृ० ८५।

२ जैनेन्द्रकुमार . 'मन्थन', पृ० १७१।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० १३१।

ने जीवन को मशीन के सदृश्य बना दिया है, उसकी आत्मिक शक्ति विलुप्त हो गई है। सामान्यतः धर्म और विज्ञान दो विपरीत स्थितियाँ प्रतीत होती हैं। धर्म यदि हृदय की वस्तु है तो विज्ञान बुद्धि और तर्क की। धर्म के द्वारा हम आत्मतत्त्व को जानने का प्रयास करते हैं और विज्ञान द्वारा ब्रह्माण्ड में व्याप्त अणु-परमाणु के अन्तर्निहित सत्य को समझने का प्रयास किया जाता है। जैनेन्द्र धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टि अपनाकर चले हैं। उन्होंने धर्म और विज्ञान के मध्य की खाई को भरने का प्रयास किया है।^१ उनके अनुसार यदि धर्म आत्मा की वस्तु है तो विज्ञान शरीर की वस्तु है। दोनों का अटूट सम्बन्ध होना चाहिए। जैनेन्द्र के अनुसार आज धर्म का अस्तित्व स्थिर रखने के लिए उसके प्रति सच्ची श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धाहीन धर्म की कल्पना निराधार है। भारत धर्मप्रधान देश है। सामान्यतः भारतवर्ष को ही विश्व का एकमात्र धार्मिक प्रतिनिधि समझा जाता है किन्तु सत्यता इस से परे है। भारतवासियों में यह दम है कि वे अपनी आध्यात्मिकता के कारण ही उद्योग में पिछड़े हुए हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। धर्म का दिखावा करते हुए भी भारतीयों की आत्मा धर्म से मुक्त हो गई है। जैनेन्द्र अपने युग की उस स्थिति से पूर्णतः परिचित हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों में धार्मिक कमकाण्ड आदि के दर्शन नहीं होते। उन्होंने धर्म के जिस रूप को स्वीकार किया है, वह विज्ञानसम्मत है। उनके अनुसार वैज्ञानिक की सत्य के प्रति आस्था कभी भी समाप्त या मन्द नहीं होती। धर्म में सत्य के सम्बन्ध में विविध मतभेद हो सकते हैं, किन्तु विज्ञान में सत्य जो है वह है चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो सके या नहीं। वह सतत् कार्यशील रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक युग में एकमात्र गांधी ही धर्म के महान वैज्ञानिक हुए हैं।^२ विज्ञान का विषय 'पदार्थ' है। वह वस्तु के अनासक्त होकर उसके सार तत्त्व को ग्रहण करने में प्रयत्नशील है। धर्म में वस्तु और निज के प्रति अनासक्त भाव के दर्शन होते हैं। विज्ञान जीवन से ही सबद्ध है। मानव उपयोगिता से पृथक् होकर विज्ञान का कोई महत्व नहीं है। जैनेन्द्र ने धर्म को विज्ञानमय बनाने के हेतु उसकी आत्मा को ही ग्रहण किया है। कम के प्रति सतत् निष्ठा ही विज्ञान का धर्म है। वस्तु भली है या बुरी इससे विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का यही स्वरूप जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' में भी व्यक्त किया है।^३ धर्म के विज्ञान-सम्मत रूप को स्वीकार करने में धर्म

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्' १८६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्' १६०।

३ 'उपयोगी कर्म में अपने को भूलकर लगे रहना ही धर्म है।'

—जैनेन्द्र 'कल्याणी', दिल्ली।

के प्रचार का ग्राह्य नहीं होता। आग्रह बाह्य जगत् की वस्तु है, किन्तु वैज्ञानिक विज्ञापन में दूर अपनी प्रयोग-शाला में कार्यरत रहता है। उसकी नवीन खोजों का अनायास ही प्रचार हो जाता है, उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। जैनेन्द्र इसी तथ्य को दृष्टि में लेकर धर्म को भी सहज बनाना चाहते हैं, उसके प्रचार में उनकी आस्था नहीं। उनके अनुसार आस्था तो कर्म की धर्ममयता में होनी चाहिए, पन्ना में नहीं, जैनेन्द्र ने एक वैज्ञानिक के सदृश्य 'काश्मीर की यात्रा' में अपने जीवन को एक प्रयोग माना है।^१

जैनेन्द्र के अनुसार वैज्ञानिक यदि मानव-धर्म की ओर खिंचेगा तो एक ऐसे विश्वास और आस्था का जन्म होगा जो सामान्य प्रचलित अर्थ में भिन्न होगी। विश्वास निश्चित रूप से वह है जो सौ फीसदी तर्काश्रित नहीं है। वैज्ञानिक की समस्त प्रगति उसके अन्तर में निहित अटूट आस्था का ही परिणाम है। विज्ञान नितान्त बुद्धि-सम्मत होकर मानव जीवन की उपयोगिता से तटस्थ हो जाता है। विज्ञान की सार्थकता आस्थापरक होने में है। प्रायः ऐसे उदाहरण देगने को मिलते हैं, जब कि वैज्ञानिक अपनी प्रगति की चरमावस्था में सत हात हट देते जाते हैं।^२ जैनेन्द्र के अनुसार धर्म आस्था का विषय है, किन्तु कभी-कभी उसमें इतना तर्क-वितर्क उत्पन्न हो जाता है कि धर्म की मूल सवेदना नाश हो जाती है। विज्ञान का तर्क बुद्धि सम्मत और सत्य पर आधारित होता है। अन्ध्यात्मवादियों की ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विविध धारणाएँ प्रचलित हैं। जैनेन्द्र ने इस सत्य को अपनी एक कहानी में कोयले में आग के अस्तित्व के आधार पर दर्शाया है। तत्त्वज्ञानी कभी भी अपने सत्य का पूर्ण प्रतिपादन किए बिना गन्तुष्ट नहीं हो सकता। इस प्रयास में विवादियों में मार-पीट तथा की भी स्थिति आ जाती है, किन्तु कोई भी हार मानने को तैयार नहीं होता। जैनेन्द्र धर्म में बाल की खाल निकालने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार 'मुक्ता मुक्ती द्वारा तत्त्व निर्णय ही काल-ज्ञापन का एक उपाय नहीं है, अन्य भी अनेक कर्म हैं। जीवन उनसे भी चलता है, बल्कि बहस की जगह उन कामों को करना कुछ कहला सकता है।'^३ जैनेन्द्र की धार्मिक वैज्ञानिकता

१ जैनेन्द्र 'काश्मीर की वह यात्रा', पृ० ३६।

२ 'बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नहीं, बध्ना होती है। यह विश्वास बुद्धि का पूरक होता है। वह बुद्धि को नहीं, केवल उसके दम का नष्ट करता है और इस तरह केवल उसे नम्रता, नाजुकता ग्रहणशीलता देता है।

जैनेन्द्र 'समय और हम' पृ० ११७।

३ 'समाप्ति', पृ० ३०४-३०६।

४. जैनेन्द्रकुमार . 'समाप्ति', पृ० ३०५।

का आधार यही कर्मशीलता है, वाद-विवाद नहीं। जैन धर्म में अन्यविश्वासों और मिथ्या आडम्बरो का उन्मूलन धर्म के तर्क सम्मत रूप द्वारा ही किया गया है। यहाँ तर्कजाल न बिछाकर, कोरी भावना में बुद्धि का समावेश किया गया है।

धर्म और राजनीति

जैनेन्द्र के साहित्यिक-रचना का प्रारम्भिक काल राजनीतिक उथल-पुथल का काल था। चारों ओर गांधी का प्रभाव व्याप्त था। राजनीति को लोग धर्म से निरपेक्ष रखना चाहते थे।^१ उनके अनुसार राजनीति के हिंसात्मक धरातल पर धर्म को आरूढ़ नहीं किया जा सकता था। गांधी का जीवन आध्यात्मिकता और नैतिकता का स्पष्ट उदाहरण है। उन्होंने अपना सारा जीवन देश की राजनीति में ही लगाया था किन्तु राजनीतिक-परिवेश में रहते हुए भी वे राज-नेता नहीं थे। वह तो महान् धार्मिक और अध्यात्म पुरुष थे। उनके अनुसार राजनीति जीवन का अंग होने के कारण जीवन-धर्म से विमुख नहीं हो सकती। धर्म-निरपेक्ष राजनीति में मानव-कल्याण को विशेष प्रश्रय नहीं दिया जा सकता। उसमें राजनीति का तात्पर्य राजतंत्र से लिया जाता है। जैनेन्द्र ने अपने जीवन की आध्यात्मिकता को राजनीति में ढालने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र गांधी के युग में ही हुए हैं। वे गांधी के वाद से बंधे हुए नहीं हैं, किन्तु युगीन चेतना से वे स्वयं को पूर्णतः तटस्थ नहीं कर सके। जैनेन्द्र के अनुसार धर्म की साधना राजनेता जिस प्रकार सफलतापूर्वक कर पाता है, उतना धर्म का नेता नहीं।^२ धर्म भावात्मक है, राजनीति कर्मप्रधान है। धार्मिक सिद्धांतों और आदर्शों का सक्रिय और व्यवस्थित रूप ही राजनीति है। जैनेन्द्र के अनुसार सामान्यतः धर्म-निरपेक्षता के दो रूप देखने को मिलते हैं। एक वह रूप जिसमें धर्म के प्रति पूर्ण उपेक्षा भाव रहता है और दूसरा वह जिसमें किसी धर्म-विशेष को न स्वीकार करते हुए भी सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना दृष्टिगत होती है। राजनीति में जैनेन्द्र ने धर्म के जिस स्वरूप का समावेश करना चाहा है, वह उसका विज्ञानसम्मत रूप ही है। उसमें पूजा-व्रतादि को प्रश्रय न देकर धार्मिक श्रद्धा को विशेष महत्व दिया गया है। 'जयवर्धन' और 'मुक्तिबोध' में तथा कुछ कहानियों में उनकी इसी विचारधारा के दर्शन होते हैं। उनके अनुसार विभिन्न राष्ट्रों में धर्म-युद्ध की स्थिति ही स्वीकार की जा सकती है।^३ सीमा-

१ प० जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी', पृ० ५३१।

२ जैनेन्द्र 'जयवर्धन', पृ० ३६६।

विस्तार ओद्योगीकरण के विस्तार के हेतु होने वाला युद्ध पारस्परिक स्नेह को समाप्त कर देता है। जैनेन्द्र के अनुसार सघर्ष की स्थिति केवल सत् और असत्, न्याय और अन्याय के मध्य ही स्वीकार की जा सकती है। ऐसी स्थिति में युद्ध धर्म भावना से अनुप्राणित होकर परिचालित होता है। क्षत्रिय का धर्म सत्य की रक्षा के हेतु युद्ध करना है। यही उनका धर्म है। जैनेन्द्र व्यक्ति के धर्म को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की सीमाओं से मुक्त कर मानव धर्म के रूप में देखना चाहते हैं।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र व्यक्ति की सार्थकता धर्ममय होने में ही स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि 'गांधी के बाद हमने भौतिक पर ध्यान दिया है, नैतिक की तरफ दुर्लक्ष किया है, फिर भी उस नैतिक भाषा का उच्चार और उद्घोष करते आए हैं। ऐसे बाहर और अन्दर की स्थितियों में फर्क पड़ा और हमारी साख टूट रही है।'^२ जैनेन्द्र के अनुसार नेता त्याग और सेवा-भाव द्वारा ही धर्मवत आचरण कर सकता है, जो व्यक्ति सेवा के हेतु पद की कामना करते हैं, वे वास्तव में दुनिया को धोखा देते हैं। सेवाभावी के लिए पद का लोभ निरर्थक है, किन्तु राज्य-व्यवस्था के हेतु यदि नेतृत्व आवश्यक ही है तो यह आत्म केन्द्रित होना चाहिए। उसमें शासक की अपेक्षा सेवक का धर्म प्रमुख होना चाहिए।

जैनेन्द्र की दृष्टि में अहिंसा

जैनेन्द्र की धार्मिक-दृष्टि व्यक्ति की ही समस्या का समाधान न होकर अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वव्यापी समस्या का समाधान है। उसमें राष्ट्रवाद का निषेध किया गया है। जैनेन्द्र की अहिंसक दृष्टि सत्य को सीमित करने के पक्ष में नहीं है। उनके साहित्य की आत्मा अह-विसर्जन और अहिंसा में ही निहित है। जैनेन्द्र के अनुसार अहिंसा एक अखंड सत्य है, यह आत्मिक धर्म है। अहिंसा धर्म के लिए कोई अपवाद नहीं है। क्योंकि वह परम धर्म है। परम धर्म तो निरपवाद होता ही है।^३ व्यक्ति, परिस्थिति और देश-काल आदि के भेद से उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैनेन्द्र ने स्वधर्म के पालन पर विशेष बल दिया है। स्वधर्म-पालन के मूल में उनकी अहिंसक नीति ही विद्यमान है।

१. जैनेन्द्र 'कालधर्म' (जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियाँ), दिल्ली, १९६९, पृ० २३६—'राज्य मानव धर्म के सिद्धांतों के अनुसार चलना चाहिए।' 'काल धर्म', पृ० २३५।

२. जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ५०।

३. जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', १९५६, पृ० १४७।

उनके अनुसार जब तक हम अपूर्ण हैं, अशुद्ध हैं तब तक हमारा धर्म अहिंसा है। किसी के धर्म पर चोट करना हिंसा ही है। जैनेन्द्र की अहिंसक नीति शारीरिक हिंसा तक ही सीमित न होकर मन और वरुणित अहिंसा में भी व्याप्त है।

अहिंसा जैनेन्द्र की धार्मिक विचारधारा का मूलधार है। अहिंसा वह प्राण-तत्त्व है, जिसमें विमुक्त होकर धर्म टिक नहीं सकता। जैन धर्म में अहिंसा पर बहुत अधिक जोर दिया है। उनकी अहिंसक नीति तो विश्व-विख्यात है। जैन धर्म में अहिंसा का बहुत काठोरता से पालन किया गया, उसमें लचक नहीं है। जैनेन्द्र ने अहिंसा को मानव-धर्म में अन्तर्निहित करके रचना की है। जैनेन्द्र के अनुसार अहिंसा बाह्याचरण से अधिक आन्तरिक प्रेम और निष्ठा में विद्यमान होनी चाहिए। अप्रेम के वशीभूत होकर किया गया प्राणघात ही वास्तविक हिंसा का द्योतक है, अन्यथा देह के मरने या मारने मात्र में हिंसा नहीं है।^१ कारण, प्रेम ही भगवान् है, वह प्रेम का घात भगवद् घात होगा, हिंसा वही है। प्रेम निष्ठा, भगवद् निष्ठा अहिंसा है।^२

जैनेन्द्र ने स्व-धर्म-पालन में होने वाली हिंसा को पाप नहीं माना है। सामान्यरूप से उन्होंने जीव हिंसा को बहुत बड़ा पाप माना है। विचारगत चोट भी उनकी दृष्टि में हिंसात्मक ही है, किन्तु स्वधर्म पालन में वही हिंसा व्यक्ति का कर्तव्य हो जाती है, क्योंकि स्वधर्म पालन ही मानव-धर्म है। यद्यपि हिंसा का यह कर्मनिरपेक्ष दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है, किन्तु सापेक्ष दृष्टि से कर्तव्यच्युत व्यक्ति अवर्मान्मुख ही समझा जायगा। वस्तुतः जैनेन्द्र की विचारधारा गतिशीलता की परिचायक है।^३ उसमें जडता और रूढ़िबद्धता नहीं है। कर्तव्य की पूर्ति के लिए हृदय के मधुर भावों का भी उत्सर्ग करना पड़ता है। जैनेन्द्र की 'निर्मम' कहानी इस बात का स्पष्ट उदाहरण है, उसमें हमें गीता के कर्मयोग और निष्काम भाव के दर्शन होते हैं। शिवा सैन्य दल की हिंसा से घबड़ा कर अपने हृदय की प्यास को प्रेम के द्वारा तृप्त करना चाहता है, किन्तु गुरु का

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० १४८।

'देह के जीने मरने से उसका (अहिंसा का) सम्बन्ध नहीं है। मैं सब बार बार मारू या सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों में, इस सबसे अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर अपने भीतर के प्रेम को मरने दू तो मुझसे अपराधी कौन होगा ?'

२ जैनेन्द्र कुमार 'जयवर्धन', पृ० १४८।

३ साम्य गांधी 'गांधी विचार दोहन,' अहिंसा का भाव दृश्य परिणामों से अधिक अंतःकरण की रागद्वेष-विहीन अवस्था में है।

आदेश उसे कर्तव्यबद्ध कर देता है।^१ यह सत्य है कि पाचीन काल से ही स्व-धर्म पालन ही व्यक्ति का धर्म रहा है। गीता का समस्त ज्ञान अर्जुन को स्वधर्मोन्मुख करने के लिए ही कृष्ण द्वारा प्रतिफलित हुआ है।^२ जैनेन्द्र की कहानियों और उपन्यासों में अन्यत्र भी इस कर्मनिष्ठा के दर्शन होते हैं। उन्होंने कर्मनिष्ठा में भी निष्काम भावना को प्रादुर्भूत करने का प्रयास किया है। निष्काम भाव से किया गया कार्य त्याग और परहित की भावना से मुक्त होता है। कामनायुक्त कर्म में व्यक्ति स्वहित की ओर अधिक प्राकृष्ट होता है। इसलिए 'निर्मम' कहानी में गुरु शिष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं—“जाओ शिव का कर्म करो। शका न करो आकाशा न करा।”^३

जैनेन्द्र के विचार—ग्राही और जैन दर्शन

जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत 'स्याद्वाद' है। जैनेन्द्र को अनुसार 'स्याद्वाद' ग्रहिसा का बौद्धिक प्ररूपण है। जो भी कथन अपने-आप में सापेक्ष हो वह निरपेक्ष भाव से पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए कथन के सामने प्रतिकथन भी प्रनिवार्य है। यह भावना स्यात् की अपेक्षा से प्राप्त है। 'स्यात्' के कारण अनेक वाद परस्पर प्रतिकूल न होकर अपनी अपनी जगह सगं गं हो सकते हैं। इसको अनेकांत भी कहा गया है। स्याद्वाद में तनिक भिन्नता यह है कि प्रत्येक कथन स्वयं अपने अस्तित्व और नास्तित्व दोनों में वह वास्तविकता समाविष्ट है कि 'यह वस्तु नहीं है।'

स्याद्वाद अथवा अनेकांत दोनों बौद्धिक क्षेत्र में ग्रहिसा की वर्तनी के केन्द्र हैं और यह ग्रहिसा वही मूल तत्व स्व पर बोधक है। इसीलिए स्याद्वाद पर टीका हो सकी है कि वह मन और आचार की शिथिलता का सूचक माना गया है। किन्तु जैनियों ने जितना स्याद्वाद पर बल दिया है उससे कम सम्भव दशन पर नहीं है। इसमें श्रद्धा की अविचलता का निदर्शन होता है। सम्भव दर्शन आत्म, अस्त है और हो सकता है। उसमें कही किसी समझौते की आवश्यकता नहीं है।

१ 'जो चीज तुम्हें दुःख पहुंचाती है, हिंसा वही करने के लिए तुम बान्ध हो। यश-प्रतिष्ठा जिससे तुम भागना चाहते हो वे ही तुम्हें निपटानी पड़नी है, किन्तु मैं समझता हूं शिव का वह विराट उत्सर्ग का अवसर है। 'तब जो तुम जैसे विरलो को मिलता है, तुम खोओगे नहीं।'

- जैनेन्द्र -- 'जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियाँ' (गिमंग), पृ० ४६।

२ गीता - २ अध्याय (श्लोक ११ में पूरा अध्याय)

३ जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० ४६।

वह ऊपर से नीचे तक विरोधाभास लगाए हुए है। सम्यक् दर्शन का स्याद्वाद से मेल नहीं, किन्तु तत्त्व की भूमिका पर चाहे जैसा विरोध दीखता हो जीवन में सामंजस्य सहज फलित हो सकता है।^१

जैन दर्शन में एक ओर दृष्टि की मापेक्षता के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर आग्रह प्रदान है। वस्तुतः 'स्याद्वाद और सम्यक् दर्शन' परस्पर विरोधी हैं। यद्यपि जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक भूमिका पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उनमें कोई संगति नहीं है। यही कारण है कि जैनियों की अहिंसा का सिद्धांत भी सैद्धान्तिक ही रह जाता है। जैनियों के विचार में बौद्धिक निरूपण अधिक है, श्रद्धा का अभाव है।

गांधी ने 'सत्याग्रह', द्वारा सिद्धांत और व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। गांधी दर्शन अद्वैतवाद का पोषक है। जैन दर्शन द्वैतमूलक है। एक में बौद्धिक अभिमत प्रदान है तो दूसरे में तात्त्विक सत्य की प्रदानता है। जैनियों में बौद्धिक दृढ़ता आती है, गांधी के सिद्धान्त में कर्म की दृढ़ता आती है, बौद्धिक सकीर्णता नहीं आती है। जैनेन्द्र के अनुसार जैनी अहिंसा की वारणा करुणामयी है। अद्वैत से उद्भूत नहीं है। इसलिए उसमें जीव दया का अतिरेक भी हो जाता है। जैनी अहिंसा में जीवन की मरणाशीलता कम हो जाती है जब कि गांधी जी की अहिंसा ऐक्य मूलक है। जैनी अहिंसा स्वकेन्द्रित होती है। जैन दर्शन में 'ये करो, ये न करो' की प्रवृत्ति बहुत अधिक मिलती है। निषेध के द्वारा जीवन की पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। गांधी दर्शन में व्यावहारिक जीवन की पूर्णता अथवा ऐक्य के दर्शन होते हैं। जैन दर्शन में ग्रहीत अहिंसा की जाती है और की जा सकती है, जब कि आस्तिक्य वाली अहिंसा बाहर की नहीं जा सकती है अर्थात् अहिंसा कर्म का विशेषण अथवा लक्षण नहीं रह जाती, प्रत्युत जीवन से तद्गत होती जाती है। उस अहिंसा का स्वरूप बाहर से हिंसा जैसा ही लग जाए तो असम्भव नहीं है। किन्तु जैन दर्शन में हिंसा को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता। गांधी दर्शन में अद्वैत भाव की प्रधानता है जिसके कारण 'स्व पर' में कोई अन्तर नहीं है। 'पर' को कष्ट से मुक्त करने में 'स्व' द्वारा हिंसा नहीं, वरन् अपरोक्षरूप से वर्म का ही सेवन होता है। गांधी जी ने अपने रुग्ण, मरणासन्न बछड़े के कष्ट को असहनीय समझकर उसे जीव-मुक्ति देने में ही धर्म का अंश स्वीकार किया, किन्तु जैन धर्म कभी भी ऐसा नहीं कर सकता।

जैनेन्द्र के साहित्य में 'हत्या' शीर्षक कहानी उपरोक्त तथ्य की सत्यता को

प्रमाणित करने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। उसमें लेखक ने एक ओर पूर्ण अहिंसक अर्थात् जैनी की 'स्व पर' मूलक करुणा की ओर इंगित किया है तो दूसरी ओर आस्तिकता प्रधान अद्वैतमूलक सत्य की ओर संकेत किया है। अन्त में अद्वैतवादी व्यक्ति आस्तिक होते हुए भी 'घोड़ी' की जीवनमुक्ति में धर्म की भूलक देखता हुआ उसे अपनी गोली का शिकार बना लेता है। घोड़ी के मालिक ओवरमियर के हृदय में अपनी पुरानी घोड़ी के लिए घर के आत्मीय सम्बन्धियों के सदृश्य ही अपार प्रेम है। वे उसके कष्ट को देखकर बहुत दुखी रहते हैं किन्तु दूसरे अंग्रेज सज्जन के हृदय में भी दया कम नहीं है। किन्तु उनकी दया घोड़ी को मरता हुआ नहीं रहने देना चाहती।^१ इस प्रकार उपरोक्त घटना द्वारा गांधी की अहिंसा और जैन दर्शन की अहिंसा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जैनेन्द्र पर गांधी की ही अहिंसा का प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र ने भी कर्म से अधिक भावना पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में 'स्व-पर' भिन्न नहीं है। इसलिए 'पर' की दुख से मुक्ति अनिवार्य है।

जैनेन्द्र-साहित्य में अहिंसा विविध सन्दर्भों में दृष्टिगत होती है। उन्होंने अपने उपन्यास के पात्रों के चित्रण में अपनी पूर्ण अहिंसक नीति का ही परिचय दिया है। वे किसी के हृदय के प्रेम को चोट नहीं पहुँचाना चाहते। उनके पात्र स्वयं तिल-तिल कर मर जाते हैं किन्तु अपने कारण किसी को कष्ट नहीं देते। 'परख' में कटो तथा 'त्यागपत्र' की मृणाल उनके ऐसे ही पात्र हैं, जिनका जीवन कष्ट भेलने में ही बीतता है। 'परख' अपने प्रेमी पात्र की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है। वह नहीं चाहती कि उसके कारण उसके प्रेमी की कष्ट हो। 'त्यागपत्र' में मृणाल का जीवन व्यथा से पूर्ण है। किन्तु अपनी व्यथा को वह बाटना नहीं चाहती। वह नहीं चाहती कि उसके कारण उसका भतीजा कष्ट पाये। इन दोनों उपन्यासों में जैनेन्द्र ने निज की व्यथा को सहने में ही अपनी अहिंसक नीति का परिचय दिया है। 'सुखदा', 'विवर्त' में भी जैनेन्द्र ने सुखदा और भुवन मोहिनी के पति को उनके प्यार की रक्षा के हेतु कष्ट सहते हुए दिखाया है, किन्तु उपरोक्त उपन्यासों में इन उपन्यासों की स्थिति में अन्तर है। उनके त्याग की चरम सीमा थी, त्याग सहर्ष था, किन्तु इन उपन्यासों में पुरुष पात्रों की दुर्बलता का ही परिचय मिलता है। यदि यह कहा जाय कि वे अपनी अहिंसक नीति के कारण पत्नी के मार्ग में बाधा नहीं उत्पन्न करते तो उचित नहीं प्रतीत होगा। 'सुखदा' और 'विवर्त' के पुरुष पात्र बहुत कायर से प्रतीत होते हैं। अहिंसा साहस में है, विवशता में नहीं।

अपरिग्रह

जैनेन्द्र ने अहिंसा के अतिरिक्त अपरिग्रह, सेवा, त्याग आदि भावों को भी जीवन की वर्ममयता के लिए आवश्यक माना है। अहिंसा में ही अपरिग्रह गर्भित होता है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक जो परिग्रही प्रवृत्ति देखने को मिलती है, वह मनुष्य की परिग्रही प्रवृत्ति या ही परिणाम है। अधिक से अधिक बटोरने की अभिलाषा से ही हम एक-दूसरे की वस्तु का अग्रहण करते हैं और इस छीन-झपट में हिंसा का प्रवेश स्वाभाविक है। वस्तुतः जीवन की अहिंसात्मक नीति के लिए अपरिग्रहिता अनिवार्य है। जैन धर्म में अति सचय की प्रवृत्ति का निषेध किया गया है और दिग्भ्रमर सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस दृष्टि से बहुत ही कठोर हैं। उनकी अपरिग्रही दृष्टि जीवन को बहुत ही सादा और नीरस बना देती है। बाह्य-शुष्कता मन की समस्त कोमल भावनाओं को नष्ट कर देती है किन्तु अहिंसक के लिए सहृदय होना आवश्यक है। जैनेन्द्र आने जीवन और साहित्य में मध्यम मार्ग को अपना कर चले हैं। उनके अनुसार ईश्वरोन्मुख को छोड़कर किसी भी मार्ग की एकोन्मुखता स्वाभाविक नहीं है। वर्म हृदय की वस्तु है अतः अपरिग्रह की भावना हृदय में प्रादुर्भूत होनी चाहिए, क्योंकि प्रायः बाह्य जीवन में अपरिग्रही दिग्दर्शन देने से व्यक्ति की वस्तु के प्रति बहुत अधिक आसक्ति होती है। अतः अनासक्त भाव से ग्रहण की गई कोई भी निधि व्यक्ति को उसके धर्म से नहीं गिरा सकती। जैनेन्द्र के अनुसार 'अपरिग्रह की कृतार्थता वस्तु के अछूते रहने में नहीं है, वस्तु के मध्य खुले रहने में है।'^१ वस्तुतः जैनेन्द्र ने किसी भी सिद्धांत का ग्रन्थानुकरण नहीं किया है। उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-बुद्ध के दर्शन होते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब वस्तु या किसी प्रवृत्ति पर अत्यधिक दबाव डाला जाता है तो उसमें विस्फोट होना स्वाभाविक होता है। जिस कार्य का अधिक से अधिक निषेध किया जाता है उस कार्य की ओर उन्मुख होने के लिए हम अधिक लालायित रहते हैं। धन के या वस्तु के प्रतिनिषेध से उसकी कामना बढ़ती ही जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार हमारी प्रवृत्ति सहज होनी चाहिए। उनके अनुसार जैनियों की अतिअपरिग्रहता का ही परिणाम है कि आज अविकाश जैनी निरपवाद भाव से वैश्यवर्गी हैं। जैन धर्म के मूल सिद्धांत और जैनियों के वर्तमान जीवन में बहुत अन्तर है और यह स्थिति स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि जगल में रहने वाला व्यक्ति

अपरिग्रही हो।^१ उसकी तृष्णा नहीं समाप्त होती। विवशता में वस्तु का अभाव अपरिग्रह नहीं है। जब की वस्तु के होते हुए भी उसमें वासना नहीं होती तभी अपरिग्रह के वास्तविक रूप का प्रतिपादन होता है। अपरिग्रह अभावात्मक नहीं, वरन् सद्भावात्मक स्थिति है।^२ जैनेन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति विविध सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। जैनेन्द्र के जीवन में भी उनकी अपरिग्रहिता के दर्शन होते हैं। सदैव कम-से-कम में ही वे कार्य करने में सन्तुष्ट रहते थे। उनका जीवन आडम्बर से दूर नितान्त सादा है। उनके अनुसार त्याग में अहङ्गन्यता होनी चाहिए। सर्वसुख का त्याग करने वाले व्यक्ति में भी यदि अपने इस कर्म का बोध बना रहता है और वह यह सोचता है कि मेने यह त्याग किया है, तो वह कभी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। 'बाहुबली' में बाहुबली समस्त राज्य-सुखों को त्यागकर भी कैवल्य गति नहीं प्राप्त कर पाता, किन्तु उसका भाई चक्रवती भरत राज्य भोग करता हुआ भी सहज ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वह ससार में रहकर भी अनामवत, विनम्र और निरहकारी होता है, किन्तु बाहुबली को अपने तप और अविजित होने का बोध बना रहता है, जब वह अपने त्याग की महत्ता को भूल जाता है तभी वह मुक्त पुरुष बन जाता है।^३ 'लाल सरोवर' में वैरागी अत्यधिक विनम्र है वह अपने महत्त्व से अनभिज्ञ है। त्याग, सेवा और परहित की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। उसे धन की आवश्यकता नहीं है, अतः उसकी (धन की) प्राप्ति उसे कष्ट देती है, क्योंकि धन समस्त अनर्थों का मूल है।^४ परिग्रह यदि मानव-हित की भावना से किया जाता है तो यह स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु स्वार्थान्ध व्यक्ति की परिग्रही प्रवृत्ति सघर्ष का कारण है।

सामान्यरूप से जैनेन्द्र ने धन के प्रति अनासक्ति में ही अपरिग्रह के आदर्श की कल्पना की है, किन्तु भावना की पवित्रता के साथ ही साथ कर्मण्यता की भी आवश्यकता अपरिहार्य है। जैनेन्द्र अपने जीवन में अधिक कर्मशील नहीं रहे हैं। जो कार्य ऊपरी दबाव के कारण हो जाता, उतना ही उनके लिए पर्याप्त होता है। अपनी ओर से वे अधिक सचेष्ट नहीं हैं। उनके साहित्य में भी इसी प्रवृत्ति

१ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १११।

२ जैनेन्द्र 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १११।

३ 'बाहुबली' 'जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १७८।

४ 'बाहुबली' 'लाल सरोवर', पृ० १७८।

“अनेकानेक अनर्थों का मूल यह स्वर्ण कहा मुझमें आ गया। हे भगवान्, मुझको ऐसा कठोर दण्ड तुमने क्यों दिया?”, पृ० २६३।

के दर्शन होते हैं। किसी के ऊपर आश्रित रहकर किसी प्रकार जीवनयापन करना अपरिग्रह नहीं, वरन् व्यक्ति की असली मनोवृत्ति का ही परिचायक है। जैनेन्द्र के मामा भगवानदीन के जीवन पर जैन धर्म के आदर्शों की गहरी छाप देखने को मिलती है, जैनेन्द्र उनके प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। 'काश्मीर की वह यात्रा' उनकी अपरिग्रही प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। भगवानदीन के आदेश से अमरनाथ की यात्रा में वे अपने पास का एक-एक पैसा त्याग देते हैं। मार्ग के खर्च के लिए वे ईश्वर के आश्रित रहते हैं। उन्होंने वहाँ अपने जीवन को साधु के जीवन में ढालने का प्रयास किया था। यद्यपि साधु गृहस्थ धर्म के बन्धनों से मुक्त होकर दूसरों के सहारे जीवनयापन कर सकता है, किन्तु साधु के जीवन और गृहस्थ जीवन में अन्तर है। धर्म समाज-सापेक्ष है। असामाजिक होकर धार्मिक व्यक्ति के कर्तव्यों की कोई सार्थकता नहीं है। ससार में रहकर जीवनयापन के लिए धन का संग्रह आवश्यक है, किन्तु जैनेन्द्र एक स्थल पर कहते हैं—'कमाई एक चिन्ता का चक्कर है। सोचा कि जीवन वह जीकर देखना चाहिए, जहाँ स्वयं जीविका प्रश्न न हो और आस्तिक चिन्ता का विषय न हो। वह जीवन बन्धन से हीन होगा और मुक्ति का क्या अर्थ है?'^१ किन्तु जीवन के सघर्ष से घबड़ा कर ससार से मुक्ति लेने वाला व्यक्ति कभी भी महान नहीं हो सकता। मनुष्य का पुरुषार्थ कर्मशील होने में है। 'अनन्तर' में भी एक स्थल पर ऐसे ही विचारों के दर्शन होते हैं— 'तुम जैसी कोई जो पैसे से समर्थ हो और मैं उसकी सेवा पर होकर सर्वथा अपरिग्रही बन जाऊँ'^२ उनके इन विचारों से यह स्पष्ट व्यक्त है कि जैनेन्द्र ने 'अनन्तर' में प्रसाद को धन के प्रति आसक्त होते हुए भी अपरिग्रही होने के हेतु प्रयत्नशील बनाया है। सम्भवतः यह जैनेन्द्र की अनिश्चित विचारधारा का ही परिणाम है। प्रायः उनके सिद्धान्तों और पात्रों के आचरण में भिन्नता मिलती है। स्वयं धन के लिए प्रयत्नशील न होना पड़े, क्योंकि परिग्रह की प्रवृत्ति प्रयत्न में से उत्पन्न होती है।^३ किन्तु धन किसी-न-किसी स्रोत से बहकर आता रहे। इस प्रकार भावना और कर्म दोनों में दोष उत्पन्न हो जाता है। उपर्युक्त उद्धरण को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वह जैनेन्द्र के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करता, वह किसी सामान्य पात्र द्वारा व्यक्त विचार होंगे, क्योंकि उनके जीवन और

१ जैनेन्द्र कुमार 'काश्मीर की वह यात्रा', पृ० ६७।

२ जैनेन्द्र कुमार 'अनन्तर', पृ० ६१।

३ 'सास हम अनायास लेते हैं। उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है तब उसे सास का रोग कहते हैं।' —जैनेन्द्रकुमार . 'मन्थन'।

अनन्तर के प्रसाद के जीवन और विचारों में कोई अन्तर नहीं है।

जैनेन्द्र के विचारों के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा नहीं निर्धारित की जा सकती। उनके साहित्य का सैद्धान्तिक पक्ष उनके गंभीर चिन्तन-मनन का परिणाम प्रतीत होता है, किन्तु उनके साहित्य सृजनात्मक पक्ष के यत्र-तत्र उनके सिद्धांतों का अनुसरण नहीं हो पाया है। जब वे सिद्धांत और रचना में साम्य स्थापित करके चलते हैं तभी उनके विचारों में परिपक्वता के दर्शन होते हैं। अपरिग्रह धर्म का अनिवार्य अंग है। आदिकाल से ही ऋषि-मुनियों के जीवन और तत्कालीन साहित्य में हमें अपरिग्रही प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, किन्तु समय के साथ उसके प्रयोग के ढंग में अन्तर आना स्वाभाविक था। राजा-महाराजाओं के युग में समस्त सत्ता तथा अर्थ का केन्द्रीयकरण राजा के नियंत्रण में होता था, किन्तु प्रजातंत्र में सत्ता या धन व्यक्ति की केन्द्रित नहीं हो सकता। गांधी जी ने इसीलिए एक नवीन मार्ग का प्रतिपादन किया है। जैन तीर्थंकर की कठोर अपरिग्रहिता से पृथक् गांधी जी की अपरिग्रही नीति ट्रस्टीशिप पर आधारित है। जैनेन्द्र के अनुसार इस नीति के पालन द्वारा अपरिग्रही का धर्म भी पूर्ण हो जाता है और सामाजिक आवश्यकताओं पर आघात नहीं पहुँचता। उनके अनुसार जिस प्रकार मानव-शरीर की सार्थकता समष्टि की सेवा और कल्याण में निहित होने में है, उसी प्रकार व्यक्ति का धन समष्टि की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होना चाहिए। गांधी जी का जीवन अपरिग्रहिता का महान उदाहरण है, फिर भी उन्होंने कभी मिलते हुए धन को अस्वीकार नहीं किया। जहाँ से भी धन मिला वे सचित करते रहे, उन्होंने एक-एक पैसे का हिसाब रखा। जैनेन्द्र के विचारों पर गांधी की ट्रस्टीशिप का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'अनन्तर' में जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि गांधीजी से पूर्णतः प्रभावित प्रतीत होती है।^१ उनके अनुसार धन का सग्रह पाप नहीं है, यदि व्यक्ति की उसके प्रति कोई वासना न हो। धन का सग्रह सार्वजनिक हित के लिए होना चाहिए। आजकल जिस प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय आस्थाहीन हो गये हैं, उसी प्रकार बहुत से स्वार्थी व्यक्ति सार्वजनिक धन के स्वार्थ-साधन चाहते हैं। जैनेन्द्र ने सार्वजनिक राशि को व्यक्तिगत स्वार्थ से पृथक् रखने का

१ 'गांधी जी ने सब राजाओं को समाप्त करना चाहा था। और वह चाहते वैसे आप ट्रस्टी बने ही हैं। भीतर से अनासक्त हैं, तो प्रजा की ओर से आपको मिला यह ट्रस्ट प्रजा का हित ही करेगा और आपकी आत्मा का भी अहित नहीं करेगा' — 'अनन्तर', पृ० ११६।

प्रयास किया है।^१ 'अनन्तर' में शान्ति धाम की स्थापना के हेतु सहायता, अमीरों के खजाने से प्राप्त होती है।^२ जैनेन्द्र धार्मिक सस्थाओं अथवा अन्य जन हितकारी सस्थाओं के हेतु प्राप्त होने वाले धन के मूल में आस्था के अभाव अथवा अविनय को नहीं स्वीकार करते, उनके अनुसार दबाव अथवा गर्व की भावना से दिया गया धन धार्मिकता पर आघात करता है।^३

वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार अपरिग्रह धम-नीति का अनिवार्य अंग है। अपरिग्रही आचरण द्वारा हमें जीवन के सत्य का बोध हो सकता है। ससार में कोई कुछ लेकर नहीं आता और न कुछ साथ लेकर जा सकता है। वस्तु या धन के मग्न हमें व्यक्ति का मैं प्रबल हो उठता है। 'यह मेरा है', 'यह तेरा है' यही भावना संघर्ष की प्रेरक बनती है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना के लिए अपरिग्रह को आवश्यक माना है। अपरिग्रह द्वारा हम बिना रक्त क्रांति के साम्यवाद की स्थापना कर सकते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार ससार मिथ्या है, मानव-शरीर नश्वर है। अतः सचय की प्रवृत्ति निरर्थक ही सिद्ध होती है।^४ अपार धनराशि के होते हुए व्यक्ति स्वयं को उस समस्त राशि में फँसा नहीं सकता। धन का गर्व उसके अहं को फुला सकता है किन्तु शरीर तो सीमित ही रहता है। जैनेन्द्र जीवन को तत्त्वज्ञानी के सदृश्य समझने का प्रयास करते हैं। उनकी दृष्टि में परिग्रह परहित में सन्निहित होकर ही सार्थक है, अन्यथा उसका कोई महत्व नहीं है।^५

- १ 'अनन्तर'—'आप लोग सार्वजनिक पैसा रखते हैं, जिसमें मेरा हक नहीं पहुँचता और इसलिए पैसा मुझे पास लेना पड़ता है।' पृ० १४१।
- २ 'रुपया जिसके पास गया उसका है। जी नहीं, समाज का है और धन-वाले सिर्फ खजांची हैं कि आज जो सेवक है उनके हुक्म पर रुपया देते रहे।' —'अनन्तर', पृ० १६१।
- ३ 'अनन्तर', पृ० १६०।
- ४ 'पदार्थों को बटोर कर उनके बीच हमने रुकना चाहा, यही हमारी भूल है। क्या कोई कभी रुक सका है?' —जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० २३८।
- ५ 'जिसके पास सब कुछ है, वही उस सब जो कुछ को छोड़कर दो हाथ भर जगह ही बस अपना सका है। बिछी खाट पर गृहपति का अस्तित्व कितने संक्षेपस्थ में समाप्त मालूम होता है। बाकी जो कुछ है सो उसका होने के लिए नहीं है बाकी सब कुछ उससे पराया है। उसकी निजता इसमें आगे नहीं है।—जैनेन्द्र 'वह अनुभव' (जैनेन्द्र की कहानियाँ), पृ० १२७।

परहित

जैनेन्द्र के अनुसार मानव-धर्म परहित की भावना पर आधारित होना चाहिए, उसमें ग्रह विसर्जन के भाव सन्निहित होने चाहिए। जैनेन्द्र धर्म में तप अथवा काया-क्लेश को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग माना गया है। उनकी धारणा है कि शरीर को अधिक-से-अधिक कष्ट देकर व्यक्ति इन्द्रियो को संयमित कर लेता है, उसकी सासारिक विषयो में वासना नहीं रहती। जैनेन्द्र के अनुसार हमारा ध्यान, जो त्याग किया है, उसकी ओर न केन्द्रित होकर, जिसे प्राप्त किया है, उस ओर केन्द्रित होना चाहिए। शरीर व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, उसे समष्टि की सेवा में रत होना चाहिए। धर्म सामाजिक कृत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार जो लोग ससार से विरक्त होकर धार्मिक होने का प्रयास करते हैं, वह उनका ढोंग है।

जैनेन्द्र के अनुसार काया-क्लेश के द्वारा हम अपनी आत्मा के रस को सुखा देते हैं। बूद का अस्तित्व समुद्र की अपेक्षा में ही सम्भव है। समुद्र से पृथक् होकर उसका अस्तित्व स्थिर रही रह सकता।^१ जैनेन्द्र के अनुसार जैन धर्म में 'तप' ही कैवल्य प्राप्ति का मार्ग है। महावीर स्वामी ने तप द्वारा कैवल्य गति प्राप्त की थी, किन्तु वे तपस्या के बाद स्वयं के न रहकर, समष्टि मानव बन गये थे। वे एक महान विभूति थे। वे अपवाद हैं। सामान्यतः कायिक तपश्चर्या ग्रह के पोषण में सहायक होती है। 'बाहुबली' में बाहुबली अपने तपश्चर्या-काल में ससार से विरक्त होकर जिन वन में काया को क्लेश दे रहे थे। किन्तु व्यक्ति की महानता उसके ससार के प्रति सुगम होने में है, ससार उससे लाभान्वित हो सके यही उसका धर्म है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने 'बाहुबली' को मानव धर्मी बनाने के हेतु उसे तपस्या से विमुख कर जनहित की ओर केन्द्रित किया है।^२ तपस्या से मुक्त होकर वे मानव हो जाते हैं।

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्' दिल्ली १९६२, पृ० १९६।

'काया क्लेश की उग्रता को जब तपस्या और साधन माना जाता है तो उसके नीचे धारणा यही है कि व्यक्ति स्वयं अपना है, वह अपने को सुखा सकता, गला सकता है, मार सकता है, वह स्वयं में अपने को मुक्त कर सकता है। शेष अन्य पर है, वह स्वयं स्वयं है। यह एकान्तिक धारणा व्यक्ति को अपने सदर्थ से तोड़ देती है।'

२ 'मैं सब के प्रति सदा सुप्राप्त होने की स्थिति में अब रहूंगा...' बाहुबली ने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थिया सब खुल गई थी। अब उन्हें किस ओर से बढ़ रहने की आवश्यकता थी? वे चहुँ ओर खुले सब के प्रति सुगम रहने लगे थे।' — 'बाहुबली', पृ० १७६।

वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार धर्म का वास्तविक रूप 'स्व' के विसर्जन में ही निहित है। आदिकाल से ही जितनी भी महान आत्माएँ हुई, उनका जीवन परहित के लिए ही समर्पित रहा है।^१

जीवन में धर्म की आवश्यकता

जैनेन्द्र के अनुसार धर्म जीवन का अनिवार्य अंग है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।^२ मोक्ष जीवन का लक्ष्य है। अर्थ और काम जीवन के दो तट हैं, इन दोनों तटों के मध्य धर्म रूपी सरिता का प्रवाह ही जीवन को सफल बना सकता है। मानव जीवन के समस्त कर्मों की सार्थकता उसके धर्ममय होने में है। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में मानव जीवन धर्म से कटता जा रहा है। धन और उसका भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया है। धन के ठेकेदार लोग बड़ी से बड़ी इण्डस्ट्री का निर्माण करते हैं, पैसा उनके पास खिचता आता है। उनका शरीर फूलता जाता है, किन्तु आत्मा सूखती जा रही है। मशीन के युग में वे मशीन के सदृश्य ही निर्जीव होते जा रहे हैं। आज का साहित्यकार भी जीवन के यथातथ्य चित्रण में ही रत है, उसी में उसे आनन्द मिलता है, किन्तु साहित्य का उद्देश्य कोरा यथार्थोन्मुख होने में नहीं हो सकता। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास और कहानियों में अधिकांशतः ऐसे लोगों का चित्रण किया है, जिनके लिए अर्थ और काम प्रमुख हैं, धर्म का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है, और न ही उसके प्रति उनमें कोई जिज्ञासा ही है।^३

'विवर्त', 'कल्याणी', 'अनन्तर', 'मुक्तिबोध' आदि उपन्यासों में उन्होंने अर्थलिप्सु व्यक्तियों का चित्रण किया है। पाश्चात्य सभ्यता के रोगे हुए उनके पात्र भारतीय धर्म की आत्मा से मुक्त हैं। 'अनन्तर' में जया अति मौलिकता से घबड़ाकर ही 'शांति धाम' की स्थापना करती है। उसके अनुसार जीवन भोगाभिमुख होता जा रहा है—उसने सकल्प बाधा है कि इस गिराव को

१ 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीडा सम नहि अब भाई।'

—तुलसीदास 'रामचरितमानस'।

२ जैनेन्द्र 'प्रश्न और प्रश्न', दिल्ली, १९६६, पृ० २६५।

३ जैनेन्द्र कुमार 'अनन्तर',—'ये धाम धाम (शांति धाम) मैं नहीं समझता। जिसमें रहता हूँ वही समझता हूँ। रुपया समझता हूँ। यह भी समझता हूँ, कि सब मुझे उसी के लिए समझते हैं। मुझे और कुछ से मतलब नहीं है।'।

रोकना होगा, जीवन को उसकी सही धुरी पर फिर से निष्ठ और प्रतिष्ठ करना होगा।^१ वैज्ञानिक सुविधाओं के आधार पर विश्व-चिन्तन का भार अपने ऊपर धारण किए हुए ऊपर से मजिल खड़ी होती जा रही है किन्तु अन्दर से उसका जीवन नीव रहित होता जा रहा है। जैनेन्द्र के अनुसार 'धर्म आवश्यक है, उसी तरह जैसे मकान के लिए नीव आवश्यक होती है। कर्म की सफलता के लिए धर्म की स्थिरता जरूरी है।' विचारों के मूल में धर्म का निवास अनिवार्य है। जैनेन्द्र की आध्यात्मिक चेतना स्व-कल्याण में ही केन्द्रित न होकर विश्व-कल्याण की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। उनके अनुसार 'धर्म से निरपेक्ष होकर जगत जो धडाधड उन्नति करता जा रहा है, उससे सकट टलता नहीं दीखता, बल्कि कुछ बढ ही रहा है।*** धर्म की इसीलिए जरूरत है कि वह उन्नति की बागडोर अपने हाथ में ले।'^२ जैनेन्द्र ने आधुनिक युग में जीवन को धर्ममय बनाने के लिए विज्ञान के धर्म सम्मत रूप को ही स्वीकार किया है। विज्ञान का सत्य सर्वत्र अपवाद रहित है, उसमें सघर्ष की स्थिति होने की सम्भावना कम रहती है। 'अनन्तर में उन्होंने धर्म के विज्ञान-सम्मत स्वरूप को ही स्वीकार किया है। धर्म का विज्ञान सम्मत रूप व्यक्ति को कर्मशील बनाने में सहायक होता और उसके धर्ममय होने के कारण आध्यात्मिकता का भी पोषण होता जाता है।

जैनेन्द्र के अनुसार सच्चा धर्म वही है जिसमें अन्तश्चेतना और आन्तरिक आह्लाद बढ़ता हुआ मालूम हो। जिसमें चित्त सिकुडता, सिमटता हो वही

१. जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ५६।

२. जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ४१ — 'इधर अध्यात्म का स्थान क्रमशः विश्व और जीवन चिन्तन क्रमशः लेता जा रहा है।

३. (क) जैनेन्द्रकुमार 'इतस्ततः', पृ० १६८।

(ख) 'विज्ञान मान लेता है कि जो है है। उससे भगडता नहीं उसके मार्ग में उतरता है। ऐसे तथ्य को लेकर तह में जाता है और उसी में सतह से दूर हटता-हटता सत्य के निकट पहुँच जाता है। ऐसे, मानो कार्य के भीतर कारण को पकड लेता है। इससे घटना की हानि नहीं होती, ज्ञान की वृद्धि होती है। लगता है कि कर्ममय जगत में उपराम पाकर यदि इसी तरह मनोमय जगत में उतरा जाये तो हानि नहीं होगी, वरन् कर्मण्यता के हित में कुछ लाभ ही होगा।'।

—'अनन्तर', पृ० ६६।

अधर्म है।^१ धर्म का भाव आत्मा के पोषण में ही फलित होता है। वस्तुतः जीवन में जिन कार्यों से आत्मतुष्टि और आनन्द की वृद्धि होती है वही धर्म है। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए 'स्व' का विसर्जन अनिवार्य है। 'स्व' स्वार्थ से युक्त होकर 'पर' का निषेधक अथवा शोषक बन जाता है। धर्म आत्मा के विस्तार में है। 'स्व' जितना अधिक 'पर' की ओर उन्मुख होता है उतनी ही उसमें त्याग और समर्पण की भावना जाग्रत होती है। चित्त के सिकुड़ने अर्थात् स्वकेन्द्रित होने से स्वार्थी वृत्ति ही विकसित होती है। 'स्वार्थ' धर्म का शत्रु है। धर्म का मूल परहित में समाहित होना चाहिए।

जैनेन्द्र की दृष्टि में मोक्ष

मानव जीवन में धर्म का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चतुष्टय द्वारा जीवन की पूर्णता की ओर इंगित किया है। धर्म जीवन का आधार है, नींव है, जिस पर जीवन रूपी मजिल आधारित है। मानव जीवन सतत यात्रा है। मोक्ष की प्राप्ति ही मजिल है। भारतीय दार्शनिक ने मोक्ष प्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया है। मोक्ष जीवन की अन्तिम पहुँच है, जहाँ पहुँच कर जीवन के सारे कर्म बन्धन छूट जाते हैं और वह कर्मशून्य अर्थात् निस्पृह हो जाता है। अद्वैतवादी शंकर की मुक्ति का स्वरूप एक ही महावाक्य में समाहित है। 'अहम् ब्रह्मास्मि, जीव बसैव वापर' जैनधर्मी कैवल्य की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। जैन धर्म में जीव और पुद्गल के संयोग को ही बन्धन माना गया है। अतः जीव का पुद्गल से वियोग ही मोक्ष माना गया है। पुद्गल से वियोग तभी हो सकता है, जब नये पुद्गल का आश्रय बंद हो और जो जीव में पहले से ही प्रविष्ट है वह जीर्ण हो जाय। पहले को सवर और दूसरे को निर्जरा कहते हैं।

विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक 'विचार पोथी' में मोक्ष के सम्बन्ध में कहा है—'आत्मदर्शन मोक्ष का आस्वाद लेना है। परमात्म दर्शन मोक्ष का पेट भर भोजन करना है। पहली बात का अनुभव इसी देह में हो सकता है, दूसरी का देहात के अनन्तर।'।

उपरोक्त विभिन्न दार्शनिकों के सङ्क्षेप जैनेन्द्र ने भी ब्रह्म जीव आदि तात्त्विक विषयों का विवेचन करने के साथ 'मोक्ष' अथवा मुक्ति पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। किन्तु जैनेन्द्र के तात्त्विक विचार कोरी दार्शनिकता से पोषक न होकर व्यवहार सम्मत हैं। उन्होंने जीवन की यथार्थता से विमुक्त होकर किन्हीं

सिद्धांतों की प्रतिष्ठा नहीं की है। परम्परा के सस्पर्श में रहते हुए भी वे परम्परागत विचारों से बंधे हुए नहीं हैं। उनकी मोक्ष सम्बन्धी धारणा नितान्त मौलिक है।

जैनेन्द्र मोक्ष को मजिल न मानकर सफर मानते हैं। सफर का आनन्द तभी तक है जब तक कि मजिल का ज्ञान नहीं। मजिल को सोचकर चलने में यात्रा मजिल के लिए होती है। जैनेन्द्र ने 'समय और हम', 'प्रश्न और प्रश्न' में इन्हीं विचारों की पुष्टि की है। उनका विचार है कि 'सफर जिसका काम है वह मुसाफिर मजिल को माने नहीं बैठेगा। मुझे तो यह लगता है कि जो मजिल को जान गया, वह कभी भी मजिल तक पहुँचा नहीं।'^१

जैनेन्द्र के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ससार के त्याग में नहीं, वरन् उसके सहर्ष स्वीकार में ही है। जैन दर्शन में इस सूत्र 'सम्यग्दर्शन चरित्राणि' (मोक्ष मार्ग) में ही मोक्ष का आदर्श स्वीकार किया है। यद्यपि जैनेन्द्र ने उपनिषद्, भागवत् आदि का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन नहीं किया है तथापि उपनिषदीय विचारों की झलक उनके साहित्य में स्पष्टतः मिलती है। जैनेन्द्र के अनुसार— 'ज्ञान, कर्म और भक्ति साधना' के ये तीन वर्ग समझे जाते हैं। तीन ये तीन रहते होंगे तब मुक्ति कैसे मिलती होगी, मैं नहीं जानता।'^२ जीवन आनन्द इकाई ही ज्ञान, कर्म और भक्ति की समग्रता में ही जीवन का लक्ष्य पूर्ण होता है। तीनों में से किसी एक के विकास द्वारा जीवन के खण्ड का ही विकास होता है। समष्टि का नहीं। व्यक्ति की पराकाष्ठा पर अह का विगलन हो जाता है। 'मैं' की जीवन-यात्रा की सार्थकता 'पर' की स्वीकृति में ही सम्पन्न होती है। जैनेन्द्र के जीवन-दार्शनिकता का मूल तत्व 'अह' का समष्टि में खो जाना है। और यही तत्व उनके समस्त विचारों का आधार बिंदु है।

वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार 'मोक्ष' का अर्थ ससार से मुक्ति नहीं वरन् 'अह' से मुक्ति पाना है। जैनेन्द्र की दृष्टि में मोक्ष में कर्म से मुक्ति नहीं वरन् कर्म के लिए प्रेरणा होती है। जैनेन्द्र ने अपने नवीनतम संग्रह 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में भी स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'मुक्ति' असल में अह से मुक्ति है। अह का नाश नहीं हो सकता। अस्मित्व के निमित्त से तो अस्तित्व का बोध होता है। इसलिए जैनेन्द्र के अनुसार 'मुक्ति' अस्तित्व का वह विसदीकरण है, जहाँ उसके अस्तित्व से भिन्न अथवा विरुद्ध रहने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अह अपने चारों ओर फैले इन सम्बन्ध सूत्रों में पूरी तरह खुलकर

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० २०९।

२ जैनेन्द्रकुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० ४८।

वह जाने दे तो ऐसे वह मुक्ति की ओर बढ़ता है। अपनी ओर लेने ओर सिमटने में बन्धन का बोध होता है।^१

जैनेन्द्र के अनुसार मोक्ष के मार्ग में मुक्ति मूलक रुकावट नहीं है। वह एक ठहराव मात्र है। मृत्यु और जन्म से क्रम में मोक्ष के लिए यात्रा चलती रहती है। क्योंकि मोक्ष के आगे कुछ नहीं है द्वार बन्द है। जैनेन्द्र मोक्ष की मजिल तक पहुँचने के लिए पग-पग चलकर जाना आवश्यक समझते हैं। हवा में उड़ कर नहीं अन्यथा पुरुषार्थ का कोई महत्व नहीं रह जायगा।^२

जैनेन्द्र मोक्ष की प्राप्ति के लिए चारो पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को आवश्यक मानते हैं। उसके अनुसार धर्ममय दृष्टि द्वारा अर्थ और काम के मार्ग द्वारा चलकर ही मोक्ष की मजिल प्राप्त हो सकती है।

जैनेन्द्र जीवन-सघर्ष से बचकर मिलने वाले मोक्ष को अच्छा नहीं मानते। जैनियों की मोक्ष सम्बन्धी धारणा भी जैनेन्द्र को अमान्य है। जैनियों के अनुसार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न हैं, शरीर जड़ तत्वों से बना है, किन्तु आत्मा चेतन है। आत्मा 'स्व' की सूचक है और शरीर 'पर' का सूचक है। जैन दर्शन में शरीर से अथवा 'पर' से छूटना ही आत्मा की मुक्ति है। इस प्रकार जैन तत्त्ववाद में आत्म और 'शरीर' में 'स्व' 'पर' का द्वैत भाव समाहित है। इसलिए उनमें विच्छेद की साधना का उपदेश दीखता है। मुक्ति का चित्र वहाँ सर्वथा विदेहता का है और शुद्ध आत्मा स्वरूपता के कैवल्य, सिद्ध रूप में चित्रित किया गया है। जैन दर्शन में मुक्ति व्यक्तित्व के काट छाट के मार्ग में ही फलित होती है। उसमें जीवन की समग्रता और सत्यता का निषेध मिलता है। कर्म से मुक्ति और शरीर को तप द्वारा कृषित और विकार रहित करने पर ही मुक्ति संभव हो सकती है, किन्तु जैनेन्द्र जैनी होते हुए भी जैन दर्शन की एकागी मुक्ति को स्वीकार करने में असमर्थ है। उन्होंने जीवन को समग्रता में स्वीकार किया है। जैन दर्शन की एकागी दृष्टि को वे स्वीकार करने में असमर्थ हैं। जैनेन्द्र ने अपनी कतिपय कहानियों में भी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए सत्यता की प्रतिष्ठा की है।^३ 'बाहुबली' में बाहुबली अपने शरीर को तप द्वारा अस्मि मात्र कर लेने पर भी कैवल्य नहीं प्राप्त कर पाता जब कि उसका भाई राज्य भोग करते हुए भी कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। कारण, बाहुबली के हृदय से तप द्वारा अपने 'अविजित' होने का अभिमान नहीं दूर

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० ६६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त', पृ० २०६।

३ जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', सपा० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० १७६।

हो पाता है। जैसे ही उसे अपने अभिमान का बोध होता है, उसके लिए मोक्ष का मार्ग कठिन नहीं रह जाता है। वस्तुतः जैनेन्द्र के जीवन, धर्म और दर्शन सब का सार है 'अहं से मुक्ति।' अहं से मुक्ति प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। यही जैनेन्द्र की धार्मिक दृष्टि का सार तत्त्व है।



जैनेन्द्र की दृष्टि में भाग्य, कर्म-परम्परा एवं मृत्यु



भाग्यवादी जैनेन्द्र

जैनेन्द्र परम आस्तिक, विचारक और लेखक है। उनकी अटूट ईश्वरीय आस्था की गहरी छाप हमें उनके साहित्य में दृष्टिगत होती है। मनुष्य रूपी सूक्ष्म यन्त्र का निर्माता ईश्वर है। अतएव ईश्वर ही अपनी स्वेच्छा से यत्र की गति को परिचालित करता है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के सम्बन्ध में व्यक्ति का समस्त मन्तव्य समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालको के निर्णय की भांति है। फिर भी बालको को (मनुष्य का) मस्तक मिल गया है और हृदय भी मिल गया है। वे दोनों निष्क्रिय होकर तो रहते नहीं। इसी से जो जानने के लिए नहीं है, उसे जानने की चेष्टा चली है।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में मनुष्य निर्जीव, जड़, यत्र नहीं है। उसमें विवेक, बुद्धि तथा पुरुषार्थ है। अतएव विधाता व्यक्ति की गति का अवरोधक नहीं है, वरन् सहयोगी है।

जैनेन्द्र के साहित्य में कहानी और उपन्यास के पात्रों की ग्रन्थि ईश्वरास्था को देखते हुए ऐसा आभास होता है कि उनकी दृष्टि में कर्त्ता-धर्त्ता एकमात्र परब्रह्म ईश्वर ही है। ईश्वर की अनन्त शक्ति के समक्ष मनुष्य बहुत ही तुच्छ है। अतएव जैनेन्द्र के पात्र अत्यधिक भाग्यवादी हो गए हैं। उनके जीवन का उतार-चढ़ाव भाग्य की परिधि में ही सम्भव हो सका है।

पाश्चात्य नियतिवादी और अनियतिवादी विचार

जैनेन्द्र की भाग्यवादी दृष्टि में तथा पाश्चात्य नियतिवादी दार्शनिकों में किञ्चित् वैभिन्न्य दृष्टिगत होता है। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में दो पृथक् विचार-धाराएँ दृष्टिगत होती हैं—(१) नियतिवादी और (२) अनियतिवादी। नियतिवादी विचारकों के अनुसार यदि व्यक्ति के जीवन के भूत और वर्तमान को भली प्रकार जान लिया जाय तो उसके भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय दिया जा सकता है। नियतिवादियों के अनुसार मनुष्य की सकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, पूर्व निर्धारित है। उनका कहना है कि निर्णीत कर्म में सकल्प-शक्ति प्रेरणा के साथ समीकरण करती है और प्रेरणा का स्वरूप व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर है। अतएव व्यक्ति के चरित्र का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसके आचरण के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। नियतिवादी विचारक व्यक्ति के आचरण और प्रकृति की घटनाओं को एक ही नियम से संचालित होते हुए देखते हैं। नियतिवादी दार्शनिक अपने सिद्धान्तों की धुन में यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है। उसमें अनेकों सम्भावनाएँ हैं और वह उन सम्भावनाओं को पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्र है। उपरोक्त सत्य को सम्मुख रखते हुए कान्ट ने यह स्वीकार किया है कि सकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता नैतिकता की आवश्यक मान्यता है। नियतिवादियों के अनुसार पाश्चात्य और दृढ़ सकल्प का मानव जीवन में कोई स्थान नहीं है।^१

जैनेन्द्र के विचारों और नियतिवादी दार्शनिकों में मूल अन्तर यह है कि जैनेन्द्र के पात्रों की सम्भावनाएँ नियति के कारण विनष्ट नहीं होती। जैनेन्द्र के साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि वे पात्रों को भाग्य के सहारे छोड़ देते हैं और अपनी और भविष्य के सम्बन्ध में व्यक्ति के चरित्र के सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी नहीं करते। नियतिवादी भविष्य की घोषणा निश्चित रूप से कर देते हैं, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार भावी अज्ञेय है, व्यक्ति की पहुँच से परे है। अतएव उस सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यक्ति की क्षमता का उल्लंघन करते हुए केवल अहता को पुष्ट करना है। जैनेन्द्र के अनुसार ब्रह्म सर्वव्याप्त है और वही भूत, वर्तमान, और भविष्य का ज्ञाता है। व्यक्ति अपनी सीमित शक्ति के कारण वर्तमान की यथार्थता में ही जीवन व्यतीत करता है और भविष्य की सम्भावना में आदर्शों की पूर्ति के स्वप्न देखता है। इस प्रकार जैनेन्द्र के पात्र अतिशय भाग्यवादी होते हुए भी अपने जीवन की सम्भावनाओं का हनन नहीं

१ शांति जोशी के 'नीतिशास्त्र' में व्यक्त विचारों पर आधारित, प्रथम संक्षिप्त संस्करण, दिल्ली, १९६३, पृ० स० ८२-८५।

करते। व्यक्ति विधि का दास होते हुए भी कम के हेतु स्वतन्त्र है।

जैनेन्द्र अतिशय भाग्यवादी

जैनेन्द्र के साहित्य में पग-पग पर भाग्य अथवा विधाता की पुकार को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र के पात्रों के हृदय में भाग्य का भूत सवार है और यह शका भी उत्पन्न होती है कि अतिशय भाग्यवादिता कहीं पात्रों के जीवन को निष्क्रिय तो नहीं बना देती? उनकी कुछ कहानियों में बार-बार बेचारे विधाता की याद करनी पड़ती है। 'राजीव और भाभी' में ३-४ बार विधि के समक्ष व्यक्ति की विवशता का उल्लेख किया गया है।^१ सामान्यतः हम नित्य-प्रति के जीवन में भाग्य का सहारा लेकर मन को सान्त्वना देते हैं, यह सत्य है, किन्तु बहुत ही छोटी-छोटी बातों पर प्रतिपल विधाता को बीच में लाना भी उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही भाग्य-विधाता का स्मरण नहीं किया गया है, वरन् अत्यन्त सामान्य स्थितियों में भी विधाता का सहारा लेकर व्यक्ति की विवशता को वर्णित किया गया है। —'कल्याणी' में कल्याणी किसी के घर जाने में भी अपनी इच्छा-शक्ति पर विश्वास नहीं करती और कहती है—'अच्छा। भाग्य होगा तो क्यों न आऊंगी।' ^२

भाग्यवादिता आस्थामूलक

जैनेन्द्र की भाग्यवादी प्रवृत्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि वे

- १ (अ) 'भाग्य ही तो है। जब वह खुले तो उस कोष में से क्या-क्या नहीं निकलेगा।' पृ० स० २६।
- (आ) 'वही से भाग्य देव भी पलट कर बरस पड़ने लगे'—पृ० स० २६।
- (इ) 'किन्तु जब सिर पर दुर्दैव ही खेल जाए तो विधाता के मन का हाल भला कौन जान सकता है।'—पृ० स० ३१।
- (ई) 'जब राजीव ने मोटर की बात मन में पक्की कर ली तब सब प्रपंचों के रचयिता बाबा विरचि ऊपर बैठे-बैठे मुस्कराएँ होंगे। कहते होंगे—देखो लड़के की बात—अरे,—हम फिर कुछ ठहरे ही नहीं। जो ये दुनिया के छोकरे हमें बिन बूझे ही सब करने लगेंगे तो हो लिया काम।' ^३

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', पृ० स० ३१।

- २ जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', पृ० स० ७६।

ईश्वर को ही सर्वोपरि मानते हैं। यदि ईश्वरेच्छा न हो तो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। ईश्वरीय-आस्था में व्यक्ति के अह का विगलन हो जाता है। अह का शून्य भाव ब्रह्म को ही सर्वोपरि प्रमाणित करता है। व्यक्ति केवल कर्ता है, किन्तु कर्म का फल भाग्याधारित है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कर्म करता हुआ भी निराश नहीं होता, क्योंकि वह वर्तमान तक ही परिमित है, भविष्य में उसकी पहुँच नहीं है।

जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य का लेखा अर्थात् विधाता का नियम ससार में व्यवस्था उत्पन्न करने का प्रसाधन है। जैनेन्द्र की दृष्टि में भाग्य का नियम अतर्क्य नहीं है।^१ ईश्वर भी मनमानी पक्षपात नहीं करता। व्यक्ति अपने ही कर्मों का फल भोगता है। भाग्य व्यक्ति के संचित कर्मों का ही अभिव्यक्त रूप है। पूर्वजन्म के सम्बन्ध में कोई नहीं जानता, किन्तु वर्तमान जीवन में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य दृष्टिगत होने वाले वैषम्य को देखकर, यही कल्पना की जाती है कि व्यक्ति के कर्म-फल के कारण ही परस्पर गरीबी-अमीरी, सुखी-दुखी होने का वैभिन्न्य दिखाई देता है, किन्तु भाग्य व्यक्ति के ही पूर्वजन्मों के कर्मों से बनता है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भाग्य कोरी भावना का प्रतीक है, अधविश्वास है, वरन् भाग्य का परिणाम तार्किक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। जैनेन्द्र भाग्य को कर्मों के आधार पर तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे पूर्वजन्म के संचित कर्मों का परिणाम नहीं मानते।

भाग्य से विद्रोह नहीं

जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का प्रमुख आदर्श ईश्वरोन्मुखता है। उनकी दृष्टि में भाग्य पर आश्रित रहने वाला व्यक्ति कर्म की उपेक्षा नहीं करता। कर्म उसका इष्ट है, किन्तु फल की प्राप्ति न होने पर वह भगवान को दोष नहीं देता, वरन् दुःख में भी आत्मानन्द की प्राप्ति करता है। जैनेन्द्र की अधिकांश रचनाओं के पात्र भाग्य के कुचक्र पर उत्तेजित और क्रुद्ध नहीं होते और न ही भाग्य से लड़ना श्रेयष्कर समझते हैं। 'त्यागपत्र' में प्रमोद (जज) अपनी बुझा की स्थिति पर बहुत दुःखी होता है, किन्तु बुझा को उस राह से मोड़ नहीं पाता। वह जानता है कि जो कुछ भगवान करता है, सोच-समझकर ही करता है। ईश्वरेच्छा का निषेध करके व्यक्ति आत्मा के सन्तोष से भी हाथ धो बैठता है। इसीलिए

१. 'भाग्य का तर्क यदि कठोर है तो ऐसा प्रकारण नहीं है...यह जो जैसा करता है वैसा ही भरता है।'

—जैनेन्द्र की कहानियाँ (वह रानी), दिल्ली, १९६४, प्र०स०, पृ०स० ४७।

वह (प्रमोद) कहता है कि 'जो हुआ ठीक हुआ, ठीक इसलिए कि उसे अब किसी भी उपाय से बदला नहीं जा सकता।' जैनेन्द्र भाग्य और दुख के मध्य व्यक्ति की परस्परता के हेतु बहुत सतर्क रहे हैं। उनके अनुसार व्यक्ति स्नेह के आदान-प्रदान के द्वारा अतिशय पीडा को भेलेता हुआ भी स्वर्ग का अधिकारी होता है। वस्तुतः भाग्य में जो होता है, उसे तो टाला नहीं जा सकता कि पारस्परिक प्रेम में मनुष्य का वश है अतएव वह नहीं समाप्त होना चाहिए।^१

'विवर्त' में भी भुवन मोहिनी रेल-दुर्घटना के लिए जितने को दोषी नहीं ठहराती। उसका विश्वास है कि 'होता होनहार है और सब काल कराता है।' 'वस्तुतः उसकी दृष्टि में गाडी पलटने और इसके बहाने कुछ लोगों की मौत होने की घटना पूर्व निश्चित थी, अतएव उसके लिए किसी व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पुनश्च मोहिनी जितने को समझाती हुई कहती है—'जो हुआ, हो गया। होनहार कब टला है।'^२ 'सुखदा' में सुखदा भी अपने पति को किसी कार्य के लिए दोष नहीं देती और कहती है—'उन्होंने कुछ नहीं किया। सब भाग्य के आधीन हुआ है।'^३ वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति का समस्त सोच-विचार व्यर्थ सिद्ध होता है। यद्यपि जैनेन्द्र के पात्र सतत कर्मशील हैं तथापि वे भाग्य से लड़ने में अक्षम हैं, क्योंकि 'सोच विचार' कुछ काम नहीं आता। दिमाग सोचता रहता है, होनहार होता रहता है। सोचा जाता है वह होता ही नहीं।'^४

आस्थाहीन व्यक्ति कर्म करते हुए यह अनुभव करता है कि कर्ता मैं ही हूँ, श्रेय मुझे है। जैनेन्द्र के अनुसार 'अहं' तथा पुरुषार्थ की दुहाई देने वाले व्यक्ति के जीवन की लचक समाप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति अपनी आकांक्षा के पूर्ण होने पर तथा प्रयत्न में फल की झलक न देखकर निराश होकर टूट जाता है, उसमें पुनः कम से कम युक्त होने का उत्साह नहीं रह जाता। ऐसे व्यक्ति का जीवन उस सूखे वृक्ष की भाँति होता है जो अपनी कठोरता के कारण तनकर खड़ा रहता है, किन्तु तूफान का एक झोका उसे दो टूक कर देता है, किन्तु झूमता हुआ लचकदार पेड़ टूटता नहीं, वरन् झुक जाता है। यही कारण है

१ स्नेह—क्या वह स्वयं में इतना पवित्र नहीं है कि स्वर्ग के द्वार उसके लिए खुल जाए।—जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र', पृ० स० ४६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'विवर्त', प्र० स०, १९५३, दिल्ली, पृ० स० २९।

३ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० स० ३०।

४ जैनेन्द्र कुमार 'सुखदा', प्र० स०, दिल्ली, १९५२, पृ० स० २०४, १७७।

५ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० स० ९२।

कि जैनेन्द्र के पात्र विषम से विषम परिस्थितियों में निराश होकर टूटते नहीं, वरन् स्नेह और प्रेम की धारा उनमें जीवन-शक्ति का प्रवाह करने में सक्षम होती है।

निष्काम-कर्म भाव

जैनेन्द्र के विचारों पर गीता की निष्काम कर्म-भावना का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। 'गीता' में अर्जुन को कर्म-शीलता का उपदेश देते हुए कृष्ण ने कहा है कि 'जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके (और) आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पत्ते के सदृश्य पाप से लिपायमान नहीं होता।^१ व्यक्ति समस्त इन्द्रियों से कर्म-रत होते हुए भी यह माने कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ।'^२ जैनेन्द्र के अनुसार कर्तृत्व भाव से हीन रहने वाला व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को ईश्वरेच्छा से संचालित होता हुआ स्वीकार करता है। उसके अनुसार विधाता ही सर्वोपरि है। उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में इस सत्य की ओर संकेत किया है कि 'मैं नहीं हूँ, क्योंकि शून्य है— मैं कुछ नहीं हूँ यह अनुभूति ही मेरा सब कुछ है।'^३ जैनेन्द्र के अनुसार इस प्रकार की निस्पृह भावना व्यक्ति को कर्म से विमुख नहीं करती, वरन् उसे कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त करती है। वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में भाग्य का निर्णय व्यक्ति की प्रगति में बाधक नहीं होता।

पुरुषार्थ

जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त भाग्यवादिता कोई नई घटना नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि भारतीय, यूनानी, इस्लाम आदि सभी धर्मों तथा दर्शनों में व्यक्ति की भाग्यवादिता का परिचय मिलता है।^४ भारतीय दर्शन में भी भाग्य

१ श्री मद्भगवद्गीता—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्या करोति य ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

श्री मद्भगवद्गीता—अध्याय ५, श्लोक १०, गीताप्रैस, गोरखपुर।

श्री मद्भगवद्गीता—अन्य श्लोक १२ अध्याय ६।२७, २८।१०।६, ६।१२

२ श्री मद्भगवद्गीता—नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन्विशृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्गन्धन्वाच्छन्स्वपञ्चवसन् ॥

प्रलपत् विसृजन् शृङ्खलन्मुष्मिषन्निमिषन्ति ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥६॥

अध्याय-५, श्लोक ८, ९

३ जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' (उपलब्धि तीसरा भाग), पृ० स० १२६।

४ हीरेन्द्रनाथ दत्त 'कर्मवाद और जन्मान्तर', स० १९८६, इलाहाबाद, पृ० स० १०५।

को प्रधान माना है। यथा—‘भाग्य’ फलति सर्वत्र न विधा न च पौरुषम् ।’ किन्तु दूसरी ओर पौरुषवादियों का भी अभाव नहीं है, जो कि पुरुषार्थ के समक्ष भाग्य को निरर्थक मानते हैं। उनके अनुसार ‘उद्योगी प्रयत्नशील मनुष्य को ही सोभाग्य लक्ष्मी वरण करती है। भाग्य की दुहाई तो कायर लोग दिया करते हैं।’^१ उपरोक्त भाग्यवादी और पुरुषार्थवादी विचारको का मन्तव्य एक पक्षीय है। अतिशय भाग्यवादिता के द्वारा व्यक्ति की अकर्मण्यता का बोध होता है तथा पुरुषार्थ से तात्पर्य यदि कर्मशीलता से है तो प्रत्येक कर्मशील व्यक्ति को समानरूप से परिश्रम करते हुए भी समान उपलब्धि क्यों नहीं होती? कोई थोड़े से श्रम से ऊपर उठता जाता है और कोई अधिक परिश्रम करके भी निराश रहता है, वस्तुतः इस वैभिन्य के मूल में प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना भाग्य ही दृष्टिगत होता है। वेदान्त रत्न श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक में ‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ के द्वारा इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार ‘जिस प्रकार एक पहिया लगा रहने से रथ नहीं चलता, इसी प्रकार देव की सहायता के बिना पौरुष काम नहीं देता। उनकी दृष्टि में नाव में पाल लगा देने से ही काम नहीं बन जाता, उसके अनुकूल हवा की भी जरूरत होती है। खेत में बीज बो देने से ही कमल नहीं खड़ी हो जाती, बरसात के पानी से उस बीज की सिचाई भी होनी चाहिए। अतएव दैव और पौरुष दोनों की आवश्यकता है। भाग्यवादी का पौरुष को एकदम उड़ा देना ठीक नहीं है, पौरुषवादी का दैव को एकदम अस्वीकार कर देना भी ठीक नहीं है। इस दृष्टि से देव का अर्थ किस्मत या भाग्य नहीं है, देव तो पिछले जन्म के किए हुए सुकृत या दुष्कृत से बना हुआ अदृष्ट है।’^२

१ हीरेन्द्रनाथदत्त ‘कर्मवाद और जन्मान्तर’, पृ० सं० १०६।

उद्योगिन पुरुषसिंहमुपेति लक्ष्मी

दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति ।

२ दैव पुरुषकारे च कर्मसिद्धव्यवस्थिता ।

तत्र दैवभिव्यक्त पौरुष पौर्षदेहिकम् ॥३४७॥

केचिद्देवाद्धात्केचित्केचित्पुरुष कारत ।

सिद्धमन्त्यर्था मनुष्याणा तेषा योनिस्तु पौरुषम् ॥३४८॥

यथाह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।

एव पुरुषकारेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।

एव पुरुषकारेण बिना दैव न सिद्धचति ॥३४९॥

—हीरेन्द्रनाथदत्त ‘कर्मवाद और जन्मान्तर’

भाग्य और पुरुषार्थ सहयोगी

जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ का अर्थ केवल शुभ करना ही नहीं है। वरन् शुभ के साथ ही ईश्वर के सहयोग को भी स्वीकार करना आवश्यक है। जैनेन्द्र की मान्यता है कि 'जब पुरुष अपने अहं से विमुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है।' भाग्य का सहारा लेकर कर्म करने से व्यक्ति को अदम्य उत्साह और शक्ति प्राप्त होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि में ऐसा व्यक्ति पशु तुल्य है जो केवल कर्म और पुरुषार्थ पर विश्वास करता है तथा भाग्य को उपेक्षणीय समझता है। पशु के कार्य में त्वरा अधिक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि मनुष्य पशु से महान है तो इसी दृष्टि से कि उसमें स्नेह और सहयोग की भावना है। कोरा पुरुषार्थ अहंता को फुलाने में सहायक होता है जैसे कि कोरी भाग्यवादिता अकर्मण्यता की पोषक है। जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ का तात्पर्य केवल सक्रियता से है, तत्त्व और सत्य से नहीं है। पुरुषार्थ की उपयोगिता भी सक्रियता के ही साथ है, शेष के साथ सहज स्वीकारता का सम्बन्ध है और उसका द्योतक भाग्य है। जहाँ तक सक्रियता प्रयत्नशील है, वही तक पुरुषार्थ की व्याप्ति है। जैनेन्द्र के अनुसार समस्त के पुरुषार्थ का समवेत रूप मान्य है। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय पुरुषार्थ भाग्य की सापेक्षता में ही ग्राह्य हो सकता है। भाग्य वह पुरुषार्थ है जिसमें प्रत्येक तत्त्व भाग्य होता और जो व्यक्ति का नहीं है। जैनेन्द्र की दृष्टि में बौद्धिक स्तर पर ही भाग्य और कर्म से कार्य-कारण के रूप समझ सकते हैं। वस्तुगत सत्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैनेन्द्र के साहित्य में भाग्य की स्थिति कर्म के मध्य ही स्वीकार की गई है। जैनेन्द्र की मान्यता है कि 'भाग्य के प्रति अभ्यतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्रही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होना है।'^१

जैनेन्द्र पुरुषार्थ में परमार्थ का योग अनिवार्य मानते हैं। यदि अर्थ परमार्थ में नहीं जुड़ता तो वह सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता। व्यक्ति के कर्मों की इति प्राप्त कर्तव्य में ही है। जैनेन्द्र के अनुसार भाग्य ईश्वर का आदेश है। ईश्वर व्यक्ति के विपरीत कोई कार्य नहीं कर सकता। उन्होंने सूर्योदय का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार सूर्य के सामने आने पर हम उसे सूर्योदय कहते हैं, किन्तु पीछे चले जाने पर सूर्य का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, वरन् वह हमें दृष्टिगत नहीं होता।^२ व्यक्ति की क्षमता असीम है। उसकी पहुँच

१ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', पृ० सं० ११४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'परिप्रेक्ष', पृ० सं० ११८।

वर्तमान तथा दृश्य जगत तक ही सीमित है, किन्तु ईश्वर सर्वव्याप्त है। भाग्य का प्रत्यक्ष प्रभाव न देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि भाग्योदय नहीं हुआ। भाग्य का ज्ञात एकमात्र ब्रह्म ही है, व्यक्ति की स्थूल दृष्टि अजेय सत्य का बोध प्राप्त करने में असमर्थ है।

प्रयत्न के द्वारा व्यक्ति की समग्रता को नहीं जाना जा सकता। जैनैन्द्र के अनुसार कार्य में सफल न होने पर प्रयत्न की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती। उनकी दृष्टि में भाग्य शायद पुरुष के अर्थ को ज्यादा जानता है।^१ जैनैन्द्र के साहित्य में उसी कर्म को सद्प्रयत्न के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमें कामना का काटा न हो।

भाग्य को सहर्ष स्वीकार करने से व्यक्ति भाग्य के नियंत्रण में नहीं रहता। भाग्य सर्वथा अजेय है। अज्ञान के रहस्य को ज्ञात में पूर्णतः उतारने का दम्भ मिथ्या है। अज्ञात असीम है, ज्ञात ससीम है। असीम को ससीम में बाधने के प्रयत्न में व्यक्ति का अर्थ सिद्ध नहीं होता। प्रयत्न (कर्म) की धारा अनन्तकाल तक प्रवाहित होने के लिए है। विधाता का विरोध करने का दृढ सकल्प मन में रखकर भी व्यक्ति अन्ततः ईश्वरेच्छा पर अपने को समर्पित कर देता है।^२ वस्तुतः जैनैन्द्र के साहित्य में भाग्य की क्रूरता पर क्षोभ का भाव नहीं दृष्टिगत होता, क्योंकि उन्हें भाग्य दुःख ही नहीं सुख का वरदान भी प्रतीत होता है। सुख में व्यक्ति विधाता को भूला रहता है और दुःख में उसकी याद करता है। 'त्यागपत्र' में एक स्थान पर जैनैन्द्र ने भाग्य के समक्ष विनत होने वाले प्रमोद (जत) की भावों की अभिव्यक्ति करते हुए बताया है कि जो होता है उसके लिए विधाता को तो दोष दे नहीं सकता, क्योंकि उन तक किसी प्रकार मैं अपना धन्यवाद तक नहीं पहुँचा सकता।^३ वस्तुतः जैनैन्द्र के पात्र किसी को दोषी न ठहराकर स्वयं को ही पतित मानते हैं। इस प्रकार वे अहता का निषेध करते हुए^४ ईश्वर का (भाग्य का) सहयोग पाकर प्रसन्न रहते हैं। उनमें यह विश्वास समाया हुआ है कि जीव ब्रह्म का अंश है अतएव जीव के दुःख से विधाता निरपेक्ष नहीं हो सकता।

कर्मकर्म भाव

जैनैन्द्र के साहित्य में भाग्य सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करते हुए यह

१ जैनैन्द्रकुमार 'इतस्तत' पृ० स०, दिल्ली, १९६२, पृ० स० १६।

२ जैनैन्द्रकुमार 'विवर्त', प्र० स०, दिल्ली, १९५३, पृ० स० २१७।

३ जैनैन्द्रकुमार 'त्यागपत्र', प्र० स०, पृ० स० ४५।

४ जैनैन्द्रकुमार 'त्यागपत्र', प्र० स०, पृ० स० ४५।

ज्ञात होता है कि उन्होंने पुरुषार्थ का निषेध नहीं किया है। ईश्वर को ही एकमात्र सत्य मानने के कारण उनके कर्म सम्बन्धी विचारों में भी व्यक्ति के अहं भाव के दर्शन नहीं होते। जैनेन्द्र के कर्म सम्बन्धी विचारों पर गीता की निष्काम कर्म साधना तथा कर्म-अकर्म की मान्यता का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगत होता है।

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ में अर्जुन को उपदेश देते हुए कृष्ण ने कहा है कि ‘कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित है। ... जो पुरुष कर्म में अर्थात् अहंकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म अर्थात् वास्तव में उनका न होना पाना देखे और जो पुरुष अकर्म में अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किए हुए सम्पूर्ण क्रियाओं के त्याग में भी कर्म को अर्थात् त्याग रूप क्रिया को देखे, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह भोगी सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है।’^१

जैनेन्द्र के अनुसार ‘कर्म’ में ‘अकर्म’ की भावना व्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख करती है तथा व्यक्ति स्वार्थ को भूलकर परमार्थ हेतु ही जीवनयापन करता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति का कर्म-शील होना ही कोई बड़ी बात नहीं है। कर्मशीलता के साथ ही उसमें कर्म के प्रति अनासक्ति का होना भी आवश्यक है। आसक्त भाव से किए गए कार्य में स्वार्थ की भलक दृष्टिगत होती है।^२ जैनेन्द्र की दृष्टि में ‘कर्म से स्वार्थ पैदा होता है अकर्म से निःस्वार्थ है।’^३

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास ‘जयवर्धन’ में कर्म तथा अकर्म के स्वरूप को जूट के उद्धरण द्वारा बहुत ही स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। उनके अनुसार जैसे ‘नारियल के जटाजूट और उसके बाद के खप्पर का मूल्य यही है कि भीतर गिरी है, गिरी अकर्म है तो कर्म तो वह जटाजूट ही है।’^४ इस दृष्टान्त द्वारा लेखक ने कर्म के मूल में निहित अकर्म की भावना का रूप दर्शाया है। ऊपर से आकर्षक न प्रतीत होने वाली वस्तु के भीतर भी वस्तु का मूल अर्थ

१ श्रीमद्भगवद्गीता—‘किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।

तत्ते कर्म प्रक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

—अध्याय ४

२. ‘कार्यकर्त्ता का काम कार्य करना तो है ही, पर बड़ा काम अपने को अनासक्त रखना है। अनासक्ति से काम में हार नहीं मालूम होगी, वह सतत् होगी, और फल भी उसका मीठा और बड़ा होगा।’

—जैनेन्द्रकुमार ‘जयवर्धन’, दिल्ली, १९५६, पृ० सं० २२० ।

३ जैनेन्द्रकुमार ‘जयवर्धन’, दिल्ली, १९५६, पृ० सं० २६२ ।

४ जैनेन्द्रकुमार ‘जयवर्धन’, दिल्ली, १९५६, पृ० सं० २२० ।

अथवा उसकी सार्थकता निहित होती है अतएव व्यक्ति को कर्म में ही न अटक कर अकर्म के भाव की गहराई में भी प्रविष्ट होना चाहिए, अन्यथा कोरा कर्म निरर्थक है। 'जयवर्धन' में जैनेन्द्र ने अन्यत्र एक स्थल पर 'अकर्म' की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है। कर्म ठीक है, किन्तु वह अकर्म के साथ ही ठीक है नहीं तो बचाव और भरमाव होगा।^१

पुनर्जन्म

जैनेन्द्र के साहित्य के सन्दर्भ में उनकी भाग्यवादी नीति और कर्म-अकर्म के भावों की विवेचना करते हुए यह समस्या उत्पन्न होती है कि व्यक्ति के कर्मों का उसके जीवन से क्या सम्बन्ध है। यद्यपि यह सत्य है कि व्यक्ति अकर्म भाव को मन में रखकर कर्म करता हुआ भी अनासक्त रहता है, किन्तु इस सत्य का भी निषेध नहीं किया जा सकता कि वह अकर्म अर्थात् कर्तृत्व भाव से हीन होकर कर्म करता रहता है। उसकी कर्मशीलता में कोई अन्तर नहीं आता, केवल भावना में ही अन्तर आता है और भावना की विशुद्धता के कारण कर्म और भी महान हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि विशुद्ध भावना से किए व्यक्ति के कर्मों का क्या होता है। उसने पूर्व जन्म में जो निस्पृह भाव से कार्य किए होंगे, उनका क्या प्रभाव दृष्टिगत हो रहा है और पुनर्जन्म में क्या होगा? व्यक्ति शुभ कर्मों के द्वारा अपने जन्मों का सुधार कर सकता है कि नहीं? विविध समस्याओं के समाधान हेतु जैनेन्द्र के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण अनिवार्य है।

संस्कार समष्टि को प्राप्त

पुनर्जन्म में जैनेन्द्र की पूर्ण आस्था है। उनके अनुसार जन्म और मृत्यु का चक्र अनन्त काल तक चलता रहता है। एक के बाद दूसरा क्रम समाप्त नहीं होता, अतः मृत्यु के बाद भी जन्म का क्रम बना रहता है। मृत्यु में जीवन का अवसान नहीं है। स्थूल शरीर बार-बार जन्मता और मरता है, किन्तु सूक्ष्म आत्मा अमर है। वह ईश्वर अर्थात् परमात्मा का अंश है। परमात्मा ही एकमात्र पूर्ण शक्ति स्वरूप है, आत्मा उस अर्थ में निरपेक्ष नहीं है, जिस रूप में परमात्मा है। मृत्यु के अनन्तर आत्मतत्त्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है और उसके कर्म ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाते हैं। व्यक्ति अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं होता वरन् मृत्यु के बाद उसके कर्मों का महत्व और बढ़ जाता है। व्यष्टि

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', दिल्ली, १९५६, पृ० सं० १२।

के गुण-दोष युक्त कर्म समष्टि में व्याप्त हो जाते हैं।^१ पूर्व जन्म के कर्मफल तथा सस्कार व्यवित से छूटकर उसी प्रकार समष्टि में विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार तालाब में उठी लहर सारे सरोवर में व्याप्त हो जाती है। उसका पार्थक्य मिट जाता है।^२ वस्तुतः व्यक्ति के सस्कार जाति और जाति के समस्त ब्रह्माण्ड का अंग हो जाते हैं। व्यक्ति के सब कार्यों के सस्कार समष्टि को गोरवा-न्वित करते हैं। दूसरी ओर उसके दुष्कर्म स्वयं तक ही सीमित नहीं रहते, उसमें सामाजिक वातावरण भी दूषित हो जाता है। अतः व्यक्ति के कर्म समाज को हानि पहुंचाने के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म के प्रति दायित्व अधिक बढ़ जाता है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में जन्म और मृत्यु के अनवरत घटनाक्रम से ही समष्टि का जीवन अभिव्यक्ति पाता है। समष्टि का जीवन ही परम लक्ष्य है, व्यक्ति के जन्म-मृत्यु की कड़ी उसमें साधन रूप है। सस्कारों की अधि समष्टि में बिखर जाने के लिए ही होती है। पुनर्जन्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र के सस्कारों की तुलना खजूर के वृक्ष से करते हैं। पर प्रति-वर्ष पड़ने वाले बल्ल से करते हैं। वृक्ष के टूट जाने पर सम्भव हो सकता है कि वृक्ष की गुठली जमीन पर गिरकर किसी नये वृक्ष का बीज बन जाए, किन्तु उन बल्लों का कोई महत्व नहीं होता। वे उस गुठली से उत्पन्न होने वाले पेड़ से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति से पूर्वजन्म के सस्कार पुनर्जन्म की स्थिति के निर्धारण में सहायक नहीं होते।^३

सच्चिदानन्द परमात्मा अखण्ड है, पूर्ण है, और व्यक्ति अपूर्ण तथा अतृप्त है। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, वरन् प्रगति का द्वार है। अपनी अतृप्त आका-क्षाओं, वासनाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति बार-बार जन्म लेता है। जैनेन्द्र सस्कारों का एक जन्म से दूसरे जन्म में सक्रमण स्वीकार नहीं करते, इसलिए

१ 'जन्म-मरण व्यक्ति भोगता है, लेकिन इस भोग के द्वारा मानो वह समष्टि लीला को ही व्यक्त कर रहा होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५६।

२, जरा सी ककरी डालिए तो सरोवर के तल पर सिहरन होती है, जो छोर तक पहुंचती है और फिर शान्त हो जाती है। इसी तरह सच पूछिए तो प्राप्त सस्कार मुझ तक नहीं रहता, मानो विश्व-चेतना में समाकर वही पर्यवसान पाता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५६६।

३ जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम', पृ०स० ५६७।

व्यक्ति की आसक्तिया और अनुभूतिया चारों ओर तन्तु रूप में फैलकर साहित्य, कला कृति आदि के रूप में व्यक्ति के मरणोपरान्त भी जीवित रहती है। 'सुखदा' में लाल के कथन से इसी तथ्य का बोध होता है—“हम तुम नहीं जीते सुखदा, जीता खुद जीवन है। वह इतिहास में जीता है, विकास में जीता है। वह हमारा तुम्हारा नहीं है, बल्कि हम उसमें है।”^१ इस प्रकार जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु के द्वारा व्यक्ति अपना और कुछ का ही नहीं रहता, वरन् सब का और असत्य का हो जाता है।^२

जैनेन्द्र के अनुसार जन्म-मरण का चक्र व्यक्तित्व के अथवा आत्मता के विकास की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। जैनेन्द्र की दृष्टि में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आत्मा, जिसका पूर्व शरीर से सबंध था, उसी में प्रवेश करेगी, जिस प्रकार हर पतझड़ में पत्ते वृक्ष से भर जाते हैं और बसत में फिर हरे-भरे पत्ते खिल आते हैं।^३ इस प्रकार वृक्ष का ही बार-बार नवजीवन होता है, तथा पतझड़ और बसत रूपी जन्म-मरण का क्रम तो वृक्ष रूप समष्टि से जीवन का साधनमात्र है। उसी प्रकार 'जन्म-मरण व्यक्ति भोगता हो, लेकिन इस भोग द्वारा वह समष्टि-लीला को ही व्यक्त कर रहा होता है। वस्तुतः व्यक्ति का सम्बन्ध मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है।^४ उसके वर्तमान जीवन के कर्मों का भावी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यक्ति के कर्म मृत्यु के बाद समष्टि में व्याप्त होकर अमर हो जाते हैं।

कर्म की स्थिति विभिन्न दार्शनिक सम्बन्धी सदर्थ

जैनेन्द्र के विचारों का उपरोक्त विवेचन करने के पश्चात् यह समस्या उत्पन्न होती है कि व्यक्ति के व्रत वर्तमान क्रियामाण^५ कर्मों की क्या सार्थकता है? तथा व्यक्ति का भाग्य संचित कर्मों के अभाव में किस प्रकार निर्मित होता है? जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त भाग्यवादी विचार-धारा उनके पुनर्जन्म सम्बन्धित विचारों के साथ सगत नहीं प्रतीत होती है। भाग्य व्यक्ति के क्रियामाण कर्मों के पुण्य और पाप का संचित रूप ही है। प्रारब्ध व्यक्ति के संचित कर्मों का अंश है। यदि व्यक्ति अपने वर्तमान नाम और रूप से सर्वथा असम्बद्ध

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० १७१।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ६०१।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम' पृ० ५६८।

४ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम' पृ० ५६८।

५ क्रियामाण कर्म से तात्पर्य वर्तमान जीवन के कर्मों से है।

शरीर में जन्म लेता है तो उसके पूर्व कर्मों के द्वारा किस प्रकार भाग्य का निर्माण होता है ? जैनेन्द्र के विचारों को लेकर जो समस्या उत्पन्न होती है, ठीक वही समस्या बौद्ध दार्शनिक नागसेन के दार्शनिक-विचारों में भी दृष्टिगत होती है। भिनान्दर और मन्त की वार्ता के द्वारा पुनर्जन्म सबंधी विचारों पर प्रकाश डाला गया है। उनकी दृष्टि में नाम और रूप जन्म ग्रहण करते हैं। जिस नाम और रूप से व्यक्ति पाप या पुण्य करता है, उन कर्मों से दूसरा नाम और रूप जन्म ग्रहण करता है। भिनान्दर मन्त से पूछते हैं कि जब एक नाम और रूप से कर्म किए जाते हैं, तो वे कहाँ ठहरते हैं ? उपरोक्त समस्या के समाधान में मन्त उत्तर देता है कि कर्म छाया की भाँति नाम रूपात्मक व्यक्ति का पीछा करते रहते हैं। दिए की लौ का दृष्टान्त देते हुए समझाया गया है कि जिस प्रकार रात के पहिले पहर में जो टेम होती है, वही दूसरे या तीसरे पहर में वही रहती है, उसके घटने-बढ़ने से लौ में अन्तर नहीं आता है। ठीक उसी प्रकार किसी वस्तु के अस्तित्व के सिलसिले में एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाही की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव और न दूसरा ही हो जाता है। 'एक जन्म के अंतिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।'^१ इस प्रकार एक जन्म के बाद तुरन्त ही दूसरे जन्म की अवस्था का प्रारम्भ हो जाती है और उसके पूर्व कर्म साथ-साथ चलते हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में तथा वादरायण आदि के द्वारा भी पुनर्जन्म और 'कर्म परम्परा' के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है।

जैनेन्द्र की दृष्टि और सामान्य अभिमत

उपरोक्त परम्परागत दार्शनिक विचारों के सन्दर्भ में जब हम जैनेन्द्र के विचारों का विश्लेषण करते हैं तो उनमें कर्म परम्परा के सम्बन्ध में कोई सगति नहीं दृष्टिगत होती। जैनेन्द्र ने व्यक्ति के पुनर्जन्म को कई बार अपने साहित्य में स्वीकार किया है तथा वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति मृत्यु के द्वारा से सीधे नया जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उनके पूर्व कर्म सम्बन्धी विचारों की समस्या का समाधान फिर भी नहीं मिल पाता। जैनेन्द्र ने 'कल्याणी', 'रुकिया बुद्धिया' तथा 'मौत की कहानी' आदि उपन्यास तथा कहानियों में यत्र-तत्र

१ राहुल सांकृत्यायन 'दर्शन दिग्दर्शन', हजारीबाग सेण्ट्रल जेल, १९४२, पृ० ५५४-५५।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। 'पुनर्जन्म' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति का ही फिर से जन्म होता है। पुनर्जन्म शब्द व्यक्ति सापेक्ष प्रतीत होता है, किन्तु जैनेन्द्र ने सम्भवतः उसे कर्म की सापेक्षता से ग्रहण किया है। उन्होंने व्यक्ति से इतर जन्म की परम्परा को स्वीकार किया है। उनके अनुसार जन्म के बाद मृत्यु और फिर जन्म का क्रम सतत् चलता है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह परम्परा विशिष्ट व्यक्तियों के सन्दर्भ में चल रही है। तथा वलय रूप संस्कारों का महत्व के लिए कोई महत्व नहीं रह जाता है। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त में जैनेन्द्र ने व्यक्ति को स्वार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होने का संदेश दिया है, किन्तु व्यक्ति की दृष्टि में उसका महत्व निःशेष हो जाता है। ससार कर्म और भाग्य की आस्था पर चल रहा है। जन्म-जन्मान्तर में एक-दूसरे से बंध कर ही समग्रता का परिचय दे सकते हैं। अन्यथा विकास और प्रगति की समस्या फिर एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है।

सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा विश्वास है कि जन्म-जन्मान्तर द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में परिमार्जन उत्पन्न कर सकता है। वह अपनी अपूर्ण अभिप्रायों की पूर्ति के हेतु जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करता रहता है। कामना ही जन्म का मूल आधार है। यदि व्यक्ति के कर्म पूर्व अथवा पुनर्जन्म से सम्बन्धित नहीं है तो कामना की पूर्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्यतः जीवन में विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न पूर्वजन्म के संचित कर्मों अर्थात् भाग्य के अनुसार ही सम्भव होता है।

प्रतिभा अध्यवसायमूलक

जैनेन्द्र ने प्रतिभा के सम्बन्ध में अपनी मौलिक दृष्टि प्रदान की है। उनके अनुसार 'प्रतिभा' व्यक्तिगत अध्यवसाय और अभ्यास का परिणाम है। पूर्व जन्म के संचित गुणों के आधार पर प्रतिभा को स्वीकार करना व्यक्ति को निष्क्रिय बनाना है। पूर्वजन्म का पुनर्जन्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।^१ 'प्रतिभा' को मे द्वन्द्वज मानता हूँ अर्थात् गहरे में उसका आधार अहंभाव है। प्रतिभाशाली अकेला हो जाता है और अन्य के साथ उसका सम्बन्ध समता और समवेदना का कम बन सकता है।^२ विश्व में सृष्टि का क्रम तो अनन्तकाल से चला आ रहा है। इस क्रम का खण्डन सम्भव नहीं है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि यह

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ६७।

२ जैनेन्द्रकुमार, 'समय, समस्या और समाधान', पृ० २३३।

क्रम टूट जाय तो जीव-विज्ञान, प्राण विज्ञान निरर्थक सिद्ध होंगे। आनुवशिकता की शृंखला सतत् चलती रहती है। उनकी दृष्टि में आनुवशिकता के कारण ही बच्चा अपने माता-पिता की सूरत तथा उनके गुणों को लेकर जन्म लेता है। इस प्रकार उसका जीवन स्वयं में एक विशृंखलित कड़ी नहीं है, वरन् उसका व्यक्तित्व माता-पिता के रज-वीर्य के गुणों का सक्रमित रूप है। वस्तुतः व्यक्ति का जन्म नवीनतम रूप से होता है, किन्तु उसकी चिदगुणता का नहीं।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति की चेतना का आरम्भ किसी जन्म-विशेष से नहीं होता। चेतना अनन्तवादी है, केवल व्यक्तिमत्ता या निजता काल में सीमित है, किन्तु वह भी मृत्यु के अनन्तर आत्मरूप में अपरिमित, असीम ब्रह्माण्ड में लीन हो जाती है।

जीव-वैज्ञानिक दृष्टि

जैनेन्द्र के उपरोक्त अनुवशिकता के विचारों पर जीव-वैज्ञानिक और विकासवादियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। वैज्ञानिकों ने वश-परम्परा (ला आफ हेरिडिटी) सिद्धांत के द्वारा पुनर्जन्म की सत्यता को प्रमाणित किया है, किन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि वर्तमान को लेकर विश्लेषण की ओर उन्मुख होती है। अतएव वैज्ञानिक विचार-धारा पूर्णतः सगत ही है।

वश-परम्परागत गुणों की समानता स्वीकार करने पर उसमें भी कुछ अपवाद दृष्टिगत होते हैं। प्रायः प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्तानें अधिक कुशाग्र तथा प्रतिभा-सम्पन्न नहीं भी होती। किन्तु जैनेन्द्र किसी स्थिति में प्रतिभा को अलौकिक शक्ति की देन न जानकर साधना और अध्यवसाय का परिणाम ही मानते हैं।

क्षतिपूर्ति

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त भी व्यक्ति को विशिष्ट क्षेत्र में विशिष्ट प्रतिभा प्रदान करने में सहायक होता है। उन की धारणा है कि किसी अंग की अक्षमता शरीर के दूसरे अंग की शक्ति को अधिक सशक्त और सम्पन्न बना देती है। शरीर से हीन व्यक्ति प्रायः बुद्धि से विलक्षण देखे जाते हैं।^२ ईश्वर अपनी ओर से किसी को मूर्ख अथवा प्रतिभासम्पन्न

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ६६।

२, जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ६८।

नहीं उत्पन्न करता। वस्तुतः जैनेन्द्र ब्रह्म को ही एकमात्र निरपेक्ष शक्ति अथवा सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं, आध्यात्मिक या व्यावहारिक दृष्टि से पुनर्जन्म नित्य सत्य नहीं है। वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर अवश्य वह सिद्ध किया जा सकता है। अहं के प्रकट और विलय होने का चक्र चलता रहता है, किन्तु अहं के साथ व्यक्ति के सूक्ष्म मन, बुद्धि आदि का मृत्यु के बाद कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसकी चेतना ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर अकाल की हो जाती है।

भारतीय दर्शन और पुनर्जन्म

जैनेन्द्र हिन्दु धर्म और विश्वासों के समर्थक हैं। उनका दर्शन आस्तिकता का पोषक है। भारतीय दर्शन में आस्तिकता का मूल स्रोत वेदान्त है। वेदान्त में आत्मा की अमरता के आधार पर पुनर्जन्म की स्थिति को स्वीकार किया है।^१ 'वायु गंध के स्थान से गंध को जिस प्रकार ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादियों का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहिले शरीर को त्यागता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके, फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'^२

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक 'मरणोपरान्त' में शोपनहायर के विचारों द्वारा पुनर्जन्म के विषय पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'मृत्यु रूपी नीद में से नया प्राणी बनकर दूसरी बुद्धीन्द्रिय को साथ लेकर पुन प्रकट होता है, नया दिवस उसे नये प्रदेशों की ओर ललचाता है' (यह क्रम) तब तक चलता है, जब तक कि बारम्बार के नये शरीरों में अधिकाधिक भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान के द्वारा शिक्षित और उन्नत होकर वह अपना ही अभाव करके अपने को विलुप्त न कर दे।' उनके अनुसार 'यथार्थ में तो नए प्रकट होने वाले प्राणियों के जन्म से जीर्ण होने वालों की मृत्यु से उसका सम्बन्ध रहता ही है।'^३ 'रामचरितमानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी पूर्व-जन्म व पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। इसका प्रमाण कागभुषुण्डि की कथा

१ 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।

अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥'

—श्री मदभगवद्गीता अध्याय २।२०

२ शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर ।

गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ अध्याय १५

३. विवेकानन्द, 'मरणोपरान्त' पृ० १२ ।

से प्राप्त होता है ।^१ उपरोक्त विचारों के सन्दर्भ में जैनेन्द्र के विचार पूर्णतः असम्बद्ध प्रतीत होते हैं । उपरोक्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुनर्जन्म सम्बन्धी जैनेन्द्र के विचार सर्वथा मौलिक हैं । 'अतृप्त-वासना' और अभीप्साओं की समस्या का समाधान करते हुए वे कहते हैं कि अतृप्तियाँ पूर्णता के लिए प्रयत्नशील न होकर साहित्य, कला आदि के रूप में अमर हो जाती हैं । इस प्रकार जो मरता है वही मरता है, उसके द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है, वह नहीं मरता, वह अमर बना रहता है ।^२

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती, (यद्यपि उनके विचारों के अनुसार पूर्वजन्म की स्मृति के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता) किन्तु वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि पूर्वजन्म की स्मृति सम्भव होने पर व्यक्ति का वर्तमान जीवन और भी कष्टमय हो जायगा । 'रुकिया बुडिया' शीर्षक कहानी में उन्होंने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है । जैनेन्द्र के अनुसार पुनर्जन्म सत्य है किन्तु उस सब घटित अतीत से अपने को सर्वथा तोड़कर नए जन्म में हम जीते हैं नहीं तो अपने अनन्त इतिहास का बोझ अपने माथे पर लेकर हम जी सकते हैं ? हमारा ज्ञान सुकुचित है, यही हमारा वरदान है । हम परिमित हैं, यही हमारा धन्य भाग्य है ।

जैनेन्द्र के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों को अशत विकासवादी विचारों के सन्दर्भ में स्वीकृत किया जा सकता है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पुनर्जन्म-वादी यह मानते हैं कि 'सभी अनुभव प्रवृत्तियों के रूप में अनुभव करने वाले जीवात्मा में सग्रहीत रहते हैं और उस अविनाशी जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा किए जाते हैं और भौतिकवादी मस्तिष्क को सभी कर्मों के आधार होने के और बीजाणुओं 'सेल्स' के द्वारा उनके सक्रमण का सिद्धांत मानते हैं । '...उसे (प्रवृत्तियों को) माता-पिता से पुत्र में आने वाली आनुवंशिक सक्रमण द्वारा समझते हैं ।'^३ इस दृष्टिकोण से जैनेन्द्र के प्रेरक गुणों के सक्रमण का विचार विकासवादी ही प्रतीत होता है । जैनेन्द्र अपने विचारों की पुष्टि करते हुए

-
- १ 'मरने के पहले जो होता है उसे जीना कहते हैं । '...हम तुम नहीं जीते, जीता खुद जीवन है, वह इतिहास में जीता है, विकास में जीता है । वह मेरा तुम्हारा नहीं है, मुझसे तुमसे नहीं है, बल्कि हम उसमें हैं । वह है, हम नहीं हैं ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा' पृ० १७१ ।

- २ जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग ७, तृ० स०, दिल्ली, १९६३, पृ० १०३ ।

- ३ विवेकानन्द — 'मरणोपरान्त', पृ० ३२ ।

कहते हैं कि, 'क्या प्रमाण है कि पेड़ का यह पत्ता वही है जो पिछली पतझड़ में वृक्ष की उसी शाखा की किसी टहनी से टूटा था।'¹ जैनेन्द्र पूर्वजन्म को इसी रूप में समझ पाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन में अहं के विगलन की भावना ही दृष्टिगत होती है, अतः वे व्यक्तिमत्ता को विशेष महत्व न देकर उसे समष्टि के जीवन का साधन ही मानते हैं। जैनेन्द्र का पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अपना अभिमत है। इस सम्बन्ध में वे अपने विश्वास पर ही अपनी मान्यताओं का निर्धारण करते हैं। भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की परम्परा में पूर्वजन्म की सम्बद्धता स्वीकार की गई है। पुराणों में अनेकों ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिनके द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है तथा आधुनिक युग में भी यदा-कदा ऐसी घटनाएँ सुनायी पड़ती हैं, जिनसे पुनर्जन्म की सत्यता का प्रमाण मिलता है किन्तु जैनेन्द्र दो-एक घटनाओं को सत्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं समझते।³ उनकी दृष्टि में जो कुछ है सब सत्य है, अथवा सत्य में ही समाहित है। अतएव कुछ विशिष्ट घटनाएँ सत्य को प्रमाणित करने के लिए घटित नहीं होती।

सामान्यतः हमारी यह मान्यता है कि पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही हम सुख अथवा दुःख भोगते हैं और पुनर्जन्म भी इस (वर्तमान) जन्म के कार्यों के अनुसार ही होता है, किन्तु जैनेन्द्र की ऐसी मान्यता है कि फल और कर्म विच्छिन्न नहीं हो सकते कि इस जन्म के कर्म अगले जन्म में फल दें। 'कर्म और फल की कड़ी एकसूत्रता में ही देखी जा सकती है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार सरोवर में छोटी-सी ककरी भी डालिए तो लहर पैदा होती है। वह दूसरी को फिर तीसरी को लहराती हुई तब तक नहीं रुकती जब तक किनारा नहीं पा लेती। इसी तरह माना यह भी जा सकता है कि कर्ता के रूप में जिस कर्म को अपनाया है, उसका प्रभाव ब्रह्माण्ड तक फैले बिना नहीं रहता होगा।'²

इस प्रकार जैनेन्द्र का दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु के अनन्तर व्यक्ति का कर्म अकाल का हो जाता है अर्थात् शून्य में व्याप्त हो जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में हमारी यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है कि हम कर्म इस जन्म में करते हैं और

१ 'समय और हम' (प्राक्कथन—वीरेन्द्रकुमार), पृ० ३६।

२ 'सत्य को सिद्ध करने के लिए क्या एक ही घटना आवश्यक है। सब कुछ क्या सत्य को ही नहीं सिद्ध कर रहा है।'।

—जैनेन्द्र के साक्षात्कार के अवसर पर उपलब्ध विचार।

३ 'समय, समस्या और सिद्धांत',

उसका फल अगले जन्म में मिलता है। उनकी दृष्टि में कर्म और फल में ऐसी असम्बद्धता देखना उचित नहीं है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के बाद क्या होता है, कोई देखने नहीं जाता।

अपने विचारों को वे घड़े के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'घड़ा टूट जाता है तो प्रश्न मन में नहीं उठता कि फिर वह क्या पर्याय ग्रहण करता है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार घट का घटत्व हमारे लिए सामयिक प्रयोजन से अधिक महत्व नहीं रखता है, इसलिए उसकी समाप्ति मान लेने पर कोई कठिनाई नहीं होती। व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी इसी तरह सामयिक सघटना माना जा सके तो पुनर्जन्म आदि की कल्पना के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता है।'^१

वस्तुतः जैनेन्द्र का उपरोक्त अभिमत तर्कसंगत प्रतीत होते हुए भी सापेक्षिक महत्व ही रखता है, क्योंकि वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि इस जीवन के पार क्या होता है, कोई नहीं जानता। इस सम्बन्ध में हम केवल अनुमान का ही सहारा ले सकते हैं, उसे निरपेक्ष सत्य नहीं मान सकते, क्योंकि हमारी अपनी सस्कारगत मान्यता पुनर्जन्म की पूर्वजन्म से सम्बद्धता को स्वीकार करती है। वर्तमान में हम इस विश्वास को लेकर ही जीते हैं कि जो जैसा करेगा उसका फल उसे कभी-न-कभी (किसी भी जन्म में) मिलेगा।

परलोक

जैनेन्द्र के पात्रों के मन में सदैव यह जानने की जिज्ञासा रहती है कि मृत्यु के बाद क्या होता है। 'कल्याणी' में कल्याणी के समक्ष ऐसी ही विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब वह जानने के लिए उत्सुक होती है, कि मरने के बाद क्या होता है ?^२ कल्याणी के मन में आत्मघात के कारण प्रेतयोनि के अस्तित्व के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाएं उत्पन्न होती हैं। मृत्यु के बाद आत्मा तुरन्त दूसरे शरीर में प्रवेश करती है या कुछ काल प्रेतयोनि में भी उसे रहना पड़ता है ?^३

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त'

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', दिल्ली, १९५६,

'मरता तो आदमी जरूर है, हर कोई मरता है, लेकिन मरने के बाद क्या होता है। मरकर आदमी की क्या गति होती है—क्या इस बारे में किसी को कुछ भी पता नहीं है ? पुनर्जन्म क्या वह होता है ?'

३ 'मरकर उसका जन्म तुरन्त हो जाता है या कुछ काल प्रेत योनि में रहना पड़ता है ? आत्मा तो नहीं मरती न ? और मौत भी दो तरह की होती है—स्वाभाविक और अकाल मौत। कोई अपघात कर ले या कोई मार डाला जाये तो आप क्या समझते हैं कि उसकी वैसी ही गति होगी, जैसी प्राकृतिक मौत वाले की ?' —'कल्याणी', पृ० ८०।

प्रेतयोनि और परलोक में अन्तर है। पुनर्जन्म की परिकल्पना को सत्य मानने पर हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस लोक के अतिरिक्त क्या परलोक है ? परलोक से तात्पर्य स्वर्ग और नरक से है जहाँ मृत्यु के बाद कुछ दिन रहकर व्यक्ति अपने पुण्य अथवा पाप कर्मों का फल भोग कर पुनः धरती पर जन्म लेता है। परलोक में जाने वाले व्यक्ति की आत्मा भटकती नहीं है, वरन् कर्मफल भोगने पर उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु प्रेतयोनि में जाने वाले व्यक्ति की आत्मा भटकती रहती है वह न जीवन में रहता है न मृत्यु में। प्रेतयोनि में जाने वाले व्यक्ति की मृत्यु सहज रूप में नहीं होती। वे आत्मघात द्वारा जीवन की विषमताओं से मुक्ति पाना चाहते हैं। इस प्रकार की अकाल मौत में आत्मा शरीर से छूट जाने पर भी पूर्णतः पूर्वजन्म की आपत्तियों से मुक्त नहीं होती।

जैनेन्द्र के साहित्य में इस तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है कि परलोक क्या है ? तथापि उन्होंने परलोक के अस्तित्व को स्वीकार अवश्य किया है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में परलोक की कल्पना के मूल में व्यक्ति के हित की झलक देखने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र परलोक की परिकल्पना अवश्य करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में वे कोई तर्क-वितर्क करना उपयुक्त नहीं समझते। उनकी दृष्टि में परलोक की कल्पना ही व्यक्ति हितार्थ पर्याप्त है, वह क्या है, वह क्या नहीं है इसका कोई महत्व नहीं होता। उनके अनुसार अनुमान निर्भर जो मान्यताएँ हैं उनके बारे में किसी आग्रह-विग्रह की आवश्यकता नहीं है। उनके विचार में परलोक की परिकल्पना से व्यक्ति की कर्मशीलता को बल मिलता है। परलोक की परिकल्पना इस प्रेरणा के रूप में सार्थक हो सकती है अन्यथा परलोक इस धरती से परे कोई विशिष्ट लोक नहीं है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में स्वर्ग और नरक का भी उल्लेख किया है। स्वर्ग और नरक क्या है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता, किन्तु यह अवश्य सत्य है कि स्वर्ग और नरक के कारण व्यक्ति अपने कर्मों की श्रेष्ठता के हेतु सदैव सजग रहता है। परलोक की पूजा धर्म है। 'धर्मवेत्ता ही स्वर्ग का अधिकारी होता है। जैनेन्द्र के साहित्य में स्वर्ग और नरक का उल्लेख होते हुए भी उसे उस जगह से परे की स्थिति के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। उनके अनुसार स्वर्ग और नरक यहाँ इस धरती पर ही है।'

मृत्यु

जैनेन्द्र के साहित्य में जन्म, पुनर्जन्म और कर्म-परम्परा का विवेचन करते

हुए उनके मृत्यु सम्बन्धी विचारों का विवेचन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। जन्म और पुनर्जन्म के मध्य मृत्यु द्वार है, विश्रान्ति है, ठहराव है, किन्तु मौत के बाद फिर जन्म का क्रम अनवरत चलता रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में मौत एक गूढ सत्य है। मौत के द्वार से जीवन के गुह्यतम रहस्यों का उद्घाटन होता है। मृत्यु की चेतना व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार व्याप्त है कि प्रतिपल उसके (मृत्यु) अस्तित्व का बोध प्राप्त करता हुआ भी व्यक्ति कर्म-रत रहता है। मृत्यु के बाद सब व्यर्थ है, मिथ्या है, किन्तु व्यक्ति की मौत से जगत की अनन्तता में कोई व्यवधान नहीं पड़ता है। जैनेन्द्र की मृत्यु सम्बन्धी मान्यताओं में उनके गहन चिन्तन की झलक मिलती है। जीव और मृत्यु के अन्तर्गत रहस्य का उद्घाटन करते हुए जैनेन्द्र ने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की मृत्यु-सम्बन्धी धारणाओं को अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्त किया है।

जीवन के उन्माद में उसकी चहल-पहल में व्यक्ति मौत की सत्यता की ओर ध्यान नहीं देता, उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन ही है उसके बाद मौत नहीं है। जैनेन्द्र के साहित्य में अनेकों बार मौत की सत्यता (महत्ता) पर प्रकाश डाला गया है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में ऐसी अनेकों घटनाओं की ओर इंगित किया है जब कि परिवार के कई सदस्य एक-के-बाद-एक मौत के ग्रास बन जाते हैं। मृत्यु का ऐसा दुर्दान्त रूप देखकर ही उन्हें स्वीकार करना पड़ता है कि मौत अक्राव्य सत्य है। ससार मिथ्या है। जैनेन्द्र ने 'अनन्तर' कहानी में सत्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि मौत एक द्वारमात्र है, अन्यथा सब मिथ्या है केवल ब्रह्म सत्य है। 'रामनाम सत्य है, रामनाम सत्य है।' मानो राम नाम सत्य के आगे मौत झूठ हो जाती है, मानो नियति के आधार पर हमारा एक उत्तर है। एक राम नाम से मिलकर ही सब मिथ्या हो जाता है।^१ एक को श्मशान घाट पहुँचाया जाता है और दूसरा जाने को तैयार हो जाता है, किन्तु व्यक्ति का कर्म (जीवित रहने के कारण) शेष है और और लोगों को भी मरना है। वस्तुतः एकमात्र वही सत्य है और वह सत्य है ईश्वर।

मृत्यु : एक अनिवार्य सत्य

जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है। उसकी कल्पना जीवन के लिए बहुत ही सहयोगी तथा शान्तिदायक सिद्ध होती है। 'जगत के जीवन के लिए मृत्यु वरदान है।' जन्म की एकपक्षीय धारा जीवन को गदला

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग २, 'अनन्तर,' चौथा संस्करण, १९६६, पृ० सं० १।

कर देगी। जिस प्रकार तालाब की स्वच्छता के लिए निरन्तर स्वच्छ जल का आगमन और अस्वच्छ जल का निगमन अनिवार्य है उसी प्रकार जैनेन्द्र ने जगत की स्वच्छता और स्वास्थ्य के हेतु मृत्यु को अनिवार्य माना है।^१ उन्होंने 'मौत की कहानी' में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए बताया है कि—'मौत का सिलसिला बन्द हो जायगा तो जन्म का सिलसिला भी रोक देना पड़ेगा। नहीं तो धरती पर ऐसी किचमिच मचेगी कि सास लेने को भी जगह न रहेगी।'^२

मृत्यु की गोद में केवल 'आत्मता' का ही अस्तित्व रहता है, व्यक्तिमत्ता (निजता) समाप्त हो जाती है। गरीबी और अमीरी का भेदभाव मौत में समाप्त हो जाता है। 'भेद' जगत की सापेक्षता में सम्भव होता है, किन्तु ससार की परिमिति से परे सब एक है, अभिन्न है।

जैनेन्द्र ने जीवन में और जीवन के अनन्तर भी एकमात्र स्नेह और पारस्परिक प्रेम को ही अनिवार्य माना है, क्योंकि मौत के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता, केवल व्यक्ति के स्नेह की स्मृति स्थायी रहती है। स्मृति के सहारे ही व्यक्ति मर कर भी अमर है और अविस्मरणीय हो जाता है। मौत के बाद व्यक्ति के समस्त सम्बन्ध छूट जाते हैं और वह किसी का न होकर शून्य सा हो जाता है। 'विवर्त' में इस सत्य पर प्रकाश डाला गया है।^३

जैनेन्द्र के विचारों के मूल में उनकी धार्मिक आस्था और नीति के दर्शन होते हैं। धर्मपूर्वक आचरण ही उनकी सबसे बड़ी नैतिक मान्यता है। उनकी दृष्टि में 'मौत सिर पर है, यह यदि हम याद रखे तो धर्म आचरण सहज होता है।' मृत्यु की सत्यता का बोध यदि व्यक्ति के मन में बना रहे तो व्यक्ति धर्म के विमुख होकर क्षुद्रता में नहीं गिर सकता।^४

- १ 'मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। वह परमेश्वर का वरदान है। मैं मृत्यु को समाप्त नहीं चाहता हूँ। उसके बिना जीवन असह्य हो जायगा।'

—जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत', पृ० ११३।

- २ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', तृ० स०, १९६३, पृ० ६८।

- ३ 'यो हम कब एक दूसरे के हैं, कोई केवल अपना नहीं है, लेकिन क्षण आते हैं कि हम आपस के रह ही नहीं पाते, कहीं किसी अपर के हो जाते हैं। तब मालूम होता है कि आपसीपन खिसककर ओढ़े कपड़े के मानिन्द हमसे नीचे उतर गया है। हम किसी के भी नहीं रहे, अपने भी नहीं रहे, माने सिर्फ नहीं के हो गए हैं। क्या यही कृत-कृत्यता है? या कि यह मृत्यु है।' —जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० २१७।

- ४ 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' (अनन्तर), भाग २, पृ० ७।

मृत्यु की सार्थकता

जैनेन्द्र मृत्यु को सार्थक बनाना चाहते हैं। मौत की सत्यता अथवा उसकी चेतना व्यक्ति को भयभीत रखने के लिए नहीं है। मौत से भयभीत हुए व्यक्ति के हृदय से कर्म के प्रति भावना की शुद्धता समाप्त हो जाती है। यदि व्यक्ति मृत्यु की चेतना द्वारा स्वकेन्द्रित होकर अधिकाधिक सुख-भोग का प्रयत्न करता है, ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति जीवन में लिप्त होने लगता है तब मृत्यु का आगमन उसके लिए बहुत कष्टमय प्रतीत होता है। अपने स्वार्थ के लिए जीने वाला व्यक्ति अपनी कामनाओं और उनसे चिपटा रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार जो व्यक्ति निर्भीक होकर कर्म करते हैं, मृत्यु का भय उनकी सद्वृत्ति में बाधक नहीं बनता। वे न तो मृत्यु की ओर आकर्षित होते हैं और मौत के आने पर उसका सहर्ष आलिंगन करते हैं। उन्हें यम का स्पर्श वरदान के सद्दृश्य प्रतीत होता है। अपनी जीर्णता को मृत्यु के द्वारा पुनः नवीनता में परिवर्तित करने में खिन्न नहीं होते, क्योंकि वे वह मानते हैं कि मृत्यु के अनन्तर भी जीवन का क्रम चलेगा। अतएव जीवन सार्थकता और सापेक्षिक पूर्णता के हेतु मृत्यु में विराम अनिवार्य है।^१ मौत न हो तो जीवन स्वयं में रुकावट प्रतीत होने लगेगा। जैनेन्द्र के अनुसार मौत के द्वारा व्यक्ति के जीवन को रास्ता मिलता है।

‘दर्शन की राह’^२ शीर्षक कहानी में जैनेन्द्र ने जीवन और मृत्यु के गहन सत्य को उद्घाटित किया है। जीवन और मृत्यु के ऐसे कठोर सत्य को देखकर व्यक्ति सहसा स्तम्भित हो जाता है। जीवन में शरीर को अत्यधिक महत्व देने तथा भोग-विलास का साधन समझने वाला व्यक्ति मौत के द्वारा ‘पदार्थ’ बन जाता है, किन्तु आश्चर्य यह है कि उसकी पदार्थता को देखकर भी शेष व्यक्ति सत्यता की ओर उन्मुख होने से बचाव करते हैं। गाड़ी से कुचला हुआ अधमरा व्यक्ति मृतक में पदार्थवत् उठाकर डाल दिया जाता है और शेष दर्शक गाड़ी के लेट होने की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। इस घटना को लेकर लेखक ने एक ऐसे व्यक्ति के जीवन की घटना का उल्लेख किया है, जो ऐसे हृदय-विदारक दृश्य को देखकर भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ भोग-विलास में डूब जाना चाहता है, किन्तु आदर्शवादिनी पत्नी अपनी आत्महत्या के द्वारा

१ ‘जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं अगर मौत उसके आगे फुलस्टाप की तरह बैठ जाए। इसलिए मृत्यु स्थाई वस्तु नहीं है।’

—जैनेन्द्र की कहानियाँ, पृ० ६८ (भय-मौत की कहानी)

२ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, पृ० १०४।

पति की आख खोलने में समर्थ होती है और उसका पति अन्त में यह स्वीकार करता है—कि 'मृत्यु के द्वार में से ही सत्य को प्राप्त करना होगा'।^१ 'जीना-मरना' शीर्षक कहानी में भी इसी तथ्य की सत्यता पर प्रकाश डाला गया है कि मृत्यु के बाद शव की क्या स्थिति होती है। लेखक ने ऐसी स्थिति का चित्रण किया है जो मर्म को झकझोर देने में सहायक होती है। अस्पताल में गर्मी में लाशें अधिक हो जाने के कारण बाक्स में भर दिए जाते हैं, आलमारी भी इसी कार्य के हेतु प्रयुक्त होती है। 'भर दिये जाते हैं' सुनकर सहसा शरीर काप उठता है, किन्तु सत्य यही है। यह जैनेन्द्र के अन्तस् की गहनता का ही परिचायक है कि उन्होंने जीवन के ऐसे यथार्थ सत्यो को स्पष्टतः अभिव्यक्ति प्रदान की है। एक ओर जीवन की रंगरेलिया दूसरी ओर मौत का क्रूर सत्य^२, - दोनों के मध्य व्यक्ति मन स्थितियों को व्यक्त करते हुए जैनेन्द्र ने बताया है कि व्यक्ति मौत की सत्यता की चाहे कितनी ही उपेक्षा करे, किन्तु वह सदैव जीवन के समक्ष एक व्यग्र-चिन्ह-सी दृष्टिगत होती है।^३

'तोलए' शीर्षक कहानी में भी जैनेन्द्र ने जीवन और मृत्यु के गम्भीर सत्य का विवेचन किया है। मृत्यु की ओर पहुँचता हुआ व्यक्ति जीवित व्यक्तियों के लिए अर्थशून्य हो जाता है। जीवन में उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। मानव जीवन में वही वस्तु यह व्यक्ति ग्राह्य है, जो कि उपयोगी है—अन्यथा प्राणयुक्त व्यक्ति भी तुच्छ पदार्थ की भाँति इस लीला का अन्त करने के लिए विवश होता है, क्योंकि मरने वाले को मरना तो है ही, परन्तु उसके कारण गन्दगी भी फैलती है और उसकी दिन-रात की खो-खो भी परेशान करती है।^४ इस कहानी में भी लेखक ने क्लब के भोग-विलासमय जीवन के समानान्तर मौत की सत्यता का चित्रण किया है। उनके अनुसार 'मरना जीवन को राह देता है। हम कहीं बन गये होते हैं। काम आ चुके होते हैं।' ससार में कुछ

१ जैनेन्द्र की कहानियाँ (दर्शन की राह), भाग ७, तृ० स० ११८, १९६३।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' भाग १०, 'जीना-मरना' प्र० १३६।

३ 'वह गुस्सा सिर्फ इस पर था कि मौत है। मानो वह जिन्दगी के आगे व्यग्र चिन्ह है। उसको सामने रखकर जिया कैसे जाए? पर हमेशा पीठ पीछे भी उसे कैसे जिया जाय'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', पृ० १३२।

४ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ७, १९६३, दिल्ली, पृ० ११९।

५ 'जैसे एक दिन होकर और कुछ दिन रहकर हम बिसर जाते हैं कि यह होना रहना काल का ही खेल था उस खेल के लिए अब हमारा न होना सगत हो गया है।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्', पृ० १०९।

दिन रहकर व्यक्ति की मृत्यु अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार जैनेन्द्र ने उप-रोक्त कहानी द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि मृत्यु अनिवार्य है।

जैनेन्द्र के साहित्य में उनकी मृत्यु सम्बन्धी विवेचना दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है। एक स्वीकारात्मक तथा दूसरा निषेधात्मक। जैनेन्द्र का विश्वास है कि व्यक्ति का आकर्षण जिस ओर होता है, उसकी विपरीत दिशा में ही वह भागता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसकी सत्यता व्यावहारिक जीवन में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है।

मृत्यु के द्वार से अमरत्व

जैनेन्द्र के अनुसार शहीद तथा परमार्थ की ओर उन्मुख रहने वाले व्यक्ति को मौत की कोई चिन्ता नहीं होती। वह अपने कर्तव्य में इतना लीन रहता है कि उसके समकक्ष निरर्थक सिद्ध होता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में जीवन की आहुति देने वाले पात्र सहर्ष मृत्यु का आलिगन करते हैं, किन्तु मौत के लिए उत्सुक नहीं होते। उनकी दृष्टि में 'मौत' ऐसी तुच्छ वस्तु है, कि उसका चाहना लज्जास्पद है। चाहने को मेरे पास बड़ी वस्तु है। "फासी" में शमशेर मौत के आचल में मुह छिपाकर जीवन-सर्वर्ष से बचना नहीं चाहता, किन्तु जब मौत के द्वारा ही परमार्थ सम्भव हो रहा है तो वह उसकी उपेक्षा भी नहीं करता।^१ यही जैनेन्द्र के साहित्य का अभीष्ट है। उनके अनुसार जीवन की सार्थकता मौत के सम्बन्ध में विचार करने से अधिक उसे सामने लेने में है।^२

जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति मर कर अमरत्व प्राप्त करने में आस्था रखता है। मृत्यु पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु मरकर व्यक्ति सहज ही अमर हो जाता है। जीवन और मृत्यु के बीच जैसे रेखा उनके लिए हुई ही नहीं।^३ 'कहानी की कहानी' में लेखक ने गांधी जी की मौत द्वारा उनकी

१ मेरी मौत में दुनिया की अर्थ सिद्धि है, मेरी भी परमार्थ सिद्धि है। विश्व का अर्थ सिद्ध करने व्यक्ति की मौत आती है। परमात्मा उसे भेजता है। व्यक्ति क्यों न उसे साथ ले ओर आगे बढ़े।'

जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', सम्पादक-शिवनन्दनप्रसाद, प्र० स०, पृ० २४।

२ 'मौत को सामने लो'—'जैनेन्द्र की कहानियाँ', (दर्शन की राह), पृ० १३४।

३. जैनेन्द्रकुमार, 'अततर', पृ० ४७।

अमरता की ओर इंगित किया है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार जीवन की पूर्णता मौत में भी जीवन की झलक देखने पर ही सम्भव होती है।^२

मृत्यु का भय

जैनेन्द्र के साहित्य में जब हम मौत के निषेधात्मक पक्ष का अवलोकन करते हैं तो हमें उनकी कई कहानियों में उनके पात्रों के मन में अवस्थित मौत के भय का सकेत मिलता है। 'मौत की कहानी' इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस कहानी में लेखक ने मौत के पूर्व उत्पन्न होने वाले भय का बड़ा ही स्वाभाविक और जिज्ञासापूर्ण चित्रण किया है। तम्बाकू न खाने वाला व्यक्ति अनजाने में तमाखू खा लेता है, उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उससे वह स्वयं को शत-प्रतिशत मृत्यु के निकट आया हुआ ही अनुभव करता है। वह यह नहीं जानता कि उसकी समस्त विकृत चेष्टाओं का कारण तम्बाकू का नशा है। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा जो भावाभिव्यक्ति होती है, उससे उसके हृदय में स्थित मृत्यु के भय से सम्बद्ध विचारों का पूर्ण परिचय मिलता है। जैनेन्द्र के अनुसार 'मौत कैसी होती है कोई नहीं जानता।'^३

'मौत की कहानी' में यम के भयावह रूप पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि 'यम नाम का देव है, सचमुच बड़ा डरावना है। वास्तव में वह किसी अस्त्र-शस्त्र से आदमी को नहीं मारता, दर असल वह मारता ही नहीं है, आदमी उसे देखकर डर के मारे स्वयं ही मर जाता है।'^४ 'पत्नी' शीर्षक कहानी में भी लेखक ने मृत्यु के भय पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य से अवगत होता है कि उसे एक-न-एक दिन मरना अवश्य है, किन्तु मृत्यु की कल्पना ही उसे भयभीत कर देती है।^५ व्यक्ति के अन्तर्निहित मार ने ही यम के

१ 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, पृ० स० ५२।

२ 'जो पूरा जीता है वह मौत में भी जीवन देख सकता है। वही जिसके पास जीने के लिए कुछ है और वही मरने के लिए है।'

—जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग २, पृ० ४५।

३ जैनेन्द्र की कहानियाँ (मौत की कहानी), पृ० ६८।

४ जैनेन्द्र की कहानियाँ (मौत की कहानी), पृ० ६८।

५ 'यद्यपि वह जानती है कि मरना सब को है—उसको मरना है—उसके पति को मरना है पर उस तरफ भूल से छत पर देखती है तो भय से मर जाती है।'।'

रूप की कल्पना को भयकर और विकराल बना दिया है।^१ अन्यथा यमराज तो व्यक्ति की विपदाओं से मुक्ति दिलाने में ही सहायक है। मौत के सम्बन्ध में अत्यधिक सतर्कता रखने तथा उस सम्बन्ध में अधिक उपदेशादि देने से मौत की उत्तीर्णता नहीं व्यक्त होती वरन् मौत का मन ही प्रतीत होता है।^२ जैनेन्द्र के अनुसार 'उसका (मौत का) आकर्षण है तो समझो उसका भय है।'

जब व्यक्ति वैराग्य का बहुत अधिक उपदेश देता है और मन की सच्चाई को व्यक्त करना चाहता है, तब उसके मन में निश्चय ही कोई अवश्य छिपा होता है। और वह भोग से भोग की ओर ही उन्मुख होना चाहता है। यान 'मौत पर...' कहानी में मौत के अस्तित्व और उसकी सत्यता पर लम्बा प्रवचन दिया गया है, किन्तु अन्त में वही प्रवक्ता अपनी भावनाओं को नियन्त्रित नहीं कर पाता और अतः भोगोन्मुख ही होता है।^३

मौत से बचने और डरने वाला व्यक्ति सदैव जीवन से चिपटा रहता है। 'जयवर्धन' में जैनेन्द्र ने बताया है कि 'मौत को सतत् भीतर लेकर जीना असल जीना है। यह जीना मर कर होता है।'^४ 'जैनेन्द्र-साहित्य का प्रमुख आदर्श त्याग और परमार्थ में ही फलित होता है। यही कारण है कि उन्होंने 'जयवर्धन' में द्विजों से सदृश्य व्यक्ति के बलिदान की भस्म से फूटने वाले जीवन को ही सच्चा जीवन माना है। उनकी दृष्टि में जीवन पकड़ने में नहीं छोड़ने में है, भोग में नहीं यज्ञ में है।'^५ जब व्यक्ति की वासना सासारिक भोगों में लगी होती है, तभी वह मौत से चिंतित प्रतीत होता है।

जैनेन्द्र के उपरोक्त विचारों में उनकी दार्शनिकता की स्पष्टतः झलक मिलती है। दर्शन कोई विशिष्ट प्रक्रिया नहीं है। दर्शन जीवन के विविध शाश्वत सत्यों को गहराई से देखने की अन्तर्दृष्टि है। जैनेन्द्र ने जन्म-मृत्यु के आध्यात्मिक

- १ 'यम का रूप विकराल है...क्योंकि वह हमारे ही भय का रूप है। कल्पना की विकृति है वस्तुतः विधाता की ओर के ये जो यमराज हैं वही तो धर्म-राज हैं।'

—जैनेन्द्र कुमार 'इतस्तत्', पृ० १०६।

२. 'मौत से घबड़ाना मौत बुलाना है'

—जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० २३८।

- ३ जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग ८, पृ० १७६।

४. जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन' पृ० ११।

५. जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन' पृ० ११।

तथा व्यावहारिक पहलू को बहुत ही व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि से विवेचित किया है। समस्त विचारों के मूल में उनकी ईश्वरीय आस्था की स्पष्टता झलक मिलती है। उनके साहित्य में अभिव्यक्त त्याग, भोग आदि भावों के मूल में उनका पारमार्थिक दृष्टिकोण ही लक्षित होता है। जैनेन्द्र इस सत्य से पूर्णतः अवगत है कि मृत्यु के आने पर व्यक्ति का सर्वस्व यही रखा रह जायगा^१ और वह भी अपनी मजिल पर पहुँच जायगा। जीवन के सारे रिश्ते नाते तथा समस्त सम्पदा मौत के आने पर व्यर्थ हो जायगी।

जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की प्राप्ति जीवन से पार जाने में ही सम्भव हो सकती है। जीवन के पार जाने का एकमात्र यान मृत्यु ही है। मृत्यु में व्यक्ति का अहं निःशेष हो जाता है। 'उपलब्धि' में लेखक ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि व्यक्ति के अहं का स्वरूप नमक की डली के सदृश है। नमक की डली यदि समुद्र में डाल दी जाय तो वह उसी में समाकर अस्तित्व शून्य (अहंशून्य) हो जाती है, इसी प्रकार व्यक्ति का अहं मौत के द्वारा विराट में लीन हो जाता है। व्यक्ति शून्य में समा जाता है। इस प्रकार निश्चय ही मौत यम का क्रूर आघात न होकर ईश्वर की कृपा ही है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी निजता को छोड़कर समष्टि का बन जाता है। अन्यत्र उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जीवन की उलझन में मौत समाप्ति की भाँति आकर अच्छा ही करती है।^२ जैनेन्द्र के पात्रों को मौत के अघेरे में परमेश्वर के दर्शन होते हैं। मनुष्य के पास सबसे बड़ा सत्य यही है कि ईश्वर है और वह (व्यक्ति) नहीं है। इस सत्यता की पुष्टि मौत में ही होती है, इसीलिए मौत सत्य है।

१ क) 'एक दिन मौत आएगी और सब रह जाएगा।'

—जैनेन्द्र की कहानियाँ, पृ० १६७।

ख) 'मनुष्य का निश्चय मौत नाम की वस्तु के आने पर रखा ही रह जाता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० ३२।

२ अ) जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग ३ (उपलब्धि), पृ० १५७।

ब) जैनेन्द्र की कहानियाँ 'मौत जिसे कहते हैं जान गया हूँ वह तेरा ही हाथ है। ओ छलिया तू अघेरा बनकर इसी से आता है ताकि आखे तुझे न पहचाने।' पृ० १५८।

स) जैनेन्द्र की कहानियाँ, पृ० १२६।

'मैं नहीं हूँ क्योंकि शून्य है और मैं शून्य हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ यह अनुभूति ही मेरा सब कुछ है।'

जैनेन्द्र के अहं सम्बन्धी विचार

जैनेन्द्र के साहित्य में अहं की स्थिति

जैनेन्द्र-साहित्य की आत्मा अथवा उसका मूल स्वर उनके अहं सम्बन्धी विचारों में ही मुखरित हुआ है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में अहंभाव विभिन्न सन्दर्भों में व्याप्त है। अहं ही वह बिन्दु है, जिससे उनकी समस्त साहित्य-रचना प्रस्फुटित होती है। जैनेन्द्र का साहित्य वस्तु-जगत के आवेग और प्रदर्शन से अभिप्रेत न होकर अतस् की व्यथा से ही अनुप्राणित है। अन्तर्वेदना ही वह मूल स्रोत है, जहाँ से उनकी सम्पूर्ण साहित्य-सरिता प्रवाहित होती है। व्यथा अन्तर्मुखी है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का आधार व्यक्ति की अहंता ही है। अहं अर्थात् मैं के अस्तित्व द्वारा ही अतः धारा बहिर्गत हो सकती है। वस्तुतः अहं आत्मजगत और वस्तुजगत के मध्य द्वार के सदृश्य है। जैनेन्द्र ने अहं को द्वार मात्र ही माना है।^१ द्वार का कार्य आंतरिक और बाह्य जगत में सामंजस्य स्थापित करना ही है। द्वार स्वयं में किसी जगत का प्रतिनिधि नहीं बन सकता, यही धारणा जैनेन्द्र के अहं सम्बन्धी विचारों का आधार है। उनके साहित्य का प्रेरक तत्त्व अचेतन मन (अनकान्वास माइण्ड) नहीं है, वरन् अतस् व्यथा है। यही जैनेन्द्र की अहं सम्बन्धी विचार का महत्वपूर्ण अंग है, जो उनके साहित्य में विभिन्न परिप्रेक्षों में अभिव्यक्त हुआ है। मानव-शरीर और आत्मा का अन्तर

१ जैनेन्द्रकुमार · 'समय और हम', प्र० स०, १९६२, दिल्ली, पृ० ६।

'अहं निजता और विश्वता के बीच द्वार'

और बाह्य जगत की समष्टि है। पीडा अह अर्थात् व्यक्ति की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकती है।

जैनेन्द्र की अह सम्बन्धी विचारधारा उनके गहन चिन्तन और मनन का परिणाम है। उनका चिन्तन और मनन शास्त्रीय ज्ञान पर अवलम्बित न होकर स्वानुभव पर ही आधारित है। आत्मनिष्ठ होने के कारण जैनेन्द्र स्वानुभव को ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति का आधार मानते हैं। उन्होंने अपने विचारों के विश्लेषण के लिए भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान का मन्थन नहीं किया है। व्यक्तिगत जीवन के आस-पास के वातावरण के सूक्ष्म अध्ययन और अन्तश्चेतना के आधार पर ही उन्होंने अपने विचारों की प्रतिष्ठापना की है। यद्यपि यह सत्य है कि विचारों की पुष्टि अथवा प्रामाणिकता के हेतु उन्होंने किसी विशिष्ट दार्शनिक परम्परा को नहीं अपनाया तथापि सकारणवश स्वाभाविक रूप से ही उन पर विभिन्न पाश्चात्य तथा पूर्वात्य दार्शनिक विचारों की झलक स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। व्यक्ति स्वयं को परम्परा और परिवेश से पूर्णतः मुक्त नहीं कर सकता, तथापि वह उस परम्परा में अपनी मौलिक सूझ-बूझ की स्थापना के हेतु पूर्णतः स्वतन्त्र है। वस्तुतः जैनेन्द्र के विचारों पर अनायास ही भारतीय अद्वैत वेदात् और सांख्य-दर्शन तथा कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों की छाया परिलक्षित होती है। जैनेन्द्र ने आत्मगत जीवन से परे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में अह की विवेचना की है।

जैनेन्द्र के विचारात्मक निबन्ध तथा प्रश्नोत्तर रूप में संग्रहीत विचार उनके आध्यात्मिक चिन्तन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। 'समय और हम' पुस्तक में उन्होंने अह का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यास और कहानियाँ भी अह सम्बन्धी विचारों की व्यावहारिकता को प्रस्तुत करने में सहायक हैं। अह का स्वीकारात्मक अर्थात् अस्तित्वबोधक रूप और उसका निषेधात्मक अर्थात् अहकार सूचक रूप जैनेन्द्र के उपन्यास और विशेषतः कहानियों में परिलक्षित होता है। 'समय और हम' में प्रश्नकर्ता ने उपोद्घात में जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन को चार भागों में विभाजित करके उनकी विवेचना की है। चारों विभागों में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से उनके अह सम्बन्धी विचार व्याप्त हैं। अह ही वह सूत्र है जो जीवन की विविधता में व्याप्त होकर भी एकता की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील है। जीव ब्रह्म से तादात्म्य, अहता और आत्मता तथा परस्परता और अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण में जैनेन्द्र की अह दृष्टि ही अनुप्राणित है। जैनेन्द्र के साहित्य में अह की विशद् विवेचना को दृष्टि में रखते हुए उसके स्वरूप को जानना अनिवार्य है। सर्वप्रथम प्रश्न उठता

है कि जैनेन्द्र की दृष्टि में ग्रह क्या है तथा उन्होंने ग्रह को किन अर्थों में स्वीकार किया है और उनकी विचारधारा परम्परागत दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारधारा से कहा तक स्वतन्त्र अथवा प्रभावित है ?

जैनेन्द्र के साहित्य में सामान्यतः 'ग्रह' शब्द सन्दर्भ सापेक्षता में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ग्रह का मूल भाव व्यक्ति के 'मैं' भाव से सम्बन्धित है। 'मैं' अस्तित्व बोधक है। समस्त सृष्टि एकमात्र 'मैं' के अस्तित्व पर ही निर्भर है। 'मैं' चेतना युक्त है। चेतन शक्ति के कारण ही व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध होता है। चेतना के अभाव में 'मैं' का अस्तित्व अर्थहीन सिद्ध होगा। जड़ वस्तुओं का अस्तित्व भी चेतन जीव के ग्रह-बोध द्वारा ही ग्राह्य हो सकता है। जैनेन्द्र ने ग्रह को दो विशिष्ट अर्थों में स्वीकार किया है— पहला अस्तित्वबोधक, दूसरा ग्रहकार सूचक। प्रथम अर्थ में सृष्टि-विस्तार का बोध होता है तथा द्वितीय अर्थ में विनाश सूचक है। जैनेन्द्र साहित्य में ग्रह के इन दो रूपों को बहुत ही व्यापक रूप से मौलिकता का पुट देकर विवेचित किया गया है।

ग्रह का अर्थ : भारतीय और पाश्चात्य दर्शन

भारतीय दर्शन तथा मनोविज्ञान में ग्रह से समानार्थी विभिन्न शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। दर्शन शास्त्र में 'स्व' तथा आत्मतत्त्व और मनोविज्ञान में इगो के रूप में ग्रह शब्द का प्रयोग किया गया है। फ्रायड मनोविज्ञान को छोड़कर सामान्यतः स्व और इगो दोनों ही ग्रहबोधक हैं। स्व मैं का पर्याय है तथापि मैं अस्तित्वबोधक है और स्व आत्मता का सूचक है। इसी प्रकार सीमित मैं अथवा ग्रह भाव ग्रहकार सूचक है। इगो द्वारा व्यक्ति की आत्मता से मेरी अधिक उसकी मानसिक संरचना का बोध होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति का मस्तिष्क चेतन, अवचेतन तथा अचेतन स्तरों में विभाजित है। 'इगो' व्यक्ति के अचेतन मन की अभिव्यक्ति का साधन है। वह चेतन मन से सम्बन्धित है।

उपरोक्त दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों में भिन्नता लक्षित होती है। दर्शन व्यक्ति के 'स्व' को लेकर चलता है। उसके विवेचन का आधार व्यक्ति का आत्मतत्त्व है। मनोविज्ञान में व्यक्ति की आत्मता से इतर मानसिकता को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ है। एक का विवेचन अध्यात्मपरक (मेटाफिजिकल) है, दूसरे का वस्तुपरक (मेटेरियलिस्टिक), जैनेन्द्र का साहित्य अध्यात्म और भौतिकता की समष्टि है। इसलिए उनके साहित्य में दर्शन और मनोविज्ञान का सामंजस्य होना स्वाभाविक है।

‘अह’ शब्द की सामान्य विवेचना करने पर प्रश्न उठता है कि ‘अह’ मात्र शरीर बोधक है अथवा मन से सम्बद्ध है या व्यक्ति की सम्पूर्णता से सम्बन्धित है। सामान्यतः ‘अह’ भावबोधक है, किन्तु अहभाव शरीर की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकता है। शरीर के अभाव में अह-चेतना का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अह भाव के लिए शरीर के साथ चेतना अनिवार्य है। किन्तु शरीर और चेतना (कान्सेशनैस) स्वयं में प्राण तत्व (आत्मा) के अभाव में पर्याप्त नहीं है। आत्महीन शरीर में चेतना अविद्यमान रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार शव के नेत्रों में भी बिम्ब बनते हैं, किन्तु उसे उसका बोध नहीं होता है।^१ अतएव ‘अह’ का पूर्ण और वास्तविक ज्ञान समग्रता में ही सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध में विचारकों ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं।

पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य दार्शनिकों ने अह अथवा सेल्फ के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। श्रीमती राय ने अपने शोध-प्रबन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों की पूर्ण विवेचना की है। अरस्तू ने अह को पारमार्थिक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। यह तत्व शरीर में रहते हुए भी उससे असम्बद्ध रहता है।^२ डेकार्ट ने सर्वप्रथम इस तर्क की ही पुष्टि की है कि ‘स्व’ अथवा ‘मैं’ का अस्तित्व है या नहीं, क्योंकि पाश्चात्य दार्शनिकों में प्रायः अह के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न होता रहा है। डेकार्ट महोदय ने स्व को विचारक के रूप में स्वीकार किया है। उसके अनुसार ‘मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ।’ इस प्रकार उन्होंने अह को चिन्तनशील तत्व के रूप में स्वीकार किया है। लाक ने ‘स्व’ को प्रत्यय के आधार पर स्वीकार किया है। डेकार्ट का चिन्तनशील ‘स्व’ बुद्धिपरक है, उसमें तर्क के द्वारा ‘मैं’ की सिद्धि की गयी है, किन्तु जैनेन्द्र का अह अथवा मैं अध्यात्मपरक है तथा लाक का प्रत्ययवादी दृष्टिकोण ‘अह की आत्मता को सिद्ध करने में असमर्थ होता है। जैनेन्द्र के विचारों पर प्रसिद्ध दार्शनिक वर्कले के विचारों की झलक देखी जा सकती है। जैनेन्द्र ने ‘अह’ को अश के रूप में स्वीकार किया है अतएव वह आत्मता से निरपेक्ष पूर्णतः वस्तु-सत्य नहीं बन सकता। इस प्रकार वह अनुभववादी विचार-धारा के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। वर्कले के अनुसार भी प्रत्यय के रूप में अह की

१ जैनेन्द्रकुमार ‘समय और हम’,

२ कमलाराय ‘कान्सेप्ट आफ सेल्फ’, प्र० स०, कलकत्ता, १९६६, पृ० स० ८।

कल्पना नहीं की जा सकती। प्रत्ययो का कोई कारण अवश्य है और वह है 'अह' (माइसेल्फ) जीव (सोल) या 'आत्मा' (स्पिरिट) आत्मा का ज्ञान प्रत्ययो के रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम जडवत है और आत्मा चेतन तथा सक्रिय है। अन्ततः वर्कले ने आत्मा अथवा अह के अस्तित्व को अन्तर्बोध (नोशन) के आधार पर सिद्ध किया है।^१ इस प्रकार वर्कले के अध्यात्मवादी विचारों से जैनेन्द्र में साम्य प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के विचारों पर भी आध्यात्मिकता की पूर्ण छाप दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र और वर्कले के विचारों के मूल में साम्य है, वह वर्कले के विचारों की आध्यात्मिकता के कारण ही सम्भव है। वस्तुतः जैनेन्द्र के अह सम्बन्धी विचारों पर वर्कले का ही आशिक प्रभाव लक्षित होता है। सारांशतः जैनेन्द्र के साहित्य का विवेचन करते हुए हम उनके विचारों को पूर्णरूप से किसी भी पाश्चात्य दार्शनिक के निकटस्थ नहीं रख सकते।

भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन की परम्परा में जैनेन्द्र के विचारों को मुख्यतः अद्वैत वेदान्त, सांख्य दर्शन और जैन दर्शन के सबंध में विवेचित किया जा सकता है। शंकर के आत्म सबंधी विचारों की छाप जैनेन्द्र के विचारों पर स्पष्टतः परिलक्षित होती है।^२ शंकर के अनुसार 'आत्मतत्त्व', 'परमतत्त्व' अभिन्न है।^३ आत्मा का स्वरूप है, आत्मा-परमात्मा में जो भेद दृष्टिगत होता है, वह अज्ञान तथा भ्रम के कारण ही प्रतीत होता है। अन्यथा दोनों एक है। शंकर ने पारमार्थिक सत्य से परे व्यावहारिक दृष्टि के आधार पर 'जीवात्मा' को बाह्य जगत का भोक्ता स्वीकार किया है। शंकर की पारमार्थिक दृष्टि अद्वैतवादी होने के कारण आत्मा को अनेकता का हेतु नहीं मानती। जगत में व्याप्त अनेकता का कारण माया है जो जीव में आत्मा और ब्रह्म की एकता को स्थापित करने में असमर्थ है। शंकर के अनुसार अज्ञान का अधकार दूर हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता का बोध हो जाता है। जगत मिथ्या है, अतएव अनेकता भी असत्य है। एकता की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र-साहित्य पर अद्वैत वेदान्त का बहुत अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र साहित्य में जीवन के

१. कमलाराय 'कान्सेप्ट आफ सेल्फ', पृ० १५।

२. 'एक सत् और विप्रा बहुधा वदति।'—'एक अनेक वह और मै।'।

—जैनेन्द्र 'अनन्तर', पृ० स० ८५।

३. डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० स० ४८३।

प्रत्येक क्षेत्र में अनेकता से ऊपर उठकर एकता की ओर उन्मुख होने की चेष्टा परिलक्षित होती है। शंकर के अनुसार 'द्वैत' तथा अनेकता अविद्या का हेतु है। जैनेन्द्र की दृष्टि में जगत् मिथ्या नहीं है। ससार इन्द्रिय गम्य है अतएव शरीर-गत अहता भी भ्रम नहीं है। जैनेन्द्र आत्मगत एकता को स्वीकार करते हुए भी वस्तुगत अनेकता को अनिवार्य मानते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार जीवात्मा व्यक्ति के होने की द्योतक है। अहता के माध्यम से ही अद्वैत सत्य का बोध हो सकता है। अन्ततः जैनेन्द्र के साहित्य में अद्वैतवादी आत्मगत एकता ही मूलतः स्वीकार्य है। भिन्नता वस्तुगत है, किन्तु एकता आत्मगत है। सब प्राणियों के अन्तर्गत् में एक ही आत्मा का निवास है। इस प्रकार मूलतः सब एक है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में एकता की प्राप्ति की ओर विशेषतः निर्दिष्ट किया है। जैनेन्द्र की धारणा व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त तथा महत्वपूर्ण है। सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान से अनभिज्ञ होता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता का दर्शन उसे तात्त्विक-विषय प्रतीत होता है। जैनेन्द्र ने तत्त्व में भाव का समावेश करके अपने विचारों को व्यावहारिक बना दिया है। शंकर ने आत्मा को अहं से इतर माना है। उनकी दृष्टि में सामान्य रूप से हम जिस अहं (मैं) की परिकल्पना अस्तित्व-बोध के रूप में करते हैं, उसे जीवात्मा के रूप में ही समझा जा सकता है।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र का अहता और शंकर की जीवात्मा समानार्थी है। जीवात्मा शरीरगत चेतना से तद्गत है। अहता अथवा मैं और जीवात्मा को शंकर ने शून्य (निगेटिव) रूप में स्वीकार किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि में अहता (मैं) ससार के त्याग द्वारा नहीं, वरन् प्रेम और समर्पण भाव द्वारा ही सत्य का बोध प्राप्त कर सकती है। यही जैनेन्द्र और शंकर की दृष्टि में मूल भेद है।^२ जैनेन्द्र के साहित्य में अहं के पार्थक्य को सासारिक क्रिया-कलाप के हेतु अनिवार्य माना गया है, किन्तु मूल तत्त्व समर्पण की भावना में ही समाहित है। 'मैं' 'पर' परस्पर प्रेम के द्वारा इस प्रकार एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं कि उनके मध्य द्वैत भाव मिट जाता है। 'स्व' और 'पर' शून्यवत् होकर परमात्मान्मुख हो जाते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति आत्मान्मुख होकर ही सम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य

१ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', वैन्यूम २, आठवा सस्करण, लन्दन, १९५८, पृ० स० ४८०।

२ 'अस्मि और अस्त के इस खिचाव के बीच यह हमारी सब संभवता है। उसी में से आता है पुरुष का पुरुषार्थ। या तो अस्मि अस्ति में डूब जाए या अस्ति अस्मि में भरपूर हो जाए।'

मे शून्यता भाव रूप मे स्वीकृत की गई है, अस्तित्व के निषेधात्मक रूप मे नहीं ।

शकर ने अह को आत्मगत सत्य (सब्जेक्टिव) के रूप मे स्वीकार किया है । उन्होने वस्तुगत (आब्जेक्टिव) सत्ता का निषेध किया है । साख्य दर्शन मे अहगत अनेकता को सत्य रूप मे स्वीकार किया है । डा० राधाकृष्णन ने 'इण्डियन फिलासफी' मे साख्य दर्शन की अनेकता की ओर निर्दिष्ट किया है । उनके अनुसार साख्य दर्शन मे जीवात्माओं के अनेकत्व के लिए कोई विवाद नहीं है ।^१ साख्य दर्शन मे प्रकृति और पुरुष दो पृथक् तत्व है । पुरुष भोवता है और प्रकृति भोज्य है । पुरुष को ही आत्म (सेल्फ) रूप मे स्वीकार किया गया है ।^२ पुरुष की स्थिति प्रकृति से पूर्णत स्वतन्त्र है । पुरुष अर्थात् आत्मा शरीर से तद्गत नहीं है ।^३ पुरुष स्वयं प्रकाश्य है । पुरुष आन्तरिक विषय है और प्रकृति वस्तु है ।^४ पुरुष के आत्मत्व तथा जीव के अह भाव मे अन्तर है । अहकार से युक्त पुरुष ही जीव (अह, मै) है । वास्तविक आत्मा जीव से परे और आन्तरिक है ।^५ वस्तुतः जैनेन्द्र की आत्मगत एकता साख्य के पुरुष की समानार्थी ही है ।

विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अनुसार 'अह बुद्धि'^६ के जाग्रत होने पर ही अहता (स्व) का बोध होता है । साख्य दर्शन की अनेकता जैनेन्द्र के अहभाव की पुष्टि करती है तथा पुरुष का निरपेक्ष रूप भी जैनेन्द्र की आत्मता के समकक्ष है, किन्तु साख्य दर्शन की अनीश्वरवादी विचारधारा जैनेन्द्र की अस्तिकता से सगत प्रतीत नहीं होती । जैनेन्द्र ने प्रकृति को अहयुक्त माना है इस दृष्टि से ही केवल उन्हें साख्य दर्शन के सम्पर्क मे समझा जा सकता है । साख्य दर्शन मे अनेकता पर प्रश्रय दिया गया है । जैनेन्द्र ने अनेकता को स्वीकार

१ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० २८१-२८२ ।

२ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० २८५ ।

३ कमलाराय 'कान्सेप्ट आफ सेल्फ', पृ० १८१ ।

४ कमलाराय 'द पुरुष इज दि एटरनल सब्जेक्ट ऐण्ड प्रकृति इज दि एटरनल आब्जेक्ट', पृ० ८०-८१ ।

५ 'Vijnanabhiksu says that Purusa with ahamkara is the Jiva and not Purusa itself The Ego (Jiva is an item in the natural world while the Purusa is eternally one with itself The Empirical Ego is the mixture of free spirit and mechanism of Purusa and Prakrti.' 'Concept of Self' (p. 184)

६ 'Ahambudhi consciousness is the characteristic essence of the individual "Concept of Self' (P 188)

करते हुए भी उसे अन्तिम सत्य नहीं माना है। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार 'अह' भौतिक जगत का एक अनिवार्य सत्य है। शाश्वत सत्य आत्मा तथा परमात्मा है। ससार की स्थिरता तथा सक्रियता के हेतु अह का अस्तित्व अनिवार्य है। जैनेन्द्र की अहता अश रूप होते हुए भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में अह

जैनेन्द्र की दृष्टि में अह अशता अथवा खण्डता का बोधक है। पूर्ण अथवा समग्र और अखण्ड एकमात्र 'भगवत्-भाव' है।^१ अह में उस समग्रता का अश कम है। वह ससार की सापेक्षता में ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में अपना निजत्व होता है, वही उसका अहभाव है। इस प्रकार अह सख्यातीत है। वही जगत में अनेकता का हेतु है। मैं तुम का भेद अनेकता के कारण ही विकसित होता है। अशरूप अह अखण्डता की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य में अनेकता के मध्य एकता को स्थापित करने के हेतु अह की भगवतोन्मुखता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है।^१

अह का स्वरूप

जैनेन्द्र ने शकर के सदृश्य जगत को मिथ्या नहीं माना और न ही साख्य का निरीश्वरवादी दृष्टिकोण ही अपनाया है। जैनेन्द्र ने मानव जीवन की समग्र विवेचना की है। 'अह' का अस्तित्व जगत के अस्तित्व में ही सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में अह की पार्थक्य और अस्तित्वमूलक अर्थ-वत्ता स्वीकार करते हुए यह प्रश्न उठता है कि अह का स्वरूप वस्तुमय (जड) है अथवा चेतन? पाश्चात्य दर्शन में अधिकांशतः अह को वस्तु (आब्जेक्ट) रूप में स्वीकार किया गया है। लाइबनीज आदि विचारकों के अनुसार अह प्रत्ययगत तथा जड है। भारतीय दर्शन में शकर ने ही विशिष्ट रूप से अह को आत्मरूप (सब्जेक्ट) में स्वीकार किया है। जैनेन्द्र के साहित्य में अह को कर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। अह में भाव है जो 'पर' से पार्थक्य को इंगित करता है। सब्जेक्ट और आब्जेक्ट का पूर्ण भेद स्पष्ट नहीं हो सकता,

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', प्र० स०, दिल्ली, १९५६, प्र० स० २२४।

२ 'अस्तित्व स्वयं में प्रश्न नहीं होना चाहिए। प्रश्न होता है जब अस्तित्व अलग होते हैं। हम सब अलग ही हैं। अस्तित्व की जगह हम अस्तित्व हैं। इस अस्मि के भाव में अस्ति से अपना अन्तर डालते हैं।'

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ८५।

क्योंकि एक ही वस्तु सन्दर्भ भेद के कारण कर्ता है और कृत्य भी है। पाश्चात्य दर्शन का विवेचन करते हुए श्री अलबरी कास्टल महोदय ने अह के सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव रूप की पूर्ण विवेचना की है। जैनेन्द्र के साहित्य का विवेचन करते हुए ज्ञात होता है कि अह चेतनजीव अथवा मानव प्राणी मे ही नहीं होता, वरन् जड़ पदार्थों मे भी अहता विद्यमान होती है। पेड़, पौधे, ईंट, पत्थर आदि जड़ पदार्थों मे भी अहभाव होता है, क्योंकि वे स्वयं मे विशिष्ट है। किन्तु जड़ वस्तु की अहता तथा चेतन व्यक्ति की अहता मे अन्तर है। व्यक्ति चेतन प्राणी है, उसमे आत्मोन्मुख होने की क्षमता है। वह प्रेम, घृणा आदि भावो से युक्त तथा संवेदनशील है, किन्तु जड़ पदार्थ चेतना हीन है। पदार्थ की वस्तुता व्यक्ति की अहता द्वारा ही ज्ञात होती है। 'मैं' हू के साथ ही मेरी संपत्ति भी मैं से संबद्ध है।^१ जैनेन्द्र के साहित्य मे प्रकृति को प्रतीक रूप मे वर्णित करते हुए उसे अहभावना से युक्त किया है। 'तत्सत्'^२ कहानी मे 'मैं' 'तुम' का भेद वन के वृक्षो मे अह बोध को जाग्रत कर देता है। वे समष्टि रूप मे स्वयं को नहीं समझ पाते। बास का वृक्ष केवल 'बास' ही है वह जगल नहीं है। इस प्रकार उनकी अह भावना ही उन्हें समग्र बोध से परे रखती है। उनके साहित्य मे प्रकृति अहता का विसर्जन करते हुए ही दृष्टिगत होती है। सूर्य पृथ्वी के आकर्षण तथा विराट् प्रकृति के विनत समर्पण मे अहता के विसर्जन का ही भाव प्रदर्शित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार जड़ चेतन प्रत्येक मे एक ही आत्मा का निवास है। समस्त सृष्टि मे एक परब्रह्म की ही सत्ता व्याप्त है। अस्तु के अनुसार जड़, चेतन, पशु आदि मे भिन्न आत्माएँ निवास करती है।^३

उपरोक्त विचारो से इतर जैनेन्द्र ने अह के सम्बन्ध मे अपनी मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की है। उन्होंने अह को 'क्रास प्वाइण्ट'^४ के रूप मे स्वीकार किया है। क्रास प्वाइण्ट से उनका तात्पर्य उस बिन्दु से है जिस बिन्दु पर काल और आकाश एक-दूसरे को काटते है। काल और आकाश अनन्त है, वे

१ 'मेरी सम्पत्ति, मेरी चीज आदि वह भी अपने आप मे अहशून्य है। उसमे भी सब्जेक्टिविटी है।'—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र के विचार', दिल्ली, पृ० सं० ६०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १६४।

३ 'Aristotle no doubt draws a line of distinction between the Plant soul, the animal soul and the human soul'—
Roy —'Concept of self'—(p 8)

४ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० सं० ५२८।

प्रत्येक बिन्दु पर एक-दूसरे को काटते हैं। अतएव अह बिन्दु भी अनन्त है। जैनेन्द्र के अनुसार अह बिन्दु का ब्रह्माण्ड से आकर्षण और अपकर्षण का सम्बन्ध ही सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र की उपरोक्त मान्यता तथ्य को इतना सूक्ष्म बना देती है कि उसकी पकड़ सरलता से सम्भव नहीं हो सकती।^१ जैनेन्द्र के अनुसार कुल अस्तित्व अखण्ड है। कुछ में जो खडितता की प्रतीति आई है उसे हम दो आयामों में विभक्त देखते हैं—काल और आकाश। काल और आकाश के मध्य चैतन्य बिन्दु अह का स्वरूप लेता है। वह उन दो यथार्थों के मेल अथवा काट का ही बिन्दु हो सकता है। अह पार्थक्य पोषक है। काल और आकाश के मिलन-बिन्दु में चेतना का प्रवाह होने से पृथक्ता अथवा 'मैं' का बोध होता है। जैनेन्द्र के अनुसार समग्र सत्य में किसी क्रिया की भी धारणा नहीं रखी जा सकती, किन्तु हर गति के लिए 'कहीं से' और 'कहीं को' बिन्दुओं की परिकल्पना आवश्यक है अर्थात् 'क्रिया' और 'चेतना'। वस्तुतः जैनेन्द्र की उपरोक्त विचारधारा पूर्णतः स्पष्ट तो नहीं हो पाती तथापि उसमें इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अह अशता का बोधक है। अखण्ड ब्रह्म जो कि क्रिया-शून्य है, किन्तु 'अह' चेतना और क्रिया से युक्त होकर ही अपने पार्थक्य का बोध कर पाता है। मैं 'हूँ' का बोधक है। मैं के साथ ही साथ 'पर' की स्थिति भी अनिवार्य है। ऐसा नहीं हो सकता कि ससार में केवल मेरा स्वत्व ही अस्तित्व रखता है। मेरे जैसे अनन्त अह की स्थिति ससार में दृष्टिगत होती है। 'हूँ' और 'हैं' के बीच ही जगत की सारी प्रक्रिया घटित होती है। 'हूँ' जगत की प्रक्रिया के सदृश में ही सत्य है और सार्थक है किन्तु शाश्वत सत्य जो है वही है, इतर सब मिथ्या है। 'हैं' ईश्वर का बोधक है, क्योंकि वही एकमात्र सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार 'मैं' का आरम्भ जन्म से और अन्त मृत्यु में है। आयु 'मैं' की होती है।

'मैं' का बिन्दु ही है जहाँ से चैतन्य का केन्द्र और क्रिया आरम्भ हुई। इस दृष्टि से जो 'स्व' निज अथवा अह का बिन्दु है वह अचिन्तय सार्थक हो जाता है। अह की अमिष्टता और अवभीष्टता वहाँ से शुरू होती है जहाँ चेतन उस केन्द्र के चहुँ ओर बढ़ने के बजाय वही केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार अह का केन्द्र विराट् की ओर बढ़ने की बजाय अपने में सिमट कर और इतर से

१ जैनेन्द्रसे साक्षात्कार करने के पूर्व 'अह क्रास प्वाइण्ट' की धारणा में अह-गत जडता का ही बोध होता था। उसके मूल में निहित चैतन्य प्रक्रिया का ज्ञान नहीं हो सका था, किन्तु उनसे विचार-विमर्श करने पर 'अह' के स्वरूप को समझने में सहायता मिली। (२० ५-७१)।

विच्छिन्न होकर अह के लिए खतरा है और जिसके कारण अह से बचने की आवश्यकता है। स्नेह से अह को मुक्त विस्तार मिलता है।^१

अहं और आत्मा

जैनेन्द्र के साहित्य की अह सबधी विवेचना करते हुए जैनेन्द्र की दृष्टि में अह और आत्मा के अंतर को समझना अनिवार्य है। प्रायः दार्शनिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र में भ्रमवश अहता और आत्मता (आत्मा) को एक ही समझ लिया जाता है। ऐसी स्थिति में शाश्वत सत्य और लौकिक सत्य के बीच अंतर करना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र ने अहता और आत्मता में स्पष्ट अंतर व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में अह शरीर इन्द्रिय और चेतना का समुच्चय है। बीरेन्द्रकुमार गुप्त ने जैनेन्द्र के अह और आत्म सम्बन्धी भेद को बहुत ही स्पष्ट-रूप से व्यक्त किया है। उनके अनुसार जैनेन्द्र के अहता और आत्मता को प्रच-चित लौकिक अथवा नैतिक अर्थ में न लेकर वैज्ञानिक अर्थ में ही लेना होगा। अहता अर्थात् अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अश का समग्र व्यक्तित्व।^२ जैनेन्द्र व्यक्तिगत अस्तित्व के अह को सृष्टि और जीवन का केन्द्र मानते हैं क्योंकि अह की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ होता है और उसके साथ ही उसके क्षय के साथ उसका विलय।^३

आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। अह आत्मा की चेतन शक्ति का सक्रिय रूप है। अह अथवा जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव में अह बोध होने के कारण 'स्व' 'पर' के पार्थक्य की चेतना होती है। शरीर अथवा जीव को आत्मा की सज्ञा नहीं दी जा सकती और न ही आत्मा को अह युक्त माना जा सकता है। मानव प्राणी में स्व-पर भेद की पूर्ण चेतना होती है। जो मैं हू वह वह नहीं है। वस्तुतः अह सीमित भाव है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अह बोध से जाग्रत होते ही पर से पृथक् हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार अह शरीरगत होते हुए भी शरीर में स्थिति किसी अवयव या अंग से तद्गत नहीं है। अह वह है जो सुख-दुःख को अपना करके उसे मानता है।^४ 'वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार अह भाव जो व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध कराने में समर्थ है। अह भाव अथवा मैं की चेतना का स्रोत अथवा अवलम्ब आत्मा है।

अह अनेकता, वैभिन्य और द्वन्द्व मूलक है। आत्मा ऐक्य और अद्वैत तथा

१ जैनेन्द्र से विचार-विमर्श के अवसर पर उपलब्ध।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० सं० २०।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० २०।

४ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ६३।

प्रेम और अभेद मूलक है। जैनेन्द्र के अनुसार अहगत अनेकता अंतिम सत्य नहीं है। आत्ममूलक अभेदत्व की प्राप्ति ही जीव (अहता) का परम लक्ष्य है। जैनेन्द्र की दृष्टि में एक 'परम ब्रह्म' का ही प्रकाश समानरूप से दीप्त होता है। अतः बाह्य रूप में जो भेद-भाव दृष्टिगत होता है, वह अतस् आत्मा के ऐक्य में विलीन हो जाता है। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का आदर्श अभेदत्व की प्राप्ति है। भेद अथवा द्वैत भाव जागतिक सत्य है। जैनेन्द्र ने अह के आत्मोन्मुख होने को ही परम आदर्श माना है। जैनेन्द्र के अनुसार समाज व देश में व्याप्त समस्त मतवाद आत्मोन्मुख होकर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। जैनेन्द्र-साहित्य में अह को केवल द्वार रूप में ही स्वीकार किया गया है अतएव यदि अह रूपी द्वार पर ही स्थिर रहने वाला व्यक्ति आत्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग से विमुख हो जाता है और उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

जैनेन्द्र की आत्म सम्बन्धी धारणा पर शकर और साख्य दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने सप्रयास किसी भी दर्शन के सिद्धान्तों को ग्रहण नहीं किया है तथापि भारतीय दर्शन की आत्मा की सत्यता से भी तटस्थ नहीं है। शकर के अनुसार आत्मा कर्म से स्वतन्त्र है, शरीर तथा मन के बन्धन से भी स्वतन्त्र है। आत्मा और शरीर एक नहीं है। अह भाव शरीर में है। शकर उस आत्मा में जो समस्त अनुभव में उपलक्षित होती है और उस आत्मा में जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एक आध्यात्मिक विषयी 'मैं' और मनोवैज्ञानिक विषयी 'मुझको' में भेद करते हैं।^१ डा० राधाकृष्णन् के अनुसार शकर की दृष्टि में अह प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नहीं है, जो साक्षी है वरन् वह है जो क्रियाशील है, कर्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है, जिसमें विषयनिष्ठ गुणों का समावेश है, ऐसी आत्मा विषय है।^२ साख्य दर्शन में पुरुष को नित्य तथा आत्मरूप माना गया है। देहस्थ क्रियाओं का कर्ता पुरुष नहीं है। पुरुष निष्क्रिय है। साख्य के अनुसार जीव प्राकृतिक जगत का अंश है। जीवन और आत्मा के सम्बन्ध में शकर और वेदान्त में बहुत साम्य दृष्टिगत होता है। उनमें मूल भेद आध्यात्मिक दृष्टि के कारण ही उत्पन्न होता है। जीव और आत्मा का स्वरूप तो जैनेन्द्र के साहित्य में उपरोक्त रूप में दृष्टिगत होता है, किन्तु साख्य दर्शन में पुरुष परब्रह्म का अंश रूप नहीं है, जब कि जैनेन्द्र ने वेदान्त के अंशरूप आत्मतत्त्व को ही स्वीकार किया है। साख्य में प्रकृति और पुरुष के मिलन से विक्षोभ

१ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० स० ४७६।

२ डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', पृ० स० ४७६।

उत्पन्न होने पर सृष्टि की रचना होती है, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार अहंता और आत्मता के मिलन से सृष्टि ही नहीं होती, वरन् दोनों (स्व-पर) परस्पर मिलकर स्वत्वहीन तथा शून्यवत् होकर ब्रह्मोन्मुख हो जाते हैं। यही जैनेन्द्र की अहंता का परम लक्ष्य है। परस्पर समर्पण में ही अहंता का तिरोभाव संभव होता है।

जैनेन्द्र के साहित्य में अहं और आत्मा का विवेचन अधिकांशतः उनके निबन्धों द्वारा ही हुआ है। उपन्यास तथा कहानियों में उन्होंने अपने आदर्शों को व्यावहारिक जीवन के धरातल पर प्रस्तुत किया है किन्तु उनमें मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कुछ अन्तर अवश्य आ गया है। जैनेन्द्र के साहित्य का सैद्धान्तिक पक्ष दर्शनशास्त्र से प्रभावित हो उसमें शाश्वत सत्यों की विशद् विवेचना की गई है तथा आत्मा के सन्दर्भ में शंकर की पारमार्थिक दृष्टि का सहारा लिया गया है। शंकर ने अपने दर्शन को पारमार्थिक तथा व्यावहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। पारलौकिक जीवन के हेतु उन्होंने पारमार्थिक दृष्टि को अपनाया है, किन्तु लौकिक जीवन के क्षेत्र में उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि स्वीकार की है। कोरी पारमार्थिकता जीवन को व्यवहार तथा नीति-शून्य बना देती है। उसमें भले-बुरे, सत-असत् का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव व्यावहारिकता की स्वीकृति अनिवार्य थी। इन आदर्शों के समक्ष जब हम जैनेन्द्र के अहं सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि में देखते हैं तो हमें उनके विचारों की व्यावहारिकता तथा मनोवैज्ञानिकता स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के विचारों की विशिष्टता मनोवैज्ञानिक अथवा यथार्थ जीवन की घटनाओं में पारमार्थिक सत्य का समावेश करने में ही परिलक्षित होती है।

जैनेन्द्र की अहं दृष्टि और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में दर्शन के साथ ही साथ मनोविज्ञान का बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। अहं के अश रूप तथा 'मैं' 'तुम' के भेद का सैद्धान्तिक रूप मनोविज्ञान के सहारे ही पूर्णाभिव्यक्ति में समर्थ हुआ है। मनोविज्ञान व्यक्ति जीवन के रहस्योद्घाटन का एक मात्र साधन है। व्यक्ति क्या है? उसके विचारों और आदर्शों का मूल उद्गम क्या है —? आदि बातों का ज्ञान व्यक्ति का मानसिक विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होता है। साहित्य निरा सिद्धांतमय नहीं है। उसमें दर्शन और मनोविज्ञान का शास्त्रीय से इतर व्यावहारिक रूप ही ग्राह्य हो सकता है। जैनेन्द्र के पात्रों की आत्मा में अध्यात्मिक सत्य अन्तर्निष्ठ है तो व्यावहारिक जीवन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत हुआ है।

फ्रायड मनोविज्ञान

मनोविज्ञान में 'मै' अथवा अह के हेतु 'इगो' शब्द का प्रयोग किया गया है।^१ सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मनोविश्लेषण के द्वारा मानव जीवन के गुह्य रहस्य का उद्घाटन किया है। साहित्य पर फ्रायड के सिद्धांतों का बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि जैनेन्द्र स्वयं को फ्रायड के सिद्धांत से परिबद्ध नहीं मानते, फिर भी उनके साहित्य में फ्रायडीय मनोविश्लेषण की झलक पूर्णतः दृष्टिगत होती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इगो^२ शरीर तथा 'मानसिक सघटन'^३ का सूचक है। मानव मस्तिष्क के चेतन, अर्धचेतन तथा अचेतन तीन पहलू हैं, जिनपर समस्त मानसिक सघटन आधारित है। चेतन-पक्ष वर्णनात्मक होता है। व्यक्ति का अभिव्यक्त रूप चेतन है। चेतना के द्वारा ही वह बाह्य जगत (रियल्टी) से सम्बन्ध स्थापित करता है। चेतना प्रत्यक्ष-बोध (परसेप्शन) पर आधारित होती है, इसलिए उसका स्थायित्व होता है। चेतन के भीतर व्यक्ति का अचेतन मन विद्यमान है। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति का चेतनपक्ष अर्थात् कान्सास ही इगो है और अचेतन पक्ष 'इड' है। फ्रायड के अनुसार अवचेतन मन ही व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का प्रेरक स्रोत है। इगो अथवा अह अचेतन (इड) का वह अंश है जो बाह्य जगत के प्रभाव के कारण सशोधित हो जाता है। इगो के सशोधन में प्रत्यक्ष-बोध का बहुत अधिक सहयोग रहता है। वस्तुतः फ्रायड की दृष्टि में इगो (अह) अतः जगत की अभिव्यक्ति तथा बाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित करने की कड़ी है। फ्रायड की दृष्टि में इगो का आत्मा अथवा परमात्मा से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इगो मानसिक सघटन का ही एक अंश है। उसका स्वयं में कोई महत्व नहीं है। इगो का कार्य अचेतन मन इड की उधार ली हुई शक्ति के द्वारा अभिप्रेरित होता है।^४ फ्रायड ने इगो को अवचेतन मन का सेवक माना है। अचेतन मन व्यक्ति की इच्छाओं का केन्द्र है। अचेतन के मूल में लिविडो अर्थात् काम प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। फ्रायड के अनुसार अह अर्थात् व्यक्ति की समस्त इच्छाओं की प्रेरक काम-प्रवृत्ति ही है। सामाजिक मर्यादा के कारण व्यक्ति अपनी दमित वासना की स्वच्छन्दाभिव्यक्ति में असमर्थ होता है। अतएव

१ सिगमंड फ्रायड 'दि इगो एण्ड दि इड', चौथा संस्करण, १९४७, पृ० १५।

२ 'दि इगो इज फर्स्ट एण्ड ए बाडी.. इगो'.. फ्रायड 'इगो एण्ड दि इड', पृ० ३१।

३ फ्रायड 'इगो एण्ड दि इड'।

४ फ्रायड 'इगो एण्ड दि इड', पृ० २६।

अचेतन मन व्यक्ति की काम वासना को सशोधित करके ही चेतन स्तर पर आने की अनुमति देता है। फ्रायड के अनुसार इगो का प्रतिनिधित्व प्रत्यक्ष-बोध (परसेप्शन) द्वारा होता है यथा अचेतन मन (इड) का प्रतिनिधित्व मूल प्रवृत्तियाँ करती है। अचेतन के सतही अर्थात् ऊपरी भाग में स्थित इच्छाएँ सदैव चेतन स्तर पर आने के हेतु प्रयत्नशील रहती हैं और अवसर मिलने पर अभिव्यक्त हो जाती हैं, किन्तु पूर्णतः दमित इच्छाएँ अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करने में असमर्थ होती हैं। चेतन और अचेतन मन के सघर्ष के परिणाम स्वरूप सुपर इगो की उत्पत्ति होती है।

फ्रायड ने व्यक्ति के अचेतन मन पर ही विशेष रूप से कार्य किया है। अचेतन मन में दो प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिन्क्ट) सदैव सघर्ष रत रहती हैं कामेच्छा अथवा स्वरक्षा की प्रवृत्ति और दूसरी विनाश की (डिस्ट्रक्टिव) प्रवृत्ति। चेतन जगत में यही प्रवृत्तियाँ प्रेम (लव) और घृणा के सशोधित रूप में व्यक्त होती हैं। ये दो प्रवृत्तियाँ ही फ्रायड की दृष्टि में व्यक्तित्व के निर्माण की आधार-शिला हैं। कामेच्छा व्यक्ति की प्रबलतम प्रवृत्ति है, उसके पूर्ण न होने पर व्यक्ति अपने 'आब्जेक्ट' को विनष्ट करने लगता है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से फ्रायड ने कामेच्छा के उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) को आवश्यक बताया है जिससे व्यक्ति कला, संगीत आदि में अपनी प्रवृत्तियों को स्थानान्तरित करके स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

फ्रायड और जैनेन्द्र

फ्रायड के विचारों का स्पष्ट विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र के साहित्य में फ्रायडीय मनोविश्लेषण का पूर्णतः निषेध नहीं किया जा सकता, यद्यपि यह सत्य है कि दोनों के विचारों के मूल में गहरा अन्तर है। फ्रायड वस्तुवादी विचारक है और जैनेन्द्र अध्यात्मवादी। फ्रायड और जैनेन्द्र में यदि साम्य है तो वह काम-प्रवृत्ति की स्वीकृति में ही दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विवेचन की अतिशयता को दृष्टि में रखते हुए निःसन्देह ही जैनेन्द्र के साहित्य पर फ्रायड के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से जैनेन्द्र और फ्रायड के विचारों में अन्तर है। जैनेन्द्र ने अहं को बाह्य जगत और अन्तः जगत के मध्य द्वार रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार आत्मजगत का वस्तु जगत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तु जगत में कर्मशील व्यक्ति ही आत्मोन्मुख होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अन्तश्चेतना से प्रेरित होकर कर्म करता हुआ व्यक्ति पुनः आत्मोन्मुख होकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है। व्यक्ति अथवा

अहता स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए उसकी उपरोक्त प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। जब अहता 'पर' में समर्पण करके शून्यवत् अर्थात् अहशून्य हो जाता है तभी उसे परम सत्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जैनेन्द्र की मौलिकता

फ्रायड ने अचेतन मन को अपराध की भावना अर्थात् पाप का मूल माना है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अन्तस् प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु उनकी दृष्टि में व्यक्ति के अन्तस् में पाप अथवा अपराध का भाव नहीं है। जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख विशेषता यही है कि वे अहता के मर्मतिमर्म में भगवत्ता का निवास मानते हैं। बाह्य और अतजगत् में सदैव द्वन्द्व चलता रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि अन्त और बाह्य जगत् के द्वन्द्व के कारण जो भावनाएँ अभिव्यक्ति प्राप्त करना चाहती हैं, वे अनैतिक अथवा अपराधमूलक नहीं हैं। अचेतन मन में व्यक्ति की सुषुप्त चेतना निवास करती है। उसका निषेध नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार अन्तःकरण में स्थिति भाव और प्रवृत्तियाँ हमारे व्यक्तित्व का ही अंग हैं। उनके अनुसार अन्तस् भावों की अभिव्यक्ति का निषेध करना, व्यक्तित्व के समुचित विकास में अवरोध उत्पन्न करना है। जैनेन्द्र के साहित्य में चेतन और अचेतन मन का द्वन्द्व सतत् चलता रहता है। उनकी कहानियों उपन्यासों के पात्रों में अधिकांश अचेतन मन में गहरा द्वन्द्व विद्यमान रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य की समस्त कथावस्तु चेतन और अचेतन के द्वन्द्व स्वरूप ही विकसित होती है। जैनेन्द्र अह और काशस की उत्पत्ति लाभ मानते हैं।^१ उनके साहित्य में बाह्य और अचेतन अंतरजगत् में जो द्वन्द्व दृष्टिगत होता है, वह चेतन और अचेतन के स्तर से ऊपर अहता और भगवत्ता का द्वन्द्व है। जैनेन्द्र के अनुसार अचेतन में पाप नहीं है, वरन् भगवत् सत्ता का निवास है। चेतन अचेतन के द्वन्द्व में पाप की अभिव्यक्ति न होकर अन्तर्भूत भगवत् भावना ही अभिव्यक्त होने के लिए बेचैन रहती है। जैनेन्द्र के विचारों में उनकी आस्तिका पूर्णतः छायी हुई है। यही कारण है कि वे फ्रायडियन अचेतन मन की परिकल्पना को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन-अचेतन के द्वन्द्व में सदैव चेतन मन अचेतन को दमित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और अचेतन मन चेतन स्तर पर आने के हेतु विकल रहता है। जैनेन्द्र साहित्य में अहता और भगवत्ता का द्वन्द्व एक-दूसरे को अवदमित करने के हेतु

प्रयत्नशील नहीं होता। भगवत्ता की अभिव्यक्ति व्यक्तित्व की वास्तविकता को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। यही कारण है कि जैनेन्द्र अचेतन मन को पाप का पुज नहीं मानते और व्यक्ति की सुषुप्त चेतना को अभिव्यक्ति का अवसर देकर उसे सहज और स्वस्थ बनाने का प्रयास करते हैं। अहचेतना भगवत् चेतना का ही प्रतिनिधित्व करती है। जैनेन्द्र ने अह को बहुत ही व्यापक और गूढ़ तथा मौलिक रूप में स्वीकार किया है। उनकी अह सबधी मौलिक दृष्टि उनके साहित्य में एक अद्भुत शक्ति का प्रसार करती है, जिससे जैनेन्द्र-साहित्य समस्त हिन्दी साहित्य में अपना अभूतपूर्व स्थान रखने में समर्थ हो सका है। जैनेन्द्र की प्रक्रिया एकांगी नहीं है। उनके साहित्य में अचेतन अथवा भगवत्-भाव की अभिव्यक्ति करने वाले अहत्त्व को सर्वस्व मानकर अह सम्बन्धी विवेचन को सीमित नहीं किया गया है। अन्तस् भाव बहिर्मुखी होने के अनन्तर पुनः अन्तर्मुखी होने के हेतु भी प्रयत्नशील रहता है। यह आत्मोन्मुखता ही जैनेन्द्र के साहित्य का परम आदर्श है। जैनेन्द्र अह की आत्मोन्मुखता में ही भगवत् प्राप्ति का मार्ग दर्शाते हैं। आत्मा परमात्मा का अंश है। आत्मोन्मुख होकर ही जीव समस्त भेद-भाव से ऊपर उठकर स्वत्व विसर्जन में समर्थ हो सकता है। मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के मन में भाकने का प्रयास किया गया है, आत्मा में नहीं। जैनेन्द्र की आस्था मन से भी परे आत्मा में भगवत्ता के दर्शन करती है। फ्रायड ने चेतन अह को अचेतन मन का अंश माना है। जैनेन्द्र अचेतन को सर्वेश्वर नहीं मानते। उनकी दृष्टि में परम सत्य ईश्वर ही है और समग्र आत्मा ब्रह्म का अंश है और आत्मा में सक्रियता अहता के कारण ही प्राप्त होती है।^१

जैनेन्द्र की रचनाओं में अह की स्थिति

उपरोक्त विवेचन के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अहता और भगवत्ता का मिलन ही वह लक्ष्य है, जिस ओर उनकी अह सबधी समस्त प्रक्रिया उन्मुख होती है। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का प्राण तत्त्व अह विसर्जन ही है। उनके साहित्य के रोम-रोम में समर्पण-भाव ही ध्वनित होता हुआ दृष्टिगत होता है। उपन्यास, कहानी आदि उनकी समस्त रचनाओं में द्वैत-अद्वैत की प्राप्ति की ओर उन्मुख है। इस प्रकार हमारे लिए यह जानना अनिवार्य हो जाता है कि वे कौन से मार्ग हैं, जिनके द्वारा जैनेन्द्र ने अहता का

१ 'भगवत्ता में स्थिति ही है गति नहीं है। गति के लिए अहता का उदय हुआ है।' — जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० सं० ५६७।

विगलन किया है तथा पात्रों के मन में किन तथ्यों को लेकर द्वन्द्व जाग्रत होता है ? इस दृष्टि से जैनेन्द्र के सम्पूर्ण कथात्मक साहित्य का मन्थन आवश्यक है।

जैनेन्द्र साहित्य के अवगाहन तथा उसकी स्पष्ट ग्राह्यता के लिए जैनेन्द्र के अहं सम्बन्धी विचारों को जानना अनिवार्य है। उनकी साहित्य-रचना का मूल भाव अहंभाव (मैं) का विसर्जन है। सामान्यतः एकाकी मन अपनी अहंता को सामाजिक जीवन में विगलित होते हुए न देखकर साहित्य के माध्यम से ही अपनी आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मपरिष्कार करता है। जैनेन्द्र ने भी साहित्य-सृजन में अपने अहं भाव के परिष्कार का मार्ग ही खोजा है। जैनेन्द्र के साहित्य में शून्यता, अभाव, समर्पण आदि विविध रूपों में अहंभाव की अभिव्यक्ति हुई है।

जैनेन्द्र के साहित्य में अहंभाव को बहुत ही व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया गया है। राजनीति, समाज, धर्म आदि विविध क्षेत्रों में निहित अहं सम्बन्धी विचारों को समझे बिना उनके सम्बन्ध में कोई भी विवेचन पूर्ण नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति में अहंभाव होता है, उसी प्रकार समूह की भी अहंता होती है। देश राष्ट्र आदि सभी 'स्व-पर' के भेद के कारण अहं-भाव से युक्त है। जीवन के व्यापक क्षेत्र में जैनेन्द्र ने अपनी अहिंसात्मक धारणा द्वारा स्व-पर के भेद को मिटाने का प्रयास किया है।^१ जिस प्रकार व्यक्ति 'मैं' भाव के कारण 'पर' का निषेध करता है उसी प्रकार पूरे समूह का अहं भाव भी 'पर' का निषेध करता है। जैनेन्द्र ने अपनी अहिंसक नीति के आधार पर विभिन्न मतवादों, दल तथा राष्ट्रगत अहंता का निषेध करते हुए समष्टि मानव प्रेम तथा आत्मीयता का भाव उत्पन्न करने की ओर बल दिया है। विचारों में मतभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु यदि कोई विशिष्ट सम्प्रदाय अपने ही मत अथवा सिद्धान्तों को सत्य मान कर दूसरे सम्प्रदाय के विचारों का खण्डन करता है तो इस प्रकार समाज में द्वन्द्व ही बढ़ता है। जैनेन्द्र के अनुसार भौतिकता के वर्तमान युग में नित्य-प्रति होने वाले संघर्ष के मूल में सामूहिक अहंता ही विद्यमान है। व्यक्ति की स्वार्थ-भावना ही समूह की अहंता को पुष्ट करने में सहायक होती है। जैनेन्द्र के पात्र सदैव त्याग और पर-हित की कामना के द्वारा अपनी अहंता को 'पर' के हित में समर्पित करने के लिए तत्पर रहे हैं। उनमें पद का लोभ नहीं है। 'मुक्तिबोध', 'जयवर्धन' में उनके इन्हीं विचारों की झलक स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। प्रजातांत्रिक नीति पर बल देते हुए उन्होंने स्व-पर के भेद को वृहद्तर होने से बचाने का प्रयास किया है। सबको अपना हक मिले यही उनका मूलदर्श है। उनकी दृष्टि में पर को

उसी प्रकार होने का हक है, जैसे स्व को। अहिंसा का मूलादर्श इसी तथ्य में निहित है। जैनन्द्र किसी क्षेत्र में हठवादिता को प्रश्रय नहीं देते। उनकी यह दृष्टि जैन दर्शन के अनेकान्त अथवा स्याद्वाद से प्रभावित है। जैन दर्शन में प्रत्येक मत सीमित अथवा सापेक्ष दृष्टि से सत्य है, उसी प्रकार जैनन्द्र के अनुसार विभिन्न दल सम्प्रदाय स्व तक ही सीमित रहने के लिए नहीं है। उन्हें पर की स्वीकृति भी करनी चाहिए। मतवाद के क्षेत्र में वे किसी को खण्डित न करते हुए सब को अपनी निजता के स्थायित्व का अवसर प्रदान करते हैं। यही जैनन्द्र का सामूहिक अह है और अहिंसा सामूहिक अह की सक्रियता प्रदान करने का मूलाधार है। श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त ने भी इसी सत्य की ओर इंगित किया है।^१

जैनन्द्र के साहित्य में व्यक्ति की अहता का विगलन सर्वाधिक काम-प्रवृत्ति के द्वारा हुआ है। यद्यपि आत्म-समर्पण के विभिन्न मार्ग हैं, किन्तु जैनन्द्र की दृष्टि में काम (सेक्स) के क्षेत्र में व्यक्ति का स्व जितना शून्यवत् हो जाता है, उतना ही अन्य भाव के द्वारा नहीं। यही कारण है कि उनके साहित्य में काम-भावना की अतिशयता दृष्टिगत होती है। जैनन्द्र के साहित्य में काम-भावना की अतिशयता को देखकर सामान्यतः वह आलोचना की जाती है कि उनके साहित्य में कामुकता अधिक है, किन्तु कामुकता और काम-भावना में बहुत अन्तर है। जैनन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते हुए यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

समर्पण भाव :

जैनन्द्र ने मानव-मानव की परस्परता पर बहुत अधिक बल दिया है। वीरेन्द्रकुमार गुप्त के अनुसार परस्परता का महत्वपूर्ण अंग नर-नारी संयोग अर्थात् सैक्स है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को ही केन्द्र में रखकर जैनन्द्र ने अपने सम्पूर्ण साहित्य की रचना की है। जैनन्द्र के अनुसार नर और नारी सृष्टि के दो अंग हैं। दोनों स्वयं में अपूर्ण हैं। दोनों अपनी अशता अथवा अपूर्णता में पूर्णता की ओर उन्मुख होते हैं। उनके साहित्य में स्त्री-पुरुष के मध्य जो आकर्षण दृष्टिगत होता है, वह उनकी अपूर्णता के कारण ही होता है। 'जयवर्द्धन' ने उन्होंने स्पष्टतः व्यक्त किया है कि स्त्री-पुरुष का आकर्षण .. 'एक प्रकार के खण्ड का अखण्डता के अश का पूर्णता के प्रति आकर्षण है। जीवात्मा परमात्मा का आकर्षण है।'^२ उनका विचार है कि स्त्री और पुरुष जब परस्पर इतने लीन

१. जैनन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ०स० २६ (उपोद्घात से)।

२. जैनन्द्रकुमार 'जयवर्द्धन' (१९५६), दिल्ली, पृ० ३२४।

हो जाते हैं कि उनमें स्वत्व और परत्व का भेद मिट जाता है तथा वे स्वत्वहीन हो जाते हैं, तभी उन्हें अभेदत्व अर्थात् परमत्व का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार उनकी अहता आत्मोन्मुखता में विलीन हो जाती है।^१

जैनेन्द्र के साहित्य में 'अस्मि' और अस्ति का द्वन्द्व स्त्री और पुरुष को लेकर ही घटित होता है। अनन्तर में एक स्थल पर उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि मूल द्वैत वही है—'स्त्री-पुरुष'।^२ द्वैत यथार्थ जगत का सत्य है, पारमार्थिक जगत का सत्य नहीं है। अन्तिम सत्य अद्वैत है। ससार पुरुषमय है। यदि द्वैत को सत्य मान लिया जाय तो ससार द्वैत के स्थान पर द्वन्द्वमय ही रह जायगा, किन्तु मानव प्राणी शान्तिप्रिय है। ऊपर से कितना ही द्वन्द्व क्यों न चलता रहे, किन्तु उसकी अन्तः आत्मा अभेदत्व तथा प्रेम और शान्ति के लिए तडपती रहती है। जैनेन्द्र के साहित्य का द्वन्द्व स्त्री-पुरुष अथवा स्व-पर अथवा अत और बाह्य जगत को लेकर ही फलित होता है, किन्तु सब के मूल में प्रेम का अभाव, समर्पण की उपेक्षा ही विद्यमान है। जैनेन्द्र प्रेम के द्वारा ही पारस्परिक अलगव अथवा द्वैत को दूर करने के पक्ष में है। 'अनन्तर' में उनकी इसी अद्वैतप्रियता के दर्शन होते हैं। उनके अनुसार ससार में व्याप्त द्वैत भाव फटकर दो नहीं हो सकता, क्योंकि उनके बीच स्नेह की विवशता है। स्त्री और पुरुष को स्नेह की चुम्बकीय शक्ति ही परस्पर विलग होने से वंचित रखती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'दोनों उसी में सफल होने को विवश है। (उसका हमें क्या अभिनन्दन करना चाहिए ?)'^३ स्त्री और पुरुष अस्ति के भाव से युक्त हैं, किन्तु यह 'मैं' 'पर' भाव स्थाई नहीं है। अहता सदैव समर्पित होने के हेतु विवश है। 'स्व' 'पर' में जहा होड़ है, वही परस्पर समर्पित होने की भी उत्कट लालसा है।^४ 'स्व' 'पर' में खोकर ही परम सत्य का बोध प्राप्त करने में सक्षम है।

- १ 'स्व' 'पर' के विभिन्न से बने उन सब द्वन्द्वों की समाप्ति वहा ही प्राप्य हो सकती है जहा स्व-पर भेद पटुचता ही नहीं है। उसी को भगवत-चेतना का स्तर कहा जाता है अह उसमें विगलित होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५३७।

- २ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ३६।

- ३ जैनेन्द्र 'अनन्तर' पृ० ३६।

- ४ 'एक में दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की भी चाहना है ही। . दोनों में परस्पर होड़ है, उतनी ही तीव्र जितनी दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की अभिलाषा।'

—जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', १९६४, दिल्ली, पृ० स० १३६-१३७।

जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में अहंता और परता का द्वन्द्व विद्यमान है, किन्तु इस द्वन्द्व में परस्पर वैमनस्य नहीं बढ़ता, वरन् अन्तर्मन को व्यथा की टीस सालती रहती है। उनके अधिकांश पात्र अहंता से पीड़ित तथा व्यथित हैं। उनका दुखी मन निरन्तर सहज होने का मार्ग ढूँढ़ता रहता है। अभावग्रस्त मन सदैव पूर्णता की खोज में विक्षिप्त रहता है। जैनेन्द्र के साहित्य का जो विषय सामान्यतः उनकी आलोचना का विषय है तथा सत्य की उपेक्षा करके आदर्श और मर्यादा का डका पीटा जाता है, वह निरा दम्भ है। जैनेन्द्र ने जीवन के ऐसे सत्य को उधार कर रख दिया है जो प्रत्येक आदर्शवादी तथा सन्यासी और पण्डित के मन को भी कुरेदता रहता है। अन्तर यह है कि लोग उस कुरेद को पाप समझ कर पचा लेते हैं और अभिव्यक्त करने का साहस नहीं कर पाते, किन्तु जैनेन्द्र ने बड़े साहस के साथ जीवन के महत्वपूर्ण सत्य को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह सत्य है कि उनके साहित्य में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के वर्णन की अतिशयता है, किन्तु यह अतिशयता कामुकता (ऐन्द्रियकता) की परिचायक नहीं है। यह तो लेखक की विशिष्टता की ही परिचायक है। लेखक ने एक क्षेत्र में आत्मसात् होकर मानव जीवन की सत्यता को स्वानुभव की पीठिका पर चित्रित किया है। शास्त्रीय ज्ञान में खटकने वाली बात हो सकती है, किन्तु स्वानुभव तो सत्यता को ही अभिव्यक्त करने में समर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति में अपने अस्तित्व का बोध होते ही रिक्तता की अनुभूति होने लगती है। 'मैं क्यों' का प्रश्न प्रतिक्षण उसे सालता रहता है। इस प्रश्न के साथ ही उसमें यह भावना जाग्रत होती है कि 'मैं उसमें होऊँ' 'वह मुझमें हो'। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे में खोकर अपने अस्तित्व को सार्थक करना चाहते हैं। एकाकी अहं अथवा द्वैत सभव ही नहीं हो सकता। जैनेन्द्र की समस्त कहानियों में समर्पण-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। 'एकरात', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'प्रियव्रत', 'मित्र विद्याधर', 'गवार', 'रत्नप्रभा', 'टकराहट', 'रानी महां-माया', 'दिन-रात-सवेरा' एवं 'अविज्ञान' आदि कहानियों में 'स्व'-'पर' द्वन्द्व तथा समर्पण की भावना स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। 'एक रात' शीर्षक कहानी में जैनेन्द्र ने जयराज और सुदर्शना के समर्पण का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए मन आर्द्र हो उठता है। वासना कोसो दूर चली जाती है। जयराज प्रतिभाशाली व्यक्ति है। उसे चारों ओर से मान-सम्मान की प्राप्ति होती है,

किन्तु फिर भी उसके मन में एक काटा चुभता रहता है। वह नहीं जानता कि ऐसा क्यों है? उसके अचेतन मन में जो काटा है वही उसे असन्तुलित किए रहता है। वह राष्ट्र-सेवा में व्यस्त रहकर अपने मन के अभाव और सत्यता की उपेक्षा करता रहता है। सुदर्शना के उन्मुक्त समर्पण को भी वह सहसा स्वीकार नहीं कर पाता। उसकी उग्र अहता हठीली बनी रहती है^१ किन्तु जिस क्षण सुदर्शना अपना स्वत्व जयराम की गोद में समर्पित कर देती है, उस क्षण जयराम में एक अद्भुत स्निग्धता का प्रसार होता है। वस्तुतः अहता समर्पण के अभाव में शुष्क और कठोर बनती है। समय व्यक्ति का दम्भ है। 'एक रात' में सुदर्शना का समर्पण इतना अतीन्द्रिय है कि उसमें वासना का लेश भी नहीं मिल पाता। आत्म-विसर्जन द्वारा वह इतनी पूर्ण हो जाती है कि विराट् प्रकृति में उसके लिए कुछ भी अशेष नहीं रह जाता है। वह सर्वस्व स्व में समाकर ब्रह्माण्ड की विराट्ता में खो जाना चाहती है। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' आदि कहानियों में भी पात्रों की समर्पण-भावना उत्कृष्ट रूप में लक्षित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य में स्त्री-पुरुष की अहता अथवा 'मैं' 'पर' का भेद समर्पण में तिरोहित होकर उन्हें शून्य बना देता है। उस शून्यता में परब्रह्म की सत्ता का साक्षात्कार प्राप्त करने में समर्थ होने हे। अहता की परमात्मोन्मुखता ही जैनेन्द्र का परम आदर्श है। 'अहता' और 'परता' का द्वैत ही द्वन्द्व का मूल है। जब द्वैत मिट जाता है और व्यक्ति स्वत्वहीन हो जाता है तभी उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अशता पूर्णता में विलीन हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'स्त्री' पर है तब तक उसे पराभूत करने की आवश्यकता हममें रहने ही वाली है। वही स्त्री में पुरुष के प्रति। वह 'परता' प्रेम की सघनता में मिट सकती है। तब परस्पर स्वलन की वासना रह नहीं जाती। काम वही तक है जहाँ तक भान है। प्रलय द्वन्द्व में मात्र द्वैत की ही क्रीडा है। स्त्री जिस गुण की प्रतीक है, वह हममें आत्मसात् हो रहे तो परत्व भाव मिट जाय।^२ वस्तुतः जैनेन्द्र-साहित्य में अहता का समर्पण सर्वाधिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध द्वारा ही विशुद्ध रूप में सम्भव हो सकता है।

१ 'मैंने अपने स्नेह को स्वीकार करना न चाहा। मैंने इसे इकार कर शून्य कर देना चाहा। आज तुमने मुझे सीख दी कि यह सब वृथा था, मेरा अहकार था। इस अहकार में मुझसे यज्ञ क्या बनता? राष्ट्र-सेवा क्या बनती? आज मैंने जाना, स्नेह अंगीकरण के लिए है, अस्वीकरण के लिए नहीं।' — जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० ११६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० स० ३२४।

जैनेन्द्र ने राधा-कृष्ण के आदर्श को अपने साहित्य में स्थापित किया है। उनके साहित्य में राधा-कृष्ण तथा गोपी प्रेम का आदर्श स्पष्टतः परिलक्षित होता है। पुराणों में यह कथा प्रचलित है कि गोपियों में राधा के प्रति ईर्ष्या होती है तथा उसमें स्वयं और कृष्ण के मध्य द्वैत भाव विद्यमान होता है। कृष्ण की अलौकिक माया के कारण रास-लीला करती हुई गोपिया इतनी कृष्णमय हो जाती है कि उन्हें अपने स्वत्व का बोध भी नहीं रह जाता और वे कृष्णमय हो जाती हैं। यही है जैनेन्द्र का आदर्श, जिसके कारण 'मैं' भाव 'पर' में समर्पित होकर इतना लीन हो जाता है कि द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

'सुनीता' में हरिप्रसन्न स्वयं को अविजित समझता है, किन्तु यह उसका विभ्रम है। जब तक वह अपने अन्तर्मन के रहस्य को नहीं खोलता, तब तक वह अतृप्त और बेचैन रहता है। सुनीता का पूर्ण समर्पण हरिप्रसन्न के अतृप्त मन के द्वन्द्व को शान्त कर देता है।^१

'कल्याणी' ग्रह विसर्जन के अभाव में कभी भी सहज नहीं हो पाती। उसे अपना अस्तित्व सदैव पीड़ित करता है। उसका जीवन बोझ बन जाता है। वह डा० असारो की विवाहिता अवश्य थी किन्तु पति के समक्ष वह पूर्ण समर्पण में असमर्थ होती है, क्योंकि पूर्ण समर्पण तो प्रेम में ही संभव हो सकता है। वह परिस्थितिबश अपने प्रेमी से दूर हो जाती है। अतएव उसकी 'मैं' भावना उसे विक्षिप्त किए रहती है। उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है, जिसके कारण वह किसी भी कार्य में सहज नहीं हो पाती तथा परिष्कार करने का प्रयत्न करती है। उसकी पूजा-अर्चना में भक्ति भाव से अधिक मानसिक द्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति होती है। सामान्यतः व्यक्ति अपने मन की सत्यता को व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण उसे विभिन्न कार्यों में प्रक्षेपित करता है। कल्याणी के समस्त क्रिया-कलाप उसके अहता की अभावग्रस्तता के ही परिणाम हैं। यदि वह प्रीमियर के समक्ष समर्पित हो सकती तो सम्भवतः उसका मन इतना पीड़ित न होता और वह अपने गृहस्थ जीवन को भी व्यवस्थित बना लेती। 'त्यागपत्र' में मृणाल का सामाजिक दृष्टि से जो अधःपतन होता है, वह उसके आत्मविगलन का ही परिणाम है। वह स्वयं को अधिक से अधिक कष्ट देकर

१. 'सकुचन में से ही अहंकार का उदय है, भय की भीति है। मानो कुछ उसके भीतर से व्यग्य करता हुआ उठता है—क्यों तू अविजित है? तू जयी है? प्ररे तू तो अधम है, अधर्म है।'

अपने मन के प्रेम को पुष्ट करती है ।^१

वस्तुतः जैनेन्द्र-साहित्य में बाह्यरूप में जिसे हम पाप समझते हैं, अथवा भौतिक समझते हैं, उचित नहीं है । जैनेन्द्र के अनुसार जो पापी दिखाई देता है वह मूल में दुखी ही है ।^२ 'पानवाला' कहानी में पानवाला देखने में दुश्चरित्र लगता है । महिलाओं की ओर उसकी ताक-भाँक में अशिष्टता ही प्रदर्शित होती है । उसकी पूरी कहानी से परिचित होने से पूर्व कौन कह सकता है कि उसके मन के कोने में कितना गहरा दर्द भरा है जो उसे ऐसा कृत्य करने के लिए विवश किए हुए है ।^३ प्रेम के कारण वह स्वयं को त्रास देकर अपनी आत्मा का परिष्कार तथा प्रायश्चित्त करता है ।

इरोस और सैडिज्म

फ्रायड के अनुसार मानव के अचेतन मन में दो प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं—पहली इरोस या काम-भावना, जिसे आत्मरक्षा की प्रकृति भी कह सकते हैं और दूसरी सैडिज्म अर्थात् पर-पीडा रति । जैनेन्द्र-साहित्य में उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं । काम-प्रवृत्ति (लिबिडो) का स्व-रक्षा (सेल्फ डिजर्विंग) रूप जैनेन्द्र के साहित्य में अस्तित्व और सृष्टि-विस्तार के रूप में प्राप्त है । काम-भावना के द्वारा ही सृष्टि का विकास होना है । सैडिज्म अर्थात् पर पीडा रति द्वारा व्यक्ति की अहता परता को त्रास देने में ही सन्तुष्ट होती है । काम अर्थात् स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में परपीडा रति ही विशेष रूप से सहायक होती है । त्रास देने और लेने में ही आनन्द की उपलब्धि होती है । केवल काम-प्रवृत्ति के क्षेत्र में त्रास देने में अहता का विगलन होता है, किन्तु इससे परे व्यक्ति स्वयं कष्ट भेलकर ही आत्म-परिष्कार कर सकता है । जैनेन्द्र के साहित्य में 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'एक रात' एवं 'अविज्ञान' आदि कहानियों में स्व को मिटा देने की उत्कट लालसा दृष्टिगत होती है । 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' में पर-पीडन के अभाव में मानसिक विक्षोभ मन को व्याकुल कर देता है और अन्तस् में 'मैं' को कुचल देने की अभीप्सा जाग्रत होती है । प्रायः देखा जाता है कि काम-भावना से ग्रस्त व्यक्ति पर

१ 'पशु पाप नहीं कर सकता, मनुष्य कर सकता है तो इसलिए कि वह उस पद्धति से आत्माविष्कार कर सके ।'

—जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ५४४ ।

२ 'पापी को दुखी ही मानिए'—जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ५४४ ।

३ जैनेन्द्र की कहानियाँ [भाग-छ], पृ० ५२ ।

(आब्जेक्ट) को मारने में अपनी अहता की तुष्टि करता है तथा 'पर' (स्त्री-त्व) पीटे जाने में ही सतुष्ट होता है। 'मृत्युदण्ड' शीर्षक कहानी में पति द्वारा पत्नी के पीटे जाने में एक प्रकार से काम भावना और अहता का ही पोषण होता है। कल्याणी को जब पीटा जाता है तो वह स्वयं को अपमानित नहीं समझती वरन् इस प्रकार वह अपनी आत्मा का परिष्कार ही करती है। मानो ताड़ना ही उसका भोग्य है।

जैनेन्द्र के साहित्य में पर-पीडन-रति से अधिक 'आत्म-पीडन' की भावना ही प्राप्त होती है, क्योंकि उनके पात्र दूसरे को त्रसित करने से अधिक 'स्व' को विगलित और दलित करने में अधिक सन्तुष्ट होते हैं। जैनेन्द्र का आदर्श आत्म पीडन में विशेषतः फलित होता है। मृणाल स्वयं को कष्ट देने के लिए ही अपने भतीजे के पास नहीं जाती। वह नहीं चाहती कि उसके कारण कोई अपमानित हो। अतएव वह स्वयं सारे कष्ट भेलते हुए भी आत्मतुष्टि की प्राप्ति करती है। जैनेन्द्र के साहित्य में आत्मपीडन की भावना सामाजिक स्तर पर भी दृष्टिगत होती है। 'साधु की हठ'^१ शीर्षक कहानी में आत्म-पीडन का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। साधु एक गृहस्थ के घर भीख मागने जाता है, किन्तु प्रतिफल में उसे शरीरिक ताड़ना मिलती है तथा गृहस्वामिनी को भी अत्यधिक पीटा जाता है। बेचारा साधु बहुत दुखी होता है। उसके मन में यही भावना जाग्रत होती है कि सम्भवतः उसमें कहीं अहता छुपी है अथवा उसके आचरण में ही दोष है, उसकी भक्ति में दोष है जिसके कारण बेचारी गृहस्वामिनी को पति द्वारा बुरी तरह पीटा जाता है। साधु ईश्वर के समक्ष अपने को स्वत्वहीन तथा अहकारशून्य बनाने के हेतु प्रार्थना करता है।^२ पति (दरोगा) के क्रोध में उसे अपना ही दोष प्रज्ज्वलित होता हुआ दृष्टिगत होता है। इस प्रकार वह अन्ततः स्वयं पीटा

१ जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा भाग, प्र० स०, १९६४, दिल्ली, पृ० स० ७८।

२ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, तृ० स०, १९६३, पृ० ५।

३ '... ओह प्रभु क्या मैंने नहीं चाहा कि वह सब कुछ मुझसे मिल जाय जो तेरा नहीं है? क्या अपने को तुझसे सौंप कर तुझसे नहीं प्रार्थना की कि मुझसे, मेरे रोम-रोम में, मेरे अणु-अणु में तू ऐसा रम बैठे कि किसी ओर भाव को कहीं स्थान ही न रहे?' 'मैं क्या करूँ, जिससे वह व्यक्ति उस क्रोध के परिणाम से धुल जाय, जो मेरे कारण उसमें पैदा हुआ है? उस बेचारे का अपराध नहीं। ... उसकी आत्मा को आत्म-पीडन और आत्म-त्रास के भार से हलका कर देना होगा। अगर मैं गुस्सा पैदा कर सकता हूँ तो गुस्से की मार भी जरूर मुझ पर पड़नी चाहिए, लेकिन उस माता को क्यों तू पिटने दे सका?...'

—जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, तृ० स०, १९६३, पृ० १४।

जाकर उस व्यक्ति के अन्तस् से क्रोध (अहकार) को नष्ट करना चाहता है। अन्त में वह सफल भी हो जाता है। साधु के द्वारा जैनेन्द्र ने आत्म-पीडन का बहुत उच्चादर्श व्यक्त किया है। कोई भी व्यक्ति किसी को कष्ट देकर स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो सकता। पति भी जब तक विनम्र नहीं हो जाता तब तक उसकी (पति की) अहता उसे पागल बनाए रहती है। प्रेम और समर्पण में ही अहता के परिष्कार की सम्भावना देखी जाती है। समर्पण अन्ततः ईश्वरोन्मुख ही होता है।

उपरोक्त सैडिज्म (पर-पीडा) और काम-प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व प्रेम और घृणा की प्रवृत्तियों द्वारा होता है। प्रेम में आत्मरक्षा की भावना होती है, किन्तु घृणा में विध्वसात्मक प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है, जिसे फ्रायड ने 'डेथ इन्स्टिक्ट' कहा है।^१ जैनेन्द्र के साहित्य में घृणा का प्रतिरूप ध्वसात्मक प्रवृत्ति के रूप में फलित होता है। जितने अपने प्रेम-पात्र की अप्राप्ति तथा समर्पण के अभाव में प्रतिक्रियावादी हो जाती है। उसकी अहता तोड़-फोड़ में ही तुष्टि प्राप्त करती है। जितने द्वारा गाडी के पलटने भुवन मोहनी को जंगल में ले जाकर भयभीत करने में उसकी उग्र अहता का ही प्रदर्शन होता है। किन्तु इस ध्वसात्मक चेष्टा से अहता विगलित नहीं होता, वरन् और भी कठोर बनता जाता है।^२ 'रत्नप्रभा'^३ शीर्षक कहानी में रत्नप्रभा का एकाकी जीवन उसे विक्षिप्त तथा कठोर बना देता है। किसी के स्वेच्छद हास-परिहास से उसके मन में कचोट होती है। उसके अचेतन मन में वासना का जो रूप सुषुप्त है, वह चेतन पर सतोष प्राप्ति का विकृत मार्ग ढूँढ़ता है। छोटे-से भोले बालक को वह कामोत्तेजक पुस्तकें बेचने के लिए डाटती है। उसके मन में कहीं से आवाज आती है कि वह ऐसी पुस्तकें स्वच्छन्द रूप से क्यों बेचता है। उसका मन खुल नहीं पाता। उसमें कुठा होती है, इसीलिए वह बालक को पीटती है। वह उसे पीट कर अपनी अहता को पुष्ट करना चाहती है, इस प्रकार उसका अहभाव और भी उग्रतर होता जाता है। उसे आत्म-त्राण नहीं मिल पाता। उसके हृदय के प्रेम ने निषेधात्मक आचरण अपना लिया है। यही कारण है कि भोला बालक उसके वैभव की ओर भी आकृष्ट नहीं होता। रत्नप्रभा अपने वैभव के मद में चूर होती है। बालक को लेकर वह एकान्त में रहने के लिए नैनीताल भी जाती है, किन्तु वहाँ भी उसे सन्तोष नहीं

१ Fraud— 'Ego and the Id'

२ जैनेन्द्रकुमार 'विवर्त', १९५३, प्र० स०, दिल्ली, पृ० २५६।

३ जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (स० शिवनन्दनप्रसाद), दिल्ली, १९६६, पृ० २७६।

मिलता । और अन्त में वह विषाद-रोग (मेलन कोलिया) से ग्रस्त हो जाती है, क्योंकि कोई उसकी अन्तस्-पीडा को नहीं समझ पाता और न ही वह उसे खुलकर व्यक्त करने में समर्थ होती है । वह नहीं जानती की वह क्या चाहती है, फिर भी अन्दर से सब शून्य है । बीमारी की अवस्था में जब अचानक वह बालक उसके सम्पर्क में आता है तो वह फूट पड़ती है । उसका अन्तस् विगलित हो उठता है और वह बालक के नेत्रों में छलकते स्नेह-रस में सब कुछ पाकर तुष्ट हो जाती है ।^१ अन्ततः बालक की विनत कर्मशीलता ही रत्नप्रभा के अह को परिष्कृत करके ईश्वरोन्मुख करने में समर्थ होती है ।^२ रत्नप्रभा का धन-मद चूर हो जाता है । अहकार के कारण ही वह अकिंचन बालक का स्नेह प्राप्त करने में असमर्थ थी । धन के वैभव से पूर्ण होते हुए भी वह स्नेह के अभाव में शुष्क बनी रहती है । अन्त में उसे ज्ञात होता है कि 'लक्ष्मी चंचल है और अकिंचन भक्ति ही व्यक्ति का सर्वस्व है । यह मैं तुमसे देख सकी । अहकार की जगह यह बात मुझ में बसी रहे इसके लिए सदा तुम्हारा ध्यान धरूंगी ।'^३

जैनेन्द्र के साहित्य में अहतप्त चेतना मानो सदा हारने को तडपती रहती है ।^४ प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की प्राप्ति के अनन्तर भी मन में एक रिक्तता बनी रहती है । व्यक्ति उसे कितना भी दबाना चाहे तथा स्वयं पर विजय प्राप्त करना चाहे किन्तु वह समर्थ नहीं हो पाता । एकान्त में एकाकी अह विक्षिप्त हो उठता है, उसे अपनी अहता का बोध त्रास देने लगता है । समर्पण के अभाव में सब कुछ व्यर्थ प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में जो चेष्टाएँ होती हैं, वे हिस्टीरिया की ही पर्याय होती हैं । हिस्टीरिया में व्यक्ति की अह-चेतना इतनी

- १ 'इस छद्मवेश में क्यों जी, तुम क्यों आए ? यह तो परीक्षा का कायदा नहीं है । लेकिन जब मैं तुम्हें पहचान गई हूँ, छलना में आने वाली नहीं हूँ । मेरे ज्ञान की परीक्षा ही लेने आए हो न तुम, बैरागी ? मुझे मान पर चढ़ाकर झुकते चले गये, झुकते चले गये । अब मैं यह खेल समझ गयी हूँ, मेरे म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु म्हाने...' ।

—जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० २६५ ।

२. मूल द्वन्द्व 'मैं' और 'स्व' में है उसी को कहिए अह का और अखिल का द्वन्द्व । भगवान् समष्टि में व्याप्त हैं—'वह सागर हैं मैं बूढ़ हूँ' । यही मूल द्वन्द्व है ।

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ५३६ ।

- ३ जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० २६६ ।

४. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५३६ ।

उग्र हो जाती है कि सामने ही समर्पण न मिलने पर वह अपने शरीर को ही नोचता खसोटता है। ऐसी स्थिति 'फोबिया'^१ में भी पाई जाती है। 'दिन रात सबेरा'^२ में माननीय कवियत्री अपने अहता के बोझ को सहन नहीं कर पाती 'वह जैसे चाहती है कि शरीर ही न रह जाए, सब बर्फ की सिल ही बन जाए। सब सवेदन जडीभूत होकर शून्यवत् हो जाय। मैं होकर जो तू को खोजना और याद रखना पड़ता है सो मुसीबत के सिवा क्या है ? मैं ही मिटे तो कितना अच्छा कि सब 'उस' और 'तुम' को एक बार ही छुट्टी मिल जाए।' उसके मन में यही चीत्कार उठता है कि 'मैं क्यों, मैं क्यों ? और वह स्वयं को दलित होते हुए पाती है। हिपनोसिस की स्थिति में वह स्वयं नोचती-खसोटती है। उन्मादावस्था में वह देखती है कि 'उसको दला और मसला जा रहा है उनका ही चेहरा पीड़ा से और आनन्द से विह्वल हुआ जा रहा है। अपनी ही काया दीखती है और हर घोरता, हर बर्बरता, हर अभ्यर्थना और हर पूजा में उसे अपनी काया में पुलक भरता भी दीखता है।'^३ इस प्रकार कवियत्री अपने अहता को विगलित करती है। उसका वहशीपन कामुकता नहीं, वरन् सहजता की प्राप्ति का प्रयास है।^४ प्रत्यक्षत वह पुरुषों में माननीय समझी जाती है। उसे उन पर ही उठाया जाता है, किन्तु उनकी अहता किन्हीं चरणों में विसर्जित होने के हेतु उन्मत्त रहती है। अतएव वह परिकल्पना में नहीं पर की उपस्थिति की अनुमति करती है। जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन के इस महत्वपूर्ण सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। समाज में व्यक्ति मर्यादित हो सकता है, वहा उसकी विवशता होती है, किन्तु एकान्त में वह अपने अन्तस् में आलोकित सत्य की अभिव्यक्ति किए बिना सहज नहीं हो पाता। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की उपेक्षा करके कभी भी सहजता और स्वास्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। उनके साहित्य में कामजन्य जो भी चेष्टाएँ घटित होती हैं, उनमें कहीं भी अपनी ओर से होता हुआ प्रयत्न दृष्टिगत नहीं होता। प्रयत्न में व्यक्ति की ऐन्द्रिकता का भान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्व के प्रति बहुत सजग है, किन्तु 'नि स्व होकर घटित होने वाले भाव में अन्तर्मन की जटिलता

१ जार्ज एलिन 'साइकोएनालिसिस-टुडे', प्र०स०, १९४८, ब्रिटेन, १।

२ जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा भाग, प्र०स०, दिल्ली, १९६४।

३ जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा भाग, प्र०स०, दिल्ली, १९६४, पृ० १७६।

४ 'सभ्य व्यापार में जिन्हें बर्बर और अमानुषिक मानते हैं, ऐसे काटने-नोचने आदि के कृत्यों मानो परस्पर को आनन्द और तृप्ति देने वाले होते हैं। इस मिथुन योग में मानो हमारा कब अहकृत लुप्त हो जाता है।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ०स० ५२५।

ही सहजोन्मुख होती है।^१ यही कारण कि जैनेन्द्र की दृष्टि में पाप शरीर तक ही सीमित नहीं है। उनके अनुसार पाप पर के निषेध में है सत्य के दुराव में है, मत्स्य की स्वीकृति में नहीं। जैनेन्द्र के साहित्य में अहचेतना से तत्पन्न व्यक्ति फूट-फूट कर रोते हुए पाए जाते हैं। रोकर वे अपनी आत्मा का परिष्कार तथा स्वत्व का विसर्जन करते हैं।

काम और ब्रह्मचर्य

जैनेन्द्र के साहित्य में सदैव अहता पराजित होते हुए भी दृष्टिगत होती है। उनकी रचनाओं में अह को विजित करने का दम्भ सदैव पराभूत हुआ है। अह को विजित करके ब्रह्मचर्य की प्राप्ति हो सकती है यह व्यक्ति का बल है।^२ यदि कोई व्यक्ति काम की उपेक्षा करके स्वयं को देवत्व के आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, तो उसे अन्ततः निराशा और अशान्ति की प्राप्ति हो सकती है। सासारिक सम्बन्धों की उपेक्षा करके तथा इन्द्रियों को पूर्णतः सयमित करके ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला व्यक्ति अपनी अतृप्त वासना के कारण कहीं का भी नहीं रहता। उनके मन में भावना बस मथती रहती है कि वह विजित है उसने स्व को वश में कर लिया है। जैनेन्द्र के अनुसार ब्रह्मचर्य की प्राप्ति ब्रह्म की चर्या में ही संभव हो सकती है।^३ प्रत्येक जीव में ब्रह्म का निवास है। पर के निषेध से अह-रति बढ़ती है।^४ मानव-प्राणी व्यावहारिक

- १ 'ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमने चेष्टा करके आवरणों को एक-एक कर हटाया है, मालूम ऐसा होता है कि जो सच ही था उसे सहज स्वीकार कर लिया है, विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं हुई है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५४८।

- २ 'नर-नारी का द्वन्द्व द्वैवत आदिम है, मौलिक है। इसी कुंजी से मानव-व्यवहार खुलेगा तो खुलेगा। दुनिया में शान्ति और युद्ध का प्रश्न है। घटना के पट पर रखकर देखे तो वह हिंसा-अहिंसा का प्रश्न हो जाता है। पर दीखता है कि वह काम और ब्रह्म की चर्या से अलग प्रश्न नहीं है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० ६६।

- ३ 'हममें जितना जो है, वह अपने-आप में पर है। अब भगवान वह जो पर में है, स्व में भी है। अह वह जो स्व में ही है, पर में एकदम नहीं है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ५३६।

- ४ 'जिसको दृढ़ता समझा जाता है वह कहीं भीतर की रिक्तता तो नहीं है। मेरी स्वावलम्बिता कहीं मेरी स्व-रति तो नहीं है।... अपने को बाटा नहीं है पूरी तरह संयुक्त जो रखा है—सो यह निपट अह का अवलम्ब तो नहीं है।' —जैनेन्द्रकुमार 'व्यतीत', दिल्ली, प्र० स०, पृ० स० १०।

जगत में रहकर ही प्रतिभाशाली तथा महान बन सकता है, किन्तु ससार की उपेक्षा करके देवत्व को प्राप्त करने की अभिलाषा मात्र दम्भ नहीं है। जैनेन्द्र के साहित्य में हमें ब्रह्मचर्य की नितात व्यावहारिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। 'बाहुबली', 'विचारशील', 'व्यर्थ प्रयत्न', 'टकराहट' तथा 'जयवर्धन' आदि कहानियों में जैनेन्द्र ने अहता का निषेध करते हुए समष्टि मानव की स्वीकृति को ही परम आदर्श माना है। बाहुबली राज-पाट त्याग कर अपने शरीर को तप से कृषित करता है, फिर भी उसे मोक्ष नहीं मिल पाता और ससार का भोग करने वाले भरत को केवल्य की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें 'स्व' को विजित करने की अहता नहीं होती, वह स्वयं को मानव-सेवा में समर्पित कर देता है किन्तु बाहुबली के मन में वह अहकार उत्पन्न हो जाता है कि मैं विजित हूँ।^१ यही काटा उसके केवल्य की प्राप्ति में बाधक है। इसीलिए बाहुबली तपस्या छोड़कर सब के प्रति प्राप्य बन जाता है।^२

'विचार शक्ति' में राकेश आचार्य के सान्निध्य में बहुत ही सयमपूर्वक रहता है। भक्तगण तक उनकी पूजा करते हैं किन्तु राकेश का मन भीतर से अशान्त और उद्विग्न बना रहता है। उसके मन में अपनी अहता तथा भूठे ढोंग का बोध होता है और वह अपने आण पाने के हेतु विकल रहता है। वह सहज बनना चाहता है। वह सोचता है कि क्या इन्द्रियो को वश में करने के कारण ही पूज्य है।^३ उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। कभी वह ससार की ओर भुक्तता है और कभी भूठी मर्यादा उसे अपनी ओर खींचती है। अन्ततः वह ससार की उपेक्षा नहीं कर पाता।^४ सासारिक स्त्री के समक्ष वह अपने मन के रहस्य को बार-बार छिपाता है, उसे 'माता' कहकर सम्बोधित

१ 'बाहुबली विजित है। यह वह बेचारा नहीं भूल सकता है।'।

—जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १७८।

२ 'मैं सब के प्रति सदा सुप्राप्त रहने की स्थिति में ही अब रहूँगा।'।

—जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १७९।

३ बाहर की ओर खुलने वाली सब इन्द्रियो को अपने में आत्मस्थ करना पड़ता है। इस सबसे ही क्या वह मनुष्य न होकर देव हो गया है? या सामने पसारी जन मनुष्य से पशु बन गये हैं।

—जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा स०, पृ० १६१।

४ 'ससार निन्दनीय और वन्दनीय नहीं है।'।

—जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा स०, पृ० १३५।

करता है, किन्तु अन्त में सासारिक प्राणियों द्वारा ही उनका मद चूर हो जाता है ।^१

‘जयवर्धन’ में इला नहीं चाहती कि जय देवता बना रहे । उसे अलौकिक पुरुष बनाकर अतृप्त नहीं रहना चाहती । अन्ततः उसका स्नेह ही विजित होता है । वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार ससार की उपेक्षा करके देवत्व की प्राप्ति की चेष्टा में व्यक्ति की अहता का ही प्रदर्शन होता है जो कि सहज और स्वाभाविक नहीं है ।

अहकार

जैनेन्द्र ने मानव जीवन में कोने से परे अह के निषेधात्मक अहकारमूलक रूप का भी विवेचन किया है । अह भाव आत्मरति से परे प्रतिष्ठा, परिग्रह, पदलोलुपता के रूप में भी फलित होता है । जैनेन्द्र के अनुसार अहकार हिसाकारी पर्याय है । ससार में वही व्यक्ति वास्तविक रूप में पूज्य और माननीय बन सका है, जिसने स्वयं को कुछ भी नहीं समझा । गांधी, ईसा आदि अपने लिए नहीं किए और न ही अपने लिए मरे । उनका जीवन मानवता को समर्पित था । स्वार्थ भाव से युक्त व्यक्ति क्या देवता भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । जैनेन्द्र की ‘भद्रबाहु’ शीर्षक कहानी में इन्द्र अभिमान के कारण ऊपर उठने की लालसा में नीचे नहीं देखना चाहता । वह स्वयं को ही सर्वेश्वर समझता है किन्तु उसे चैन नहीं मिलता वह अविजित होने की लालसा में व्याकुल रहता है, किन्तु इन्सान कुछ नया होकर ही अजेय बन जाता है ।^२ अभिमानी द्वन्द्व मानव जीतना चाहता है किन्तु वह नहीं जानता कि अहशून्य होकर ही किसी को जीता जा सकता है, क्योंकि वास्तविक जय तो हृदय को जीतने में है और वह प्रेम और नम्रता के मार्ग में ही सुलभ हो सकती है ।^३

वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में अभिमानी व्यक्ति का मद प्रेम के समक्ष सदैव ही पराभूत हुआ है ।^४ उसके समक्ष सत्य एक है अनेकता स्थिर नहीं रह सकती । द्वेत

१ जैनेन्द्र की कहानियाँ, नवा स०, पृ० १३५ ।

२ ‘जब वह कुछ नहीं चाहता तभी वह अजेय है ।’

—जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० १८६ ।

३ ‘अभिमान रखकर किसी का भाव तोड़ा नहीं जा सकता है । पर जिसके पास नहीं है, उसके पास आसू ले के जायगा तभी जीतेगा ।’

—जैनेन्द्र प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० १८७ ।

४. ‘प्रेम में अस्तित्व गलता है ।’ जैनेन्द्रकुमार ‘अनन्तर’, पृ० १४० ।

प्रेम के आकर्षण द्वारा ही अद्वैत की ओर उन्मुख होता है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध हो अथवा भूत प्रकृति का सब के मूल में प्रेम तत्त्व ही प्रधान है। 'मे' 'तुम' का भेद द्वन्द्व का मूल है जब तक द्वैत है तब तक व्यक्ति स्वयं से ही समाहित सत्यता का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक व्यक्ति निस्पृह भाव से परस्पर मिलकर रहता है तब तक प्रगति उसके चरण चूमती है अन्यथा 'मैं' 'तुम' अहिंसा के प्रेम तक मार्ग की उपेक्षा करके आपस में ही विनष्ट होता है। 'नारद का अर्घ्य' कहानी में अहंकारी मानव-प्राणी के मन में चारों ओर लहराती खेती को देखकर लोभ उत्पन्न हो जाता है और प्रेम से मिलकर काम करने वाले दो साथी स्वार्थमय परिग्रही प्रवृत्ति के कारण दो पृथक्-पृथक् अग बन जाते हैं। 'अपना', 'मेरा' का क्रीडा दोनों के भीतर बैठ जाता है और दोनों ने भोपड़े में आग लगाकर अपने संयुक्त प्रेम को स्वाहा कर दिया।^१ 'इस प्रकार द्वैत भाव के जाग्रत होते ही हिंसात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव जीवन में सत्य की प्राप्ति के लिए द्वन्द्व से प्रेम और शान्ति के मार्ग को अपनाना ही श्रेयष्कर है और वह मार्ग 'अद्वैत' अर्थात् अभेद दृष्टि की प्राप्ति पर ही सुलभ हो सकता है। 'तत्सत्' कहानी में वन के विभिन्न पेड़ पोथे एक-दूसरे से प्रश्न करते हैं कि 'वन क्या है?' किन्तु कोई भी नहीं समझ पाता। बास अपने को केवल बास का वृक्ष समझता है सब स्व तक ही सीमित है।^२ वे यह नहीं जानते कि उनकी समष्टि ही वन है। जहाँ उनकी अहता (मैं तू का भेद) विलुप्त हो जाता है। उस एकत्व में परम सत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह है। 'सब कही है। सब कही है' 'हम नहीं है, वह है।'^३

जैनेन्द्र के उपरोक्त विचारों पर गेस्टालवाद की पूर्ण छाप दृष्टिगत होती है। गेस्टाल सिद्धान्त के अनुसार अनेकता अथवा रेखाएँ सत्य नहीं हैं। सत्य समष्टि में समाहित है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में गेस्टालवाद के समग्रता के सिद्धांत की छाप दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार अखण्ड ईश्वर की प्राप्ति स्वत्व के विसर्जन द्वारा ही हो सकती है। जब तक व्यक्ति अहं चेतन से तृप्त रहता है तब तक वह सत्य

१ 'परमेश्वर आदमी की इसी अपनी-अपनी मस्यता में पढ़कर खड़-खड़ हो गया। और उन खण्डों को लेकर आदमियों में अस्मिता की उतावली मचने लगी।' — 'अनन्तर', पृ० ८५।

२ जैनेन्द्र 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १६५।

३ 'दूर तक उसकी तू-तू, मैं-मैं सुनाई देती थी।' — जैनेन्द्र . 'प्रतिनिधि कहानियाँ', पृ० १६३।

को जान ही नहीं सकता। 'मै' अविजित समझने वाला व्यक्ति सदैव अहता से पीड़ित रहता है। 'व्यर्थ प्रयत्न' में चिन्तामणि सासारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठकर स्वयं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। वह अपने मन की दुर्बलता को विजित करना चाहता है, किन्तु उसका दम उसे ही पीड़ित करता रहता है, क्योंकि सत्य मै के समर्पण द्वारा ही प्राप्य है। समर्पण प्रेम में सम्भव होता है। ज्ञानी भुक्तता नहीं, टूट जाता है। इसीलिए जैनेन्द्र ज्ञान को दम्भ मानते हैं। 'विचार' में यदि व्यक्ति का अहभाव बहुत अधिक सजग रहे तो व्यक्तित्व असन्तुलित हो जाता है। 'व्यर्थ प्रयत्न' में चिन्तामणि के विचार-प्रवाह में उसकी अहता बहुत उग्र रहती है। यही कारण है कि आह का व्यक्तित्व बहुत असन्तुलित रहता है।^१

निष्कर्षतः जैनेन्द्र के साहित्य में अह की सार्थकता अस्तित्व के अर्थ में ही स्वीकार की गई है, अन्यथा अह (जीव) की अहकार मूलक भावना का सदैव निषेध किया गया है।

-
१. सोच-विचार में मनुष्य का अहम् बहुत मिला रहे तो जड़ होती है उसी को कहते हैं 'सेल्फ काशस'। इस स्थिति में मनुष्य के व्यवहार का सरल भाव नष्ट हो जाता है।

—जैनेन्द्रकुमार · 'सुनीता', पृ० सं० १३५।



जैनेन्द्र और समाज



प्रेमचन्द युग

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द-युग में मानवतावादी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिला। प्रेमचन्द का साहित्य सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व रखता है। सामाजिक-हित की ओर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित रखने के कारण ही वे युग-पुरुष बन गए। उन्होंने अपने उपन्यास और कहानियों द्वारा सामाजिक कुरीतियों और तत्कालीन व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करते हुए मानव-जीवन की निराशाजनक स्थितियों में आशा का संचार किया। उनके साहित्य का व्यापक परिवेश समाज की समस्या और उनके सुधार की भावना से ही तद्गत है। जीवन की यथार्थता उनके साहित्य में घटनाओं के कलेवर में अभिव्यक्त हुई है। प्रेमचन्द की यथार्थ दृष्टि तत्कालीन स्थितियों का ही उद्घाटन करने में सक्षम है। उसमें आत्मनिष्ठ सत्य से अधिक स्थितिगत तथ्य का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द के साहित्य में घटनाओं का बाहुल्य है। उनके पात्र त्याग सेवा, सहानुभूति, सहनशीलता आदि मानवीय गुणों के प्रतीक हैं। यथार्थ का आधार लेकर उन्होंने अपना आदर्शवादी दृष्टिकोण का परित्याग नहीं किया है। सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द साहित्य सामाजिक और नैतिक आदर्शों का ही प्रतिनिधित्व करता है। यथार्थ में ये इतना नहीं डूबे हैं कि आदर्श उनसे छूट गया हो।

प्रेमचन्द की दृष्टि में सामाजिक नीति और मर्यादा इतनी आवश्यक हैं

कि व्यक्ति उन सामाजिक मर्यादाओं से परे जीवन के सत्य को समझने में असमर्थ है। सत्य तो अन्तर्भूत ही हो सकता है। अतएव जीवन के सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए बाह्य जीवन की घटनाओं और द्वन्द्वों से ऊपर उठना आवश्यक है। प्रेमचन्द का साहित्य तत्कालीन समाज का कोरा फोटोग्राफ तो नहीं है, तथापि उसमें सामाजिक जीवन की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। उनकी कलादृष्टि तत्कालीन स्थिति के अग्र-प्रत्यग का स्पष्ट चित्र अभिव्यक्त करने में सक्षम है। उसमें समाज का एक-एक अंग उभर कर स्पष्ट-रूप से प्रस्तुत हुआ है। घटनाओं के सट्टा ही लेखक ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी ऐसे ऐंगल से देखा है, जिससे उसकी बाह्यावृत्ति पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो सकी है, किन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक वस्तु और स्थिति को एक ही कोण से देखे। दृष्टि-भेद के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप में भी अन्तर आना स्वाभाविक है। जैनेन्द्र के साहित्य में सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया गया है, तथापि उन्होंने समाज को इस दृष्टि से देखा है, जिसमें बाह्य स्थूलता से अधिक आत्मगत सूक्ष्मता ही लक्षित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य में भी जीवन की यथार्थता आदर्श से असम्पृक्त नहीं है, किन्तु उनकी दृष्टि में यथार्थ घटनाबद्ध न होकर सत्य से युक्त है और आदर्श किन्हीं निश्चित मानदण्डों तक ही परिमित न होकर यथार्थ से ऊपर उठने की चेष्टा में ही लक्षित होता है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने समाज की स्थितियों से अधिक सामाजिक-परिवेश में जीने वाले आधार रूप व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों को अभिव्यक्ति दी है। उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति व्यक्ति और वस्तु के सर्वांगों को उभारने से अधिक व्यक्ति की मन स्थितियों को चित्रित करने में सक्षम है। इस प्रकार जैनेन्द्र के पात्र हमें स्थितिगत क्षोभ न देकर अपनी अन्तर्व्यथा का रस देते हैं। वे जीते तो समाज में ही हैं, किन्तु वे समाज के घात-प्रतिघात को स्वयं ही भेल लेते हैं। अपनी पीड़ा को लेकर वे समाज पर उत्बुद्ध नहीं होते, यही कारण है कि जैनेन्द्र के पात्रों द्वारा हमारे समक्ष सामाजिकता गौण हो जाती है और अन्तर्द्वन्द्व प्रमुख हो उठता है। जैनेन्द्र ने सामाजिक समस्याओं से अधिक समस्याओं के उत्स को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। आदर्शों की घिसी-पिटी सीमाओं में चलती हुई व्यक्ति-चेतना अर्थात् 'स्व' को जानने का प्रयास किया। प्रेमचन्द-युग में सामाजिक नीति और मर्यादा के कारण व्यक्ति के अन्तस् भावों की पूर्णाभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकी थी। व्यक्ति समाज के सन्दर्भ में ही अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। अतएव समाज की उपेक्षा तो सम्भव हो ही नहीं सकती, किन्तु समय के साथ सामाजिक नियमों में परिवर्तन उपस्थित होना आवश्यक है।

जैनेन्द्र की सामाजिक दृष्टि

जैनेन्द्र यथार्थान्मुखी आदर्शवादी लेखक है। आदर्श की धरती पर पैर टेक कर ही वे यथार्थ के उन्मुक्त परिवेश में संचरण करते हैं। भारतीय सस्कृति के मूलभूत आदर्शों की रक्षा करते हुए ही उन्होंने अपने कथा साहित्य की रचना की है। जैनेन्द्र के अनुसार अपनी सस्कृति और सभ्यता का उन्मूलन करने वाला समाज कभी भी प्रगति नहीं कर सकता। आज पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक मर्यादाएँ समाप्त होती जा रही हैं। जैनेन्द्र के साहित्य में स्त्री-पुरुष स्वातन्त्र्य का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है, उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि जैनेन्द्र ने नितान्त स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को अपनाकर सामाजिक बन्धन को शिथिल किया है। जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र-दृष्टि द्वारा जीवन के प्राकृतिक और मूलभूत सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। सत्य का समाज और मर्यादा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैनेन्द्र ने समाज के परिप्रेक्ष्य में मानव-जीवन को जिस रूप में देखा है, उसके मूल में स्त्री-पुरुष का अर्धनारीश्वर भाव ही प्रधानतः मुखरित हुआ है। स्त्री-पुरुष स्वयं में अपूर्ण हैं। अतः उनका परस्पर आकर्षण स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है। सृष्टि के आरम्भ से ही अर्धनारीश्वर की भावना मानव जीवन में व्याप्त रही है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थ इसके साक्ष्य हैं।^१

प्रेमचन्द-युग के अन्तिम चरण में साहित्य और समाज में नवीन मान्यताओं को लेकर भावाभिव्यक्ति का प्रयास हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक दृष्टि सुधारवादी थी। समाज की आर्थिक विषमता से ऊँच-नीच के भेद-भाव लेकर अनेको समस्याएँ उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने घरेलू जीवन से लेकर राजनैतिक परिवेश में व्याप्त द्वन्द्वों का विस्तृत विवेचन किया है। जीवन में उत्पन्न विविध समस्याओं की भाँति नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न भी समाज-सापेक्ष ही है। समाज में जो प्रश्न नैतिक और अनैतिक का रूप लेता है, साहित्य में वही श्लील और अश्लील रूप में विवेचित किया गया है। समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध निर्वैयक्तिक न होकर सम्बन्ध-सापेक्ष रूप में स्वीकार किया जाता है। स्त्री-पुरुष परस्पर भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नी आदि सबध सूत्रों में आबद्ध होते हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास और कहानियों का कथानक पारस्परिक रिश्ते-नातों से ही ढूँढ़ा है। जैनेन्द्र ने पति-पत्नी, व भाई-बहन आदि सम्बन्धों

१ 'सीता-राम', 'राधाकृष्ण', 'शिव-पार्वती' की अर्धनारीश्वर की मूर्ति इस का प्रमाण है।

से परे स्त्री-पुरुष को उनके प्रकृत रूप में स्वीकार किया है, यही जैनेन्द्र की मौलिक देन है।

जैनेन्द्र ने सामाजिक व्यवस्था को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास करता है तथा समाज ही उसे मान और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यदि समाज न हो तो व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वयं में अर्थहीन हो जाता है। 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने सामाजिक मर्यादा का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह उनकी सामाजिक दृष्टि को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है। 'मृणाल' समाज की क्रूर छाया के भीतर जीवन-यापन करती हुई सामाजिक मर्यादा को अन्तिम सास तक बनाए रखती है। यद्यपि यह स्थिति कभी-कभी अतिरजनापूर्ण प्रतीत होने लगती है, किन्तु उसमें कहीं झूठ की दीवार नहीं खड़ी की गई है। समाज के क्रूर हाथों में दया का कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने समाज के तिरस्कृत तथा नितान्त अवहेलनीय पक्षों को अपनी हार्दिकता के सस्पर्श से उभारने का प्रयास किया है, जिससे उनके द्वारा प्रस्तुत व्यक्ति के प्रति हममें गहरी सहानुभूति जागृत हो उठती है। मृणाल अपनी व्यथा को अन्तस् में छिपाए हुए प्रतिष्ठित समाज की दृष्टि से दूर चली जाती है। वह स्वयं टूट सकती है, किन्तु समाज में स्वयं को लेकर क्रान्ति उत्पन्न करना उसे स्वीकार नहीं है।^१

'त्यागपत्र' में मृणाल समाज की मर्यादा को ओढ़े हुए आत्मपीडन को ही प्रश्रय देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषम स्थिति में ही उसके अन्तस् में कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो उसे सदैव जीवन से विमुख होने से वंचित किए रहती है, और वह शक्ति है, उसका अन्तर्निष्ठ प्रेम। अपने प्रेम को सार्थकता प्रदान करने के लिए ही वह अपने जीवन को नितान्त वस्तुता प्रदान कर देती है। मर कर वह प्रेम के प्रति कृतार्थ नहीं हो सकती थी। अतएव प्रेम की पीड़ा को लिए हुए ही वह अपने जीवन की इह लीला समाप्त करती है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने सामाजिक सत्य के मूल में व्यक्ति सत्य को जीवन-शक्ति के रूप में अन्तर्भूत किया है। वे कहीं भी व्यक्ति-निरपेक्ष होकर समाज का चित्रण नहीं करते। जैनेन्द्र के साहित्य का यह सनातन सिद्धान्त है।

परिवार और विवाह

ससार स्त्री-पुरुषमय है। सृष्टि के आरम्भ से ही ससार केवल स्त्री-पुरुष

१. 'मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ, समाज टूटी कि फिर किसके भीतर बनेंगे।' — जैनेन्द्रकुमार. 'त्यागपत्र', पृ० स० ७२।

के नाना सबधो द्वारा चल रहा है। कर्ता एकमात्र ईश्वर है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत् में केवल यही दो व्यक्तित्व सक्रिय रहे हैं। आदिम युग में मानव जीवन की कोई व्यवस्था नहीं थी। मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों को स्वच्छन्द रूप से सन्तुष्ट करता था। सभ्यता के विकास के साथ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध अधिक व्यवस्थित होने लगे हैं। ज्यो-ज्यो उनमें विवेक बुद्धि जाग्रत हुई वे जीवन की विविध समस्याओं की ओर उन्मुख हुए। परिवार व्यवस्था के क्रम में ही एक महत्वपूर्ण सोपान है। परिवार वह केन्द्र है, जहाँ स्त्री-पुरुष के विवाह के धार्मिक संस्कार को सम्पन्न करते हुए सन्तानोत्पत्ति तथा शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख होते हैं।

वैदिक काल से ही परिवार के व्यवस्थित रूप का प्रमाण मिलता है। रामायण महाभारतकालीन सभ्यता में पारिवारिक-व्यवस्था को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। भारत में बीसवीं सदी से पूर्व अधिकांशतः सयुक्त परिवार का ही प्रचलन था किन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ सयुक्त परिवार विघटित होते गए। समाजवादी युग में सयुक्त परिवार का कोई महत्व नहीं रह गया है। प्रेमचन्द के उपन्यास में अधिकांशतः सयुक्त परिवार की घटनाएँ ही कथात्मक रूप में ही अभिव्यक्त हुई हैं। धरेलू भगड़े, कलह आदि का चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में बहुत स्वाभाविक रूप से किया है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में सयुक्त परिवार का विशेषतः उल्लेख नहीं हुआ है। उनके कथा साहित्य का निखार व्यक्ति के सदर्भ में ही दृष्टिगत होता है, परिवार के परिवेश में नहीं। अर्थात् द्वन्द्व का कारण पारिवारिक समस्याएँ न होकर, आन्तरिक उत्पीड़न से उद्भूत अन्तर्द्वन्द्व है। परिवार को उन्होंने वैवाहिक जीवन के लिए अनिवार्य माना है। वे विवाह को किसी भी स्थिति में उपेक्षणीय नहीं मानते। अतएव विवाह के साथ परिवार का होना स्वाभाविक ही है।^१

जैनेन्द्र भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक हैं। उनकी दृष्टि में व्यवस्थाहीन समाज आदिम सभ्यता का ही प्रतीक हो सकता है। ऋषिप्रधान युग में सयुक्त परिवार ही विशेषरूप से प्राप्त होते थे किन्तु इस उद्योगवादी युग में परिवार केवल पति-पत्नी तक सिमट गया है।^२ इतना होते हुए भी जीवन नितांत परीक्षण

१ 'विवाह ही है जो हमें ससार में पहचाने का रास्ता देता है।' बीस की पूर्णता होते ही इक्कीसवां वर्ष अपने आप उस पर आ जायगा। विवाह की ऐसी ही सहज परिणति मैं मानता हूँ।'

—जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', १९६१, प्र० स० दिल्ली, पृ० स० २०-२१।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १३७।

अथवा मुक्त प्रयोग नहीं हो सकता। उसके लिए अवलम्ब ही आवश्यकता है। मानवता इसी रूढ़ सस्था (परिवार) पर कायम है जो कि स्वयं विवाह पर टिकी है।

जैनेन्द्र ने विवाह को एक सामाजिक सस्कार माना है। स्त्री-पुरुष विवाह द्वारा ही परस्पर मिलते तथा सन्तानोत्पादन में सहायक होते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास बौद्धिक युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें व्यक्ति की आत्मिक समस्या और अन्तर्द्वन्द्व का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। जैनेन्द्र ने नाना सम्बन्धों से परे उन्हें मात्र स्त्री-पुरुष के रूप में समझने की चेष्टा की है। उन्होंने स्त्री-पुरुष के अन्नमर्न की गहराई में प्रवेश करके दलित भावों की सहजाभिव्यक्ति का प्रयास किया है। प्राचीन रुढ़िगत, पर्दा आदि प्रथाओं पर उन्होंने विचार नहीं किया है। युगानुरूप उनके पात्र प्रगतिशील तथा स्वच्छन्द विचारों के पोषक हैं। उनके अनुसार—‘जीवन मूल्य तेजी से आर्थिक बनते जा रहे हैं। उस वेग में जान पड़ता है कि परिवार और सम्मिलित परिवार का रूप छोटा हो जाने को बाध्य है। मालूम होता है कि यदि आर्थिक सभ्यता का दौरादौर रहा तो यह परिणाम घटित हुए बिना न रहेगा। लेकिन पारिवारिक इकाइयां स्वयं उस आर्थिक सभ्यता की बाढ़ को रोकें हुए हैं।’

वस्तुतः जैनेन्द्र विवाह और परिवार को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। उनके उपन्यास और कहानियों का कथानक वैवाहिक और पारिवारिक-परिवेश में ही फलित हुआ है। उनके दो नवीनतम उपन्यास ‘मुक्ति-बोध’ और ‘अनन्तर’ की कथा में पारिवारिक सम्बन्धों के मध्य होने वाले मतभेद को भी विशेषतः प्रश्रय मिला है। पिता-पुत्र, तथा बेटा-दामाद के मध्य घटित घटनाओं को पारिवारिक स्तर पर ही चित्रित किया गया है। अन्य प्रारम्भिक उपन्यासों में परिवार तो है, किन्तु परिवार की घटनाओं अथवा समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। वहाँ बाह्य घटना से अधिक मानसिक तनाव दृष्टिगत होता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में परिवार की स्थिति बहुत ही निर्बल है। उन्होंने परिवार को वैवाहिक सस्कार सम्पन्न करने का हेतु-मात्र ही माना है। घर में बाहर के प्रवेश द्वारा उन्होंने परिवार को स्वस्थ बनाने का प्रयास किया है। परिवार के दायित्व को विवाह में ही सीमित नहीं किया जा सकता। विवाह के परे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा आदि के हेतु भी परिवार का अस्तित्व अनिवार्य है। व्यक्तित्व का समुचित विकास परिवार के सौहार्द्रपूर्ण परिवेश में ही सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में परिवार का कोई उच्च आदर्श दृष्टिगत

नहीं होता। 'सुखदा' में पारस्परिक तनाव के कारण बच्चे की शिक्षा स्वयं में एक समस्या बन जाती है। पारिवारिक तनाव की स्थिति में व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जैनेन्द्र के पात्र व्यक्तिगत जीवन की मानसिक उलझन के कारण समाज में अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना पाते। जैनेन्द्र की रचनाओं में उतना वैषम्य दृष्टिगत होता है कि उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण नहीं बनाया जा सकता। 'कल्याणी' में जो व्यथा है, वह 'मुक्त-प्रयोग' की स्वच्छन्दतापूर्ण परिस्थिति में सम्भव नहीं हो सकी है। भारतीय सस्कृति के आदर्श उसमें लुप्तप्राय हो जाते हैं। 'त्यागपत्र' में एक विवाह सफल न होने पर दूसरा संभव नहीं हुआ है किन्तु 'मुक्ति-प्रयोग' में वैवाहिक अनुबन्ध भी प्रयोग मात्र रह गए हैं। एक के बाद दूसरे सम्बन्ध की ओर उन्मुखता ही प्रमुखरूप से दृष्टिगत होती है। उपरोक्त विरोधाभास को देखते हुए उनके विचारों के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित विचार निर्धारित करना कठिन हो जाता है। तथापि यह सत्य है कि जैनेन्द्र परिवार के अस्तित्व का खण्डन समाज के हित के लिए उपयोगी नहीं समझते। परिवार और विवाह समाज की बाह्य और अनिवार्य स्थिति है। जैनेन्द्र के साहित्य में उत्पन्न होने वाली विषमता समाज को लेकर नहीं है, वरन् व्यक्ति की सच्चाई को लेकर उद्भूत हुई है। उनके सम्बन्ध में यह कहना कि उन्होंने समाज का विरोध किया है, उचित नहीं है। समाज सत्य है, किन्तु समाज के साथ व्यक्ति की सत्यता का निषेध नहीं किया जा सकता। समाज व्यक्ति से ही है और व्यक्ति की सार्थकता भी समाज में ही सम्भव है।^१

विवाह और प्रेम

जैनेन्द्र के साहित्य की सबसे बड़ी समस्या विवाह में प्रेम को स्वीकार करने के कारण ही उत्पन्न होती है। विवाह और प्रेम (दाम्पत्य और रोमांस) को वे जीवन-सरिता के दो समानान्तर किनारों के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वैवाहिक जीवन में यदि बाहर से आने वाले प्रेम को निषिद्ध कर दिया जाय तो वैवाहिक जीवन में एक घुटन-सी उत्पन्न हो जायगी। वैवाहिक जीवन गवाक्ष है, कोठरी नहीं है। 'सुनीता' में पारिवारिक जीवन की उदासीनता से मुक्ति पाने के हेतु ही सुनीता और श्रीकान्त के मध्य हरिप्रसन्न का प्रवेश होता है। 'सुखदा' में सुखदा विवाह से पूर्व अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में जो

१ 'वैयक्तिक निरा कुछ भी नहीं होता, सब कुछ साथ ही सामाजिक होने को विवश है।'

स्वप्न देखती है, वे पूर्ण नहीं हो पाते। अभावग्रस्त स्थिति उसे बाहर से आए आकर्षणों की ओर उन्मुख करती है, क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि विषम मन स्थिति में व्यक्ति का भुकाव त्वरा और बाह्य आकर्षण की ओर ही अधिक होता है। लाल का भव्य व्यक्तित्व उसे इसीलिए प्रभावित करने में सक्षम हो सका है, ऐसी स्थिति में घर का वातावरण असन्तोषजनक हो जाता है। पति-पत्नी का आत्मिक मिलन सम्भव नहीं हो पाता। 'कल्याणी' में कल्याणी और उसके पति का सम्बन्ध इतना शकाग्रस्त होता है कि उनमें एक-दूसरे के प्रति समर्पण भाव जाग्रत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में पति की ओर से पत्नी को प्रेम सम्बन्ध की पूरी छूट रहती है। पति कभी भी पत्नी के प्रति उत्क्रुद्ध नहीं होते, किन्तु कल्याणी अपने पूर्व प्रेमी के प्रति अपने प्रेम-भाव को प्रकाशित करने में असमर्थ होती है। उसका प्रेम भीतर ही भीतर सुलगता रहता है। उसकी समस्त वेदना के मूल में प्रेम की अप्राप्ति भी है। 'मुक्तिबोध' तथा 'अनन्तर' में पति के जीवन में प्रेमिका का प्रवेश होता है।

यद्यपि यह सत्य है कि दाम्पत्य जीवन को घर की दीवारों में ही सीमित कर देने से जीवन बोझ बन जाता है। सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति विश्वस्त हो, उनमें अप्रेम अथवा घृणा का भाव नहीं होना चाहिए। जीवन में प्रत्येक स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के अतिरिक्त बाहर से मिलने वाले प्रेम के भी प्रार्थी है। स्नेह और वात्सल्य के अतिरिक्त उनमें रागात्मक भाव की ओर भी उन्मुखता होती है। यह जीवन का सत्य है, सत्य को छिपाकर छल से कोई आदर्श साधना नहीं हो सकती। जैनेन्द्र के अनुसार समाज के नियम समय-सापेक्ष होते हैं।^१ सत्य के मार्ग में सदाचार बाधक नहीं बन सकता। सत्य को दृष्टि में रखते हुए सदाचार का रूप भी परिवर्तित होना आवश्यक है।

जैनेन्द्र वैवाहिक जीवन में प्रेम को अनैतिक कृत्य नहीं मानते। वे निःसंकोच रूप से अपनी समस्त कहानियों और उपन्यासों में ऐसी विचारधारा

१ 'सामाजिक मर्यादा सत्य की साधना की राह में आप ही बनती है। आशय कि समाज की मर्यादा स्वयं स्थिर नहीं है, विकासशील है। सदाचार में आचार को पीछे मानिए, सत् पहले है। सत् के अनुसन्धान में आचार को आगे बढ़ते ही जाना है। इस तरह रूढ़ सदाचार और सजीव सदाचार में हर कार्य में कुछ अन्तर देखा जा सकता है।'

को आधार बनाकर चले हैं। उनकी दृष्टि में वैवाहिक जीवन में प्रेम सम्बन्ध की स्वीकृति से सामाजिक-मर्यादा भंग नहीं होती।^१ वे आदर्श नारी की परिकल्पना को किसी स्पष्ट मर्यादा-रेखा पर आधारित नहीं करते। इस सम्बन्ध में सामाजिक हस्तक्षेप को भी वे उचित नहीं समझते। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार मर्यादा का प्रश्न केवल वैवाहिक जीवन की स्वीकृति तक ही सीमित होता है। प्रेम मर्यादा के बंधन से मुक्त है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में 'विवाह सामाजिक सस्था है, उससे परिवार बनता है। उसे केवल दो का निजी सम्बन्ध समझना और उस आधार पर विवाह को स्थापित करना गलत होगा। क्योंकि तब उसकी पूर्णता सामाजिक न होकर कामुक होगी।'^२ पति-पत्नी का सामाजिक होना आवश्यक है। देश, समाज और राष्ट्र के प्रति भी उनका कुछ कर्तव्य है जिसे घर की दीवारों से बाहर आकर ही पूर्ण कर सकते हैं। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'विवाह दायित्व लाता है और प्रेम मुक्त है।'^३ उस पर जिम्मेदारी नहीं आनी चाहिए। जैनेन्द्र की विवाह और प्रेम सम्बन्धी परिकल्पना 'विवर्त' में ही सफल हो सकी है। वहा विवाह और प्रेम समानान्तर रूप से चलते हैं। दोनों सम्बन्धों में प्रेम और आदर का भाव विद्यमान रहता है। प्रेमी और पति को लेकर मानसिक तनाव की स्थिति नहीं उत्पन्न होती। पति आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध तथा सुशिक्षित और निश्चक प्रकृति के हैं। इसीलिए पति की ओर से कोई दबाव नहीं उत्पन्न होता है। भुवन-मोहिनी और जितेन के प्रेम सम्बन्धों के कारण परिवार पर कोई आच नहीं आती। जितेन की प्रेम-भावना अतृप्ति के कारण क्रान्ति में स्थानान्तरित हो जाती है। जितेन की समस्त विस्फोटक क्रियाएँ अप्राप्ति में ही उद्भूत होती हैं, किन्तु उन समस्त क्रियाओं का भुवनमोहिनी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह जितेन की विवशता को जानते हुए उसके प्रति अगाध स्नेह रखती है। जैनेन्द्र का लक्ष्य विवाह में प्रेम द्वारा स्वस्थ वातावरण को उद्भूत करना है। वे पति-पत्नी की निकटता के लिए बाहर से आने वाले प्रेम को आवश्यक समझते हैं। राधा-कृष्ण और मीरा के जीवनादर्श की ओर इंगित करते हुए यह मानते हैं कि विवाह और प्रेम में, पति-पत्नी के मध्य आदर का भाव कम नहीं होता। मीरा राणा से घृणा नहीं करती, वह उनके द्वारा दिए गए सभी पदार्थों का

१ 'विवाह के अतिरिक्त समाज की मर्यादा दूसरी और क्या है ?'

—जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० ११०।

२ जैनेन्द्र कुमार 'काम प्रेम और परिवार', पृ० स० १६।

३ जैनेन्द्र कुमार 'इतस्तत्', पृ० स० ३५।

हार्दिक श्रद्धा के साथ उपभोग करती है, किन्तु मीरा और राधा असामान्य आदर्श है। सामान्य जीवन में उनके आदर्शों की परिकल्पना सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि मीरा जीवनपर्यन्त कृष्ण की दीवानी रहती है। उसके जीवन में परिवार का कोई स्थान नहीं रह जाता। जैनेन्द्र के पात्र भी अपने प्रेम के कारण ही विवाह से प्राप्त होने वाली विषम स्थितियों को सहर्ष ही भेलते हैं। 'सुनीता' में वीरान जंगल में जब सुनीता हरिप्रसन्न के समक्ष पूर्ण-समर्पण करने के बाद लौटती है तो उनका मन शान्त रहता है। वह पुनः अपने परिवार में सुख-शान्ति का वातावरण उद्भूत करने में सक्षम होती है। सुनीता में जैनेन्द्र का आदर्श अपनी पूर्णता में परिलक्षित होता है। किन्तु राधा और मीरा के जीवन के साथ सुनीता के जीवन में समता नहीं दिखायी जा सकती। राधा और मीरा में अतृप्ति नहीं है। वे स्वेच्छा से कृष्ण के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण करती हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों का द्वन्द्व केवल प्रेम को लेकर ही नहीं उत्पन्न होता, उसमें 'घर-बाहर' के मध्य असन्तुलन की स्थिति ही विशेषतः खटकती है। उन्होंने विवाह में प्रेम को दो-चार स्थलों में ही घटित होते हुए नहीं दर्शाया है, वरन् उनका समस्त कथा-साहित्य इसी धुरी पर आधारित है। उनके अनुसार 'पति-पत्नी में प्रेमी-प्रेमिका समाप्त नहीं हो सकते। अलग से उन्हें होना ही है। दोनों का होना बन्द नहीं होने वाला।'^१

जैनेन्द्र की विवाह और प्रेम सम्बन्धी विचारधारा समसामयिक अधिकांश लेखकों में दृष्टिगत होती है।^२ सुप्रसिद्ध विद्वान हैबलाक एलिस इस सम्बन्ध में यह स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि—'हर पुरुष और स्त्रियों में दूसरे व्यक्तियों के प्रति कमोवेश कामात्मक रूप में अतिरजित स्नेह रहने की क्षमता होती है। चाहे वह व्यक्ति अपनी केन्द्रीय स्नेह के प्रति कितना ही एकगामी हो।'^३ एलिस के अनुसार दाम्पत्य जीवन में प्रारम्भ में सब कुछ अज्ञात रहता है। अतः धीरे-धीरे पति-पत्नी के मध्य स्नेहपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकता है और उनका बाहरी खिचाव कम हो जाता है।

वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार—'विवाह जीवन को विस्तार देता है, परिधीय केन्द्र नहीं देता। विवाह द्वारा हम अपने प्रेम का विस्तार करने का अवकाश

१. जैनेन्द्र कुमार 'इतस्ततः', पृ० स० ६८।

२. रामेश्वर शुक्ल 'उत्का' हिन्दी प्रचारक, पृ० स० १८५।

तथा अज्ञेय 'नदी के द्वीप में'।

३. हैबलाक एलिस 'यौन मनोविज्ञान', पृ० २७०।

पाते हैं। यदि विवाह प्रेम को घेरने वाली चीज हो जाय तो परिवार जेल है। स्वत्वमूलक परिवार जकड़बन्द बन जाता है। उसमें जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु विवाह द्वारा प्रेम बन्द नहीं होता, वरन् फैलने के लिए केन्द्र प्राप्त कर लेता है, तभी उसकी सार्थकता है।^१

जैनेन्द्र का विश्वास है कि घर में प्रेम आतिथ्य के रूप में आता है। जिस प्रकार अतिथि का सत्कार गृहस्वामी और गृहस्वामिनी का धर्म है इसी प्रकार बाहर से आए हुए प्रेम की स्वीकृति भी उनका धर्म है। स्वीकृति में तिरस्कार की भावना नहीं बढ़ती, वरन् जीवन में सहजता का समावेश होता है और पारस्परिक तनाव नहीं बढ़ पाता। प्रायः देखा जाता है कि परिवार में बाहर से आने वाले व्यक्ति पर बहुत कड़ी दृष्टि रखी जाती है, जिससे सहजता दबाव के कारण व्यभिचार में परिणत हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार परस्पर विश्वास रहने के कारण आने-जाने वालों को बुरा नहीं लगता और परिवार का स्वास्थ्य बना रहता है। अविश्वास में छल और कपट की भावना पैदा होती है। उस स्थिति में व्यभिचार की ओर अभिमुखता बनी रहती है। जैनेन्द्र के अनुसार विवाह में बाहर अनुपस्थित रहे तो जीवन उदासीन हो जाता है। जहाँ प्रवेश निषिद्ध है, वहाँ उत्कर्ष नहीं। घर की सार्थकता बाहर बढ़ने के लिए सुविधा देने में है। जैनेन्द्र की उपरोक्त मान्यता उनके सम्पूर्ण साहित्य में दृष्टिगत होती है। जहाँ कहीं परिवार टूटता है अथवा निर्बल प्रतीत होता है, उसके मूल में शका जन्य अवरोध ही विद्यमान है। जैनेन्द्र का यह विश्वास है कि समाज की मर्यादा-रेखा किसी विशिष्ट स्थान या स्थिति पर खिंची हुई नहीं मानी जा सकती। उनके अनुसार—‘मर्यादा की रक्षा (सामाजिकता की) और सार्थकता (प्रेम की)—इससे सिद्ध होती है जहाँ इन दोनों का समन्वय बैठता हो वही मर्यादा की रेखा है। यदि सुरक्षा या सार्थकता अकेले चले तो असंगति और असन्तुलन उत्पन्न हो जाएगा और उच्छृंखलता आ जाएगी।’^२ जैनेन्द्र के अनुसार मर्यादा और प्रेम के बीच छल के प्रवेश से मर्यादा की सुरक्षा नहीं हो सकती। वस्तुतः जैनेन्द्र प्रथम लेखक है, जिन्होंने सामाजिक नियम, मान्यताओं का ध्यान रखते हुए भी जीवन में प्रेम को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। उनका विचार सामाजिक मान्यताओं को खण्डित करना नहीं है। आधुनिक लेखकों के सदृश प्रचलित मान्यताओं को उखाड़ फेंकना वे उचित नहीं समझते। उन्होंने नवीनता के पोषण हेतु कोई कदम नहीं उठाया। उनके जीवन और

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

साहित्य का एकमात्र लक्ष्य सत्य का उद्घाटन करना है। जैनेन्द्र का साहित्य समाज का ही दर्पण नहीं है, वरन् वह व्यक्ति जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को उभारने में भी सहायक है।

परिवर्तनशील मान्यताएँ

समाज में रहकर उसकी मर्यादाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु उनकी दृष्टि में सामाजिक नियम भी पत्थर की रेखा नहीं हैं। जीवन परिवर्तनशील है। अतएव सामाजिक नियमों का भी परिवर्तनीय होना आवश्यक है। अन्यथा 'प्रगति' शब्द निरर्थक ही प्रतीत होगा। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। अतएव उस पर समाज की मर्यादाओं का लागू होना सगत है किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत नहीं आता।^१ वे समाज की मर्यादाओं को अन्तिम वस्तु नहीं मानते। उनकी ऐसी धारणा है कि 'स्व' से मुक्त होकर ही व्यक्ति अथवा समाज की प्रगति सम्भव हो सकती है। प्रेम के मार्ग में जो लोग समस्त बन्धनों की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, वे ही कालान्तर में पूज्य बन जाते हैं। इस दृष्टि से मीरा का आदर्श स्पष्ट प्रमाण है। मीरा यदि प्रारम्भिक बाधाओं से विचलित होकर प्रेम से विमुख हो जाती तो आज वह इतनी मान्य नहीं हो सकती थी। जैनेन्द्र के जीवन और साहित्य का मूल स्वर प्रेम होने के कारण, किसी भी स्थिति में अस्वीकार्य नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार समाज में नैतिकता की जो दुहाई दी जाती है, वह केवल ऊपर से थोपी हुई मान्यता है। उनकी दृष्टि में सच्ची नैतिकता तो परस्पर के विश्वास में से फलित होती है। विवाह के वर्तमान रूप में सारा ध्यान विवाहेत्तर सम्बन्धों पर इतना केन्द्रित रहता है कि व्यभिचार कहकर हम उसी की दुहाई देते रह जाते हैं और समाज के शरीर में विवाह की रूढ़ प्रणाली से रोग के गहरे कीटाणुओं की ओर से विमुख बने रहते हैं। विवाह के नीचे कितना सड़ाध, कलुष और मालिन्य उपजता और जमा होकर रोग उत्पन्न करता है, इसका हम लेखा-जोखा ही नहीं लेते।^२ ऐसी स्थिति में भी हम ऊपर से सामाजिक बने रहने का गर्व करते हैं। वस्तुतः ऐसे मोटापे से क्या लाभ जो शरीर के रोग को छिपाए हुए हो। वास्तविकता यही है कि आज का समाज ऊपरी मर्यादा और आदर्श का चोला पहने हुए भीतर कालिमा से लिपटा है। अतएव यदि साहित्यकार उस कलुष के उक्त की ओर ध्यान केन्द्रित करता है

१ जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० १४३।

२. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

तो समस्या का निदान बाहर नहीं ढूँढना पड़ेगा ।

जैनेन्द्र के अनुसार 'संस्कृति स्वीकार पूर्वक ही प्रकृति को संस्कार दे सकती है, उसका इकार नहीं कर सकती । कामाकर्षण सर्वत्र व्याप्त है । नर-नारी योग पर सृष्टि टिकी है । क्यों न कहा जाय कि ब्रह्माण्ड टिका है, कारण, वह आकर्षण चर में ही नहीं, अचर में भी व्याप्त है ।'^१

जैनेन्द्र के अनुसार सम्बन्ध के विस्तार में पत्नी का सतीत्व भग नहीं होता वरन् और भी पुष्ट होता है । यही कारण है कि वे सती को पत्नी से अधिक महानता प्रदान करते हैं । उनकी दृष्टि में सती विसर्जिता है और पत्नी केवल विवाहिता । अगर विवाहित होकर पत्नी विसर्जिता न हो जो कि सम्भाव्य ही नहीं, बल्कि अह है, तो सतीत्व से वह पत्नीत्व उल्टा पड़ता है । जब कि जैनेन्द्र के अनुसार बिना विवाह के एक कुमारी भी प्रेम में किसी के प्रति विसर्जिता होकर आदर्श सती हो जाती है । जिन सतियों का पुराणों में माहात्म्य है वे पत्नी की परिभाषा पर खरी उतरने वाली हैं । राधा सती-शिरोमणि समझी जाती है, पर कृष्ण के कारण, जो उनके विवाहित पति नहीं थे । वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में पत्नी सामाजिक होती है और सती आध्यात्मिक ।^२

प्रेम-विवाह

जैनेन्द्र प्रेम और विवाह को समानान्तर रूप से स्वीकार करते हुए भी प्रेम-विवाह के पक्ष में नहीं है । उन्होंने अपने कथा-साहित्य में प्रेम-विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया है । यद्यपि प्रेममूलक स्वतन्त्रता को देखते हुए उनका यह दृष्टिकोण असंगत-सा प्रतीत होता है । जैनेन्द्र के अनुसार विवाह सामाजिक संस्कार है, अतः उसमें समझौते के हेतु अवकाश रहता है । प्रेम विवाह व्यक्ति और समाज दोनों दृष्टियों से हानिप्रद है । उनके विचार में विवाह जैसा पवित्र संस्कार माता-पिता के आदेशानुसार ही सम्पन्न होना चाहिए ।^३ प्रेम-विवाह आवेग और भावावेश की स्थिति में ही होता है । उस समय विवेक बुद्धि कार्य नहीं करती । प्रेम मुक्त होता है । वह दायित्व नहीं ग्रहण करता किन्तु

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित) ।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार ।

३ 'विवाह में प्रेम का आग्रह इतना अनिवार्य नहीं, जितना माता-पिता, गुरुजन, बन्धु-बाधव का संयोग और आशीर्वाद ।

जब प्रेम को विवाह में आबद्ध कर दिया जाता है तो उसमें पारस्परिक सोहार्द से अधिक तनाव की सम्भावना रहती है। गृहस्थी यथार्थ जगत की घटना है। प्रेम अतीन्द्रिय तथा आत्मलोक की अभिव्यक्ति है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यवस्थित विवाह में पारस्परिक तनाव होने पर भी एक-दूसरे के प्रति धृणा और तिरस्कार की भावना नहीं उत्पन्न होती। 'प्यार का तर्क' कहानी में उन्होंने प्रेम-विवाह का पूर्ण निषेध किया है। इस कहानी में उन्होंने प्रेम विवाह सम्बन्धी विचारों को बहुत स्पष्टता के साथ वर्णित किया है। जैनेन्द्र के अनुसार प्राप्ति की कामना में प्रेम का पोषण नहीं होता। प्रेम में त्याग अनिवार्य है। प्रेम-पात्र से दूरी होने पर भी आत्मिक स्तर पर मिलन-सुख का-सा आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु प्रेम में वैवाहिक बन्धन उत्पन्न करने से धृणा अथवा तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जो कि असह्यनीय है। प्रेम के अभाव में जीवन किसी प्रकार सम्भव हो सकता है, किन्तु धृणा व्यक्ति के पारस्परिक स्नेह और प्रेम को सदैव के लिए विनष्ट कर देती है। विवाह रुमानी प्रेम पर नहीं टिक सकता। 'जिस प्रेम पर विवाह सचमुच टिका रह सकता है, वह व्यक्ति प्रेम नहीं, धर्म प्रेम होता है। वह कर्तव्य के नाते प्रेम होता है, रूप के नाते प्रेम नहीं हुआ करता।'^१

जैनेन्द्र विवाह के सम्बन्ध में पुरुषार्थ स अधिक भाग्य को महत्वपूर्ण मानते हैं। भाग्य के निर्णय पर व्यक्ति सन्तुष्ट रहता है, उसमें द्वन्द्व या आग्रह की स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती। पुरुषार्थ में व्यक्ति का अह प्रबल रहता है और दोनों ओर से आग्रह होने के कारण जीवन तनावपूर्ण तथा असंतोषजनक स्थिति से गुजरता है। जैनेन्द्र विवाह के हेतु स्वयं वर के चुनाव को उचित नहीं मानते। वे विवाह में धार्मिक वृत्ति को आवश्यक समझते हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में प्रेम-विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकृति नहीं मिल सकी है।^२ उनके उपन्यासों में प्रेम-सम्बन्ध अधिकांशतः विवाह के बाद ही दृष्टिगत होता है। 'विवर्त' में विवाह के पूर्व ही प्रेम सबध की परिकल्पना की गयी है, किन्तु प्रेम-विवाह सम्भव नहीं हो सका है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम जीवन का अनिवार्य अंग है। प्रेम के अभाव में जीवन जड़वत्

१. जैनेन्द्र कुमार 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० स० १६६।

२. 'अपने को लेकर स्त्री या पुरुष को विवाह के क्षेत्र में साथी चुनने के लिए निकल जाना पड़े, इस अवस्था को मैं बहुत उन्नत सामाजिक व्यवस्था नहीं मानता।'।

—जैनेन्द्रकुमार . 'प्रश्न और प्रश्न', १६६२, प्र० स०, पृ० १६८-६९।

हो जाता है, किन्तु प्रेम-विवाह द्वारा प्रेम में उत्सर्ग के स्थान पर दायित्व का भाव बढ जाता है। व्यवस्थित विवाह के पश्चात् भी प्रेम स्थायी रहता है वस्तुतः 'जैनेन्द्र' ने प्रेम के स्थायित्व के हेतु प्रेम-विवाह का निषेध किया है। 'त्यागपत्र' में मृणाल का प्रेम-विवाह सम्भव नहीं हो सका है। मृणाल सामाजिक मर्यादा को स्थायी रखते हुए भी अपने अन्तस् के प्रेम को विनष्ट नहीं होने देती। उसके हृदय में अपने प्रेमी पात्र के प्रति घृणा की भावना नहीं जाग्रत होती।

जैनेन्द्र के पात्र जीवनपर्यन्त भाग्य के थपेड़े खाते हुए भी विवाह के दायित्व को सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। वैवाहिक जीवन चाहे कितना भी कष्टमय क्यों न हो जाय किन्तु वे अपने आदर्श से विचलित नहीं होते। 'त्रिवेणी' में प्रेम-विवाह सम्भव न हो सकने के कारण त्रिवेणी का जीवन बहुत खिन्नतापूर्वक व्यतीत होता रहता है। विवाह के बाद भी उसका प्रेम विनष्ट नहीं होता। घर पर प्रेमी के आने से उसकी सारी मन स्थिति अभिभूत हो उठती। इसमें प्रेम की पीडा से छुटकारा नहीं चाहा गया है। प्रेम वात्सल्य में परिणत होकर सारा-का-सारा अभाव भाव से भर देता है। त्रिवेणी की भुङ्गलाहट उसकी विपन्नता की ओर भी इंगित करती है। निष्कर्षतः जैनेन्द्र की दृष्टि में प्रेम विवाह उचित नहीं है किन्तु विवाह के बाद भी प्रेम बना ही रहता है। प्रेम को जीवित बनाए रखने के लिए दूरी आवश्यक प्रतीत होती है। एलिस महोदय भी प्रेम-विवाह के पक्ष में नहीं हैं। जैनेन्द्र के विचारों से उनमें स्पष्टतः साम्य दृष्टिगत होता है। उन्होंने प्रेम-विवाह के निषेध के हेतु समाज तथा परिवार की ओर से उत्पन्न होने वाली बाधाओं को आवश्यक माना है।^१ जैनेन्द्र के विचारों पर भारतीय सस्कृति का भी प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार विवाह को भोग में ही सीमित कर देना अनिष्टकर है।^२

विवाह विच्छेद

जैनेन्द्र ने जिस प्रकार प्रेम-विवाह को अस्वीकार किया है, उसी प्रकार विवाह-विच्छेद (तलाक) का भी पूर्ण निषेध किया है। जैनेन्द्र ने सामाजिक-समस्याओं को आध्यात्मिक स्तर पर सुलझाने का प्रयास किया है। पति-पत्नी का सम्बन्ध सामाजिक है, किन्तु बाह्य-स्थूलता में गर्भित सूक्ष्मता व्यक्ति की आत्मता का क्रोध कराती है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से न अच्छा है और न

१ हैबलाक एलिस 'यौन मनोविज्ञान', प्र० स०, पृ० स० २५५।

२ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ७, पृ० स० १६५।

ही बुरा है।^१ स्त्री-पुरुष भी परस्पर दोषपूर्ण हैं। यदि एक-दूसरे के दोषों को देखकर सम्बन्ध विच्छेद की घटना घटित होती है तो उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष, सदोष है, अतएव समाज और परिवार में समझौते के बिना एक पग भी नहीं चला जा सकता।

जैनेन्द्र पति-पत्नी के आजन्म सम्बन्ध विच्छेद को उचित नहीं मानते। उनके अनुसार किन्हीं विषम परिस्थितियों में पति-पत्नी का साथ रहना पारस्परिक सहानुभूति को पूर्णतया विनष्ट करने वाला हो जाता है, तब उन्हें कुछ काल तक एक दूसरे से अलग रहना चाहिए। अलग रहने में पारस्परिक सहृदयता पूर्णतया विनष्ट नहीं होती, केवल वैचारिक तनाव बना रहता है। तनाव में दूरी उपयुक्त है किन्तु सम्बन्ध तोड़ देने से भविष्य में प्रेम की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र का प्रमुख सिद्धान्त प्रेम को स्थायी रखना है। उनके अनुसार साहित्य का मूल स्वर प्रेम है। अप्रेम में वे सुखी जीवन की कल्पना ही नहीं करते। 'विच्छेद' कहानी में उन्होंने वैवाहिक जीवन में उत्पन्न होने वाले तनाव से बचने के लिए समझौते को आवश्यक माना है। वस्तुतः जैनेन्द्र के पात्रों को वैवाहिक जीवन में चाहे कितना ही कष्ट क्यों न सहना पड़े किन्तु वे कानूनी रूप से सबधविच्छेद नहीं करते। व्यक्तिगत सम्बन्धों में कानून को लाकर वे परस्पर की निष्ठा को विनिष्ट करना श्रेयस्कर नहीं समझते। कभी-कभी विवाह उनके समक्ष विवशता बन जाता है, किन्तु वे अपने आदर्शों से विचलित नहीं होते। यही कारण है कि उनकी प्रेमिकाएँ पति के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव नहीं रख पाती। उनके पति-पात्र भी अधिकांशतः बहुत नम्र हैं। वे आन्तरिक पीड़ा की पूजा को सजोए हुए सारा जीवन व्यतीत कर सकते हैं, किन्तु सम्बन्धविच्छेद की कल्पना भी नहीं करते।^१ 'सुखदा' में पति-पत्नी एक दूसरे से दूर चले जाते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धविच्छेद नहीं करते। ऐसी स्थिति में उनके हृदय का प्रेम समाप्त नहीं होता, वरन् प्रायश्चित्त में परिणत होकर और भी सघन हो जाता है। 'त्यागपत्र' में मृगाल सम्बन्ध-विच्छेद को आवश्यक नहीं समझती। पति के द्वारा घर से निकाल दिए जाने

१ 'मेरा मानना है कि दुनिया में कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं हुए जो एक-दूसरे के लिए जनमे कहे जा सकें। खिचाव और तनाव तो स्त्री-पुरुष में प्रकट और सहज है। सामन्जस्य इसलिए सहज नहीं है, उसे साधना होता है। उसके लिए समय और अभ्यास की आवश्यकता है।'।

पर ही वह बाहर जाती है। वस्तुतः विच्छेद स्वयं में श्रेयष्कर नहीं है।

अन्तर्जातीय विवाह

जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में प्रेम और विवाह को लेकर ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह का सामाजिक दृष्टि से निषेध नहीं किया है। जैनेन्द्र की समस्त रचनाओं में जातिवाद को लेकर कोई समस्या ही नहीं उत्पन्न होती। उन्होंने कहीं भी यह नहीं प्रकट किया है कि जाति-भेद के कारण विवाह सम्भव नहीं हो सकता। विवाह के सम्बन्ध में उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को पूर्णतः स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने जाति-भेद की समस्या को अपनी रचनाओं में गम्भीरता से विवेचित नहीं किया है। 'कल्याणी' में उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह के कारण होने वाले लाभ पर भी प्रकाश डाला है। वस्तुतः जैनेन्द्र छूत-अछूत, नीच-ऊँच आदि के प्रश्न को लेकर सहज रूप से ही निर्मूल सिद्ध कर देते हैं। जिस प्रकार उन्होंने अपने साहित्य में जाति-भेद के प्रश्न को सामान्य समझकर छोड़ दिया है, उसी प्रकार समाज के अछूत वर्ग पर भी अलग से विचार नहीं किया है। सत्यता यह है कि वे व्यक्ति को मात्र 'व्यक्ति' के रूप में ही समझने का प्रयास करते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में जाति-भेद अथवा ऊँच-नीच का भेद विशेष महत्व नहीं रखता।

काम भावना

'सृष्टि के मूल में' 'काम' है। सृष्टि ईश्वर की कामना का ही परिणाम है। ससार स्त्री-पुरुषमय है। उनके मध्य आकर्षण का केन्द्र काम-भावना ही है। एकाकी जीवनयापन की कल्पना निराधार है। जैनेन्द्र के अनुसार अकेलापन घेर लेता है तभी काम उससे उद्धार करने के लिए आता है। काम जीवन का अनिवार्य सत्य है। मानव जीवन की पूर्णता चार पुरुषार्थ, अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति में ही सम्भव है। जैनेन्द्र के अनुसार मोक्षरूपी मजिल धर्मपूर्वक अर्थ और काम के मार्ग से गुजर कर ही प्राप्त हो सकती है। यद्यपि शुकदेव जैसे अपवाद शास्त्रों में अवश्य मिलते हैं, जो बाल-ब्रह्मचारी रहकर मोक्षोन्मुख हुए किन्तु सामान्यतः इस जीवन में काम की उपेक्षा नहीं कर सकते। जैनेन्द्र के साहित्य में काम द्वारा भोगोन्मुखता को प्रश्रय न मिल कर उसके प्रेममूलक रूप को ही स्वीकार किया गया है। प्रेम में आत्मदान के साथ शरीर-दान भी अनिवार्य ही नहीं, स्वाभाविक भी है। जैनेन्द्र के साहित्य में 'प्रेम' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। अपनी

समग्रता में प्रेम में काम वर्जित नहीं है। राधा और मीरा के आदर्श को ही उन्होंने प्रपने साहित्य में विशेषतः स्वीकार किया है। राधा-कृष्ण और मीरा भारतीय साहित्य ही नहीं, जीवन के ऐसे दो असामान्य और चिरन्तन आदर्श हैं, जिनके प्रेम के सम्बन्ध में शका का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके वैवाहिक जीवन में भी प्रेम अपनी चरम सीमा पर आरूढ़ था। राधा और मीरा के प्रेम में इन्द्रिय-उपेक्षा नहीं है, वरन् उनमें अतीन्द्रियता दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार अतीन्द्रियता इन्द्रियों की सम्पूर्ण स्वीकृति में ही सम्भव हो सकती है। व्यक्ति इन्द्रियमार्ग से इतना परे चला जाए कि उसे स्थूल इन्द्रियगत आकर्षण का बोध ही न रह जाय। अतीन्द्रियता का बोध आत्मतत्त्व में लीन होकर ही सम्भव हो सकता है। 'काम' इन्द्रियगत चेष्टा है, वह प्रेम का ही अंग है। सामान्यतः काम के सम्बन्ध में अत्यन्त ही अप्राकृतिक तथा अस्वास्थ्यकर दृष्टिकोण प्रचलित रहा है। यही कारण है कि काम प्रवृत्ति अवदमित होती रहती है। नदी के प्रकृत प्रवाह के सदृश काम भावना का सहज प्रवाह हानिप्रद नहीं हो पाता, किन्तु बधे हुए जल के सदृश अवदमित काम वासना सहज मार्ग को छोड़कर विकृत रूप में प्रकट होती है। उस समय उसका स्वरूप विस्फोटक और विध्वसात्मक हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति में अनेक शारीरिक विकृतियाँ तथा मनोविकार उत्पन्न हो जाते हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में काम के सहज प्रवाह को ही स्वीकार किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने 'काम' के प्रति हमारे दृष्टिकोण को स्वस्थ बनाने का प्रयास किया है। साहित्य और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों में व्यक्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक युग में साहित्य पर मनोविज्ञान का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है। पात्रों की समस्या सामाजिक से अधिक व्यक्तिगत और मनोग्रस्त है। उपन्यासकार जैनेन्द्र के सम्बन्ध में प्रायः यही धारणा प्रचलित है कि उनकी रचनाएँ कामप्रधान तथा असामाजिक हैं। यह सत्य है कि जैनेन्द्र ही प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने जीवन के उपेक्षित पक्ष को निःसंकोच रूप से समाज के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है। बर्टेण्ड रसेल के अनुसार 'इस जमाने में दो प्रभावशाली विचार वाले लोग हैं, उसमें से एक प्रत्येक बात को आर्थिक सूत्र से प्राप्त करते हैं, दूसरा प्रत्येक बात को मैथुनात्मक सूत्र से प्राप्त करता है। इनमें से पहला मार्क्स का विचार है और दूसरा फ्रायड का।'^१ जैनेन्द्र अर्थ और काम दोनों में से किसी को अन्तिम नहीं मानते। अर्थ और काम तो जीवन की समानान्तर

रेखाएँ हैं, जिनके मध्य जीवन-यात्रा संभव होती है। जैनेन्द्र फ्रायड की भाँति काम को भौतिक और दैहिक स्तर पर स्वीकार नहीं करते, वरन् उन्होंने काम को आध्यात्मिक स्तर पर भी स्वीकार करके सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने का प्रयास किया है। उन्होंने सृष्टि के मूल में भी ईश्वरीय शक्ति की कल्पना की है। जैनेन्द्र के अनुसार सम्भोग की स्थिति में स्त्री-पुरुष इतने अहशून्य हो जाते हैं कि उन्हें अपने अस्तित्व का भी बोध नहीं रहता। उस स्थिति में सृष्टि सम्भवतः ईश्वरीय शक्ति का परिणाम प्रतीत होती है।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में त्रास की चरम स्थिति ही परमानन्द की अवस्था है। परमानन्द ब्रह्मानन्द से परे कुछ नहीं है।^२

फ्रायड के अनुसार सेक्स वह चीज है जिसमें लिंग-भेद, आनन्दजनक, उत्तेजना और परितुष्टि, प्रजनन कार्य, अनुचित की धारणा और छिपाने की आवश्यकता सम्बन्धी सब बातें इकट्ठी आ जाती हैं। जैनेन्द्र ने सेक्स को मात्र भोगाकाक्षा के रूप में ही स्वीकार नहीं किया है। उनके समक्ष अर्ध-नारीश्वर का भाव ही वह मूल सूत्र है, जिससे स्त्री-पुरुष परस्पर बंधे हैं। उनके आकर्षण के मूल में निज की अपूर्णता ही विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। स्त्री और पुरुष दोनों अपने में अपूर्ण हैं। वे एक-दूसरे में अपने अभाव की ही सम्पूर्ति नहीं करते, वरन् वे पूर्णतया एकमेक होकर अपने अह को विगलित करते हैं। उन्होंने अपनी अर्धनारीश्वर सम्बन्धी धारणा को मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और अध्यात्मवाद के आधार पर प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का एकाकीपन दुसह हो उठता है। काम में स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे में खो जाने के हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार जो अधूरा है, वह तृष्णार्त है, जो पूरा है, अर्थात् जिस समर्पण में अपना कुछ भी बचाकर नहीं रखा गया है, अपना अंग तक भी नहीं वह यथार्थ है। पवित्रता के लिए वह आदर्श बनता है।^३ जैनेन्द्र ने फ्रायड के सदृश काम को शरीर की भूख के रूप में अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने उसे केवल शरीर के स्तर तक ही सीमित नहीं रखा है। उनकी दृष्टि में काम भावना वह केन्द्र है, जिसमें व्यक्ति का अहभाव विसर्जित होते हुए दृष्टिगत होता है। अहविसर्जन ही जैनेन्द्र के साहित्य और जीवन का मूल तत्त्व है। जैनेन्द्र ने कामभावना में शारीरिक से अधिक आत्मिक स्थिति को स्वीकार किया है। काम भावना यदि शरीर तक ही केन्द्रित रहे तो उसमें

१ जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० सं० ११६।

२ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

३ जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० सं० ३३।

तृप्ति की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। जब वह शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होती है, तभी उसमें विरिक्त और सन्तुष्टि की भावना जाग्रत होती है। जैनेन्द्र की भोग में योगदृष्टि खोजने का एकमात्र यही आधार है, जो उनकी प्रेम और काम सम्बन्धी विचारधारा को महिमान्वित करता है। उनकी दृष्टि में... 'अकेलेपन को लेकर व्यक्ति चलता है और उस भेट को किसी की गोद में डालकर मानो सास और जीवन पा जाता है। यह मानवीय परस्परता अनिवार्य है। यह अकेलापन हो नहीं सकता कि वह दुकेलेपन को न ढूँढे।' जीवन में काम की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए जैनेन्द्र ने साहित्य में भी उसकी अपेक्षा स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में 'अगर जीवन में से सेक्स को बाहर निकाला जा सकता तो साहित्य, जीवन मर्म की शोध में सृष्टि पाता है, जो जीवन के प्रतिफल में सुन्दर, सुभग और समृद्ध करता है, वही उसको वहिष्करणीय कैसे मान सकता है?' उनका साहित्य इसी सत्य की स्वीकृति में फलित हुआ है। 'एक रात', 'रत्न प्रभा', 'निर्मम', 'राजीव' और 'भाभी' आदि कहानियों में उन्होंने स्त्री-पुरुष के निर्व्यक्तिक सम्बन्ध को ही स्वीकार किया है। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार काम को वासना मानने में घबडाने की जरूरत नहीं है। इसीलिए शब्द से आशय इतना ही लेना चाहिए कि वहाँ ठहरना नहीं है।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में देह रहते वासना से छुटकारा नहीं हो सकता। साराशत जैनेन्द्र की यह मान्यता है कि वासना या कामना हमको अन्य के प्रति उन्मुक्त करती है या अपने-आप में इस अर्थ में अभीष्ट ही है कि वह हमको अपने अह के व्रत से बाहर लाती और सम्बद्धता में विस्तृत करती है।^२ जैनेन्द्र उपरोक्त सम्बद्धता को व्यक्ति के हित के लिए आवश्यक मानते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार 'पर' की स्वीकृति में सामाजिकता स्वयं ही गर्भित है।

जैनेन्द्र ने काम को 'यज्ञ' के रूप में स्वीकार किया है। 'काम में व्यक्ति झपट कर भोग लेना चाहता है, यज्ञ में कहीं बिछकर मिट जाना चाहता है।'^३ भोग में योग का भाव भोग के समस्त अभावों को दूर कर देता है। 'सुनीता' तथा 'एक रात' आदि उपन्यास तथा कहानियों में आत्मतुष्टि के अनन्तर एक-दूसरे से दूर रहने में उन्हें शान्ति ही मिलती है। कामजन्य छटपटाहट समाप्त हो जाती है। इसलिए जैनेन्द्र ने कामचर्या को ब्रह्मचर्या के रूप में स्वीकार

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

२ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

४ जैनेन्द्र कुमार 'काम प्रेम और परिवार', पृ० १२३-२४।

किया है, क्योंकि उस अवस्था में व्यक्ति की अहर्चर्या पूर्णतः विनष्ट हो जाती है। 'कामसूत्र' में आचार्य वात्सायन ने काम-सकल्प के भौतिक महत्व की अपेक्षा पारमार्थिक महत्व को प्रधान बताया है। उनके अनुसार वास्तविक सुखानुभूति का सम्बन्ध न तो इन्द्रियो से है और न मन से है, वरन् आत्मा से है। इस प्रकार वे 'काम' में भौतिक जीवन की पूर्ति के साथ-साथ पारमार्थिक जीवन की उन्नति का स्रोत भी देखते हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध लिगत्व शून्य

जैनेन्द्र की अर्द्धनारीश्वर सम्बन्धी विचारधारा पर आचार्य वात्सायन के विचारों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री की और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष की सत्ता सतत् विद्यमान रहती है। वात्सायन की दृष्टि में यही बात ऋग्वेद के 'अस्य भावीय सूक्त' में इस प्रकार कही गई है कि जिन्हे पुरुष कहते हैं, वस्तुतः वे स्त्रियाँ हैं। 'सांख्यदर्शन' में इस द्वन्द्व को गुण-क्षोभ कहा गया है। जैनेन्द्र भी स्वीकार करते हैं कि 'हरेक में स्त्री-पुरुषत्व दोनों रहते हैं नितान्त स्त्री और नितान्त पुरुष व्यक्तित्व पाता ही नहीं।' उन्होंने स्त्री-पुरुष के विशुद्ध पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया है, ऐसी स्थिति में स्त्री-पुरुष के मिलन में लिगत्व-भेद को मिटाकर अतीन्द्रियता की प्राप्ति की कामना विद्यमान रहती है। जैनेन्द्र के कतिपय आलोचक, जिनकी उपरोक्त लिगहीन विचारधारा को नपुंसकता का द्योतक बताते हैं।^१ जैनेन्द्र के साहित्य में लिगहीनता को सामान्य अर्थों में नहीं ग्रहण किया गया है। उनके साहित्य में लिगहीनता एक प्रतीतिमात्र है। उस प्रतीति को नपुंसकता से जोड़ना सगत नहीं है। उनकी दृष्टि में लिगहीनता की प्रतीति शरीर पर व्यान केन्द्रित रखते हुए नहीं हो सकती। उसके लिए व्यक्ति की आत्मोन्मुखता अनिवार्य है। 'जयवर्द्धन' में काम द्वारा अकाम की ओर उन्मुखता के दर्शन होते हैं। जय के विचारों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि 'कामचेष्टा के अभयन्तर में जो अनिवार्य, आकुल आत्मचेष्टा है, वही उसका सार और रहस्य है।' काम के क्षय के लिए जय आत्मोन्मुखता को अनिवार्य मानता है। उनकी दृष्टि में आत्मा में होकर पुरुष पुरुषातीत भी हो जाता है। उस अवस्था में वह स्त्री से भिन्न नहीं रहता है। आत्मा में लिगत्व नहीं है। भेद नहीं है, 'स्व' पर भेद

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० ६२८।

२ जैनेन्द्र कुमार प्रतिनिधि कहानियाँ, स० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० ३७१।

तक नहीं है।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषातीत अवस्था में पुरुष में स्त्रीत्व स्वयं गर्भित हो जाता है और यही स्थिति स्त्री में भी होती है। इस प्रकार जैनेन्द्र की दृष्टि में लिंगहीनता नपुंसकता की पर्याय नहीं प्रतीत होती है। जैनेन्द्र ने लिंगहीनता को व्यक्तित्व की समग्रता के अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने महत् आदर्श को लिंग की उभयता के पार देखने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र की दृष्टि में यह आदर्श असामाजिक और अप्राकृतिक न होकर अत्यन्त ही व्यावहारिक है। प्रत्येक स्थिति में अपने पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व के प्रदर्शन में से व्यक्तित्व का छिछलापन ही प्रकट होता है। जैनेन्द्र की कहानियों में अधिकांशतः यही स्थित दृष्टिगत होती है, जब कि उनके पात्र समर्पण द्वारा नितान्त अह-शून्य हो जाते हैं और उन्हें अपने स्त्रीत्व अथवा पौरुष का ही बोध नहीं रहता। वे कालखण्ड से ऊपर, भौतिक द्वैत से परे अद्वैत की अनुभूति करते हैं। वस्तुतः स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में कामभावना स्वतः ही तिरोहित हो जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'काम' अकेलेपन को खोने की औषधि के रूप में आता है और रोग वह नहीं है*। काम में प्रेम द्वारा द्वैत को अभेदत्व की ओर उन्मुखता प्राप्त होती है।^२

नैतिकता

जीवन में काम को अस्वीकार करके ब्रह्मचर्य की साधना करना भी व्यक्ति का धर्म तथा अहंकार है। सत्य की शक्ति के कारण ही मन का भूठ पराजित हो जाता है और व्यक्ति को टूटना पड़ता है। 'अकेला' शीर्षक कहानी में साधु ब्रह्मचर्य की कामना करने वाला व्यक्ति स्वयं को धोखा नहीं दे पाता है और कहता है, 'अकेला मैं नहीं रह सकता, प्रिये। अकेला रहना मेरे लिए अधर्म है।' जैनेन्द्र के अनुसार भूठ के डडे पर चढ़कर समाज में ऊँचा उठने से अच्छा है, मन के सत्य को स्वीकार करके स्वयं को समर्पित कर देना, क्योंकि सत्य बाह्य आचरण में ही नहीं, अन्तस् और बाह्य की समग्रता में ही सम्भव है।

जैनेन्द्र की कतिपय कहानियों पर असामाजिकता और अनैतिकता का दोषारोपण किया जाता है इस दृष्टि से उनकी 'वि-ज्ञान' कहानी विशेष रूप से चर्चित रही है। यह कहानी साहित्य-जगत् में अत्यधिक वाद-विवाद का विषय रही है। 'वि-ज्ञान' में स्थूलतः ऐसा प्रतीत होता है, मानो लेखक ऐसी काल-

१. जैनेन्द्र कुमार, 'जयवर्धन', पृ० ३२४।

२. लव मेक्स वन आफ दू वृट्ज विटेल्स क्रिटिक आफ लव,' प्र० स०, लन्दन, १९३०, पृ० २५६।

गर्ल्स तैयार करने के पक्ष में है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो सकती है। इस प्रकार जैनेन्द्र पर सामाजिक मर्यादाओं को भंग करने तथा भ्रष्टाचार को बढ़ाने वाली संस्थाओं को प्रोत्साहित करने का आरोपण लगाया जाता है। इस दृष्टि से तो जैनेन्द्र के सम्बन्ध में हमारी पूर्वोक्त सारी परिकल्पना उल्टी होने लगती है। क्योंकि 'वि-ज्ञान' कहानी में नारी की पीड़ा को मूल में न लेकर उसके शरीर को ही मुख्याधार बनाया गया है। शरीर की साधना में मन अपने को पूर्णतः तटस्थ रखता है। किन्तु क्या तन और मन कभी अलग हो सकते हैं? तन और मन के द्वैत के कारण ही काम और प्रेम की समस्या उत्पन्न होती है। यदि शरीर और मन एक-दूसरे के पूरक रहे तो अतः प्रेम ही विजयी होगा। तन उस पर हावी नहीं हो सकेगा। 'विज्ञान' में मन के ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। किन्तु सच्ची ब्रह्मचर्य-साधना एक को ग्रहण करने और दूसरे को त्यागने में पूर्ण नहीं हो सकती। इस प्रकार समाज में व्यभिचार फैलने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए शुन्य ब्रह्मचर्य साधना व्यक्तित्व की क्षतिग्रस्तता की ही परिचायक है। इस दृष्टि से काल-गर्ल्स की शरीर-साधना अतः कोई महत्व नहीं रखती।

यह सत्य है कि प्राचीनकाल से ही नारी अपने रूपाकर्षण द्वारा राष्ट्र-सेवा के हेतु प्रस्तुत रही है। रामायणकालीन मधुर भाषिणी वेश्याएँ प्रायः सेना के साथ रहती थीं, वही प्रायः दूतों का कार्य भी करती थीं, किन्तु उस समय भी स्त्री के शरीर की ऐसी नाप-जोख भी होती थी, जैसी कि वैज्ञानिक वृत्ति के प्रभाव के कारण 'वि-ज्ञान' कहानी में दृष्टिगत होती है। प्रभावहीन काम की कल्पना अप्राकृतिक है। कालगर्ल्स के लिए जिस ब्रह्मचर्य की कल्पना की गई है, वह अत्यधिक दुष्कर है। स्त्री निरी वस्तु नहीं बन सकती, क्योंकि उसके पास केवल शरीर ही नहीं है, हृदय भी है। यह सम्भव हो सकता है कि वह आत्मा की पिपासा को शान्त करने के लिए स्वयं को किसी के समक्ष समर्पित कर दे।

उपरोक्त विवेचन में 'वि-ज्ञान' कहानी के मूल में निहित स्त्री की ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की योजना की निस्सारता ही मुखरित होती है और अन्त में कहानी में सेक्रेटरी द्वारा सत्य प्रकट हुए बिना नहीं रह पाता, क्योंकि उसकी दृष्टि में स्त्री केवल प्रयोजनवती ही नहीं होती, उसकी अर्थवत्ता प्रयोजन से परे है। सैक्रेटरी श्री एक्स० की ओर इंगित करते हुए कहता है कि—'क्या आपके जीवन में स्त्री प्रयोजन से अधिक बढ़कर कोई आई ही नहीं?' इस प्रश्न के उत्तर में श्री एक्स का यह कथन कि 'धन्यवाद, तुम जा सकते हो। क्योंकि मैं भी इस बारे में चुप रहूँगा। अतीत को काटकर मैं

अपने से अलग फेक चुका हूँ।^१ ***उनकी भुझलाहट तथा अपने ऊपर डाले गए अप्राकृतिक दबाव की ओर इंगित करता है। इससे स्पष्ट है कि उनकी प्रक्रिया सहज न होकर उनके रूग्ण मन की ही परिचायक है।

वस्तुतः जैनेन्द्र की 'वि-ज्ञान' कहानी में रूग्ण मानसिकता ही दृष्टिगत होती है। जितनी वैज्ञानिक वृत्ति दृष्टिगत होती है, उसमें प्रतिक्रिया ही है, सत्य नहीं है। इस कहानी में प्रकृत मनुष्य क्षतिग्रस्त होता है, जो क्षतिग्रस्त है, वह निश्चय ही पूर्ण नहीं है। जैनेन्द्र की दृष्टि में विज्ञान और वैज्ञानिक वृत्ति अपने में परिपूर्ण नहीं है। उसमें संवेदना और मनुष्यता के संपर्श की आवश्यकता बनी ही रहती है। यही कारण है कि अन्त में ब्रह्मचर्य का ढोंग टूटता है और सत्य प्रकट हो जाता है।^२ वस्तुतः जैनेन्द्र ने काम की चर्चा करते हुए उसके मूल में स्नेह की स्निग्धता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। 'विज्ञान' कहानी में लेखक के विचार कहानी की घटनाओं में नहीं प्राप्त होते हैं। लेखक की दृष्टि कहानी से तटस्थ होकर देखने पर ही प्राप्त होती है। वस्तुतः जैनेन्द्र पर अनैतिकता अथवा असामाजिकता के प्रसार का आरोपण मिथ्या प्रतीत होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में सत्य पर ही नैतिकता का मानदण्ड निर्धारित किया जा सकता है। भूठ में ही पाप पलता है।

जैनेन्द्र ने अपने एक नवीनतम निबन्ध 'कला और अश्लीलता' में सत्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि सत्य को संस्कृति की मर्यादा में ही विवेचित किया जा सकता है। उनके अनुसार सत्य प्रकृति तक ही नहीं है, संस्कृति में भी व्याप्त है। 'संस्कृति' शब्द में प्रकृति का ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं है, बल्कि उसके संस्कार की अनिवार्यता का भी संकेत है।^३ जैनेन्द्र के साहित्य ने सत्य का नग्न प्रदर्शन वही तक स्वीकार है, जहाँ तक कि उसमें असत्य अथवा मिथ्याचार का मिश्रण नहीं है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के सत्य और कला के सत्य में अन्तर है। समाज में जो मर्यादा होनी चाहिए वह कला में उसी रूप में उपयुक्त नहीं की जा सकती। उसमें बन्धन ढीला करना कला की दृष्टि से अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने 'धर्माभिमुख कला को ही छूट

१. जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', प्र० स०, भाग ६, पृ० स० ११२।

२. उपरोक्त विचार जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त हुए। उनके विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे 'वि-ज्ञान' कहानी में नारी शरीर को लेकर अभिव्यक्त वैज्ञानिक-वृत्ति के पक्ष में नहीं है।

३. जैनेन्द्र कुमार 'कला और अश्लीलता,' (प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दुस्तान), ८ नवम्बर १९७० ई०, पृ० स० ७।

की अविकारणी माना है।^१ उनके अनुसार दिगम्बरत्व का आदर्श भी धर्मोन्मुख होने के कारण ही स्वीकार्य हो पाता है। वस्तुतः जैनेन्द्र कला के धर्म-युक्त रूप को स्वीकार करते हैं, किन्तु सत्य यह है कि धर्म की ओट में ही समाज में नाना व्यभिचार होते रहते हैं। धार्मिक मठों के अधिष्ठाता, धर्मगुरु आदि धर्म के नाम पर समाज के वातावरण को दूषित करने में सहायक होते हैं। अतएव कला की धर्मोन्मुखता में पवित्रता की भावना होना निश्चित नहीं है। धर्म से विमुख होकर कोई रचना कर सकता है, ऐसी स्थिति में समाज द्वारा कलाकार की स्वतन्त्रता पर दबाव नहीं डाला जा सकता, किन्तु कलाकार की अमुक कृति को अमान्य ठहराया जा सकता है।^२ इस प्रकार जैनेन्द्र कलाकार की स्वतन्त्रता को स्थायी रखते हुए भी समाज की मर्यादा की रक्षा पर विशेष बल देते हैं। समाज के नैतिक स्वास्थ्य की रक्षा के हेतु वे कवि अथवा लेखक की रचना की महत्ता का स्वरूप निर्णय समाज पर ही छोड़ देते हैं।

जैनेन्द्र की नैतिकता का मानदण्ड बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। सामान्यतः नैतिकता को स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में सीमित रखा जाता है।^३ किन्तु जैनेन्द्र इस रूढ़ि से आगे बढ़ कर नैतिकता को जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में पारिवारिक नैतिकता व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है। सामाजिक और राष्ट्रीय नैतिकता ही व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। मर्यादा के घेरे में আবদ্ধ व्यक्ति 'पर' की ओर उन्मुख नहीं हो पाता। 'अनन्तर' में एक स्थान पर सकेत किया गया है कि समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को बहुत ही भयावह बना दिया है। 'अनन्तर' में स्त्री के समग्र समर्पण से भयभीत 'प्रसाद' का मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण बहुत ही स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया गया है। सहज और अनायास रूप से सम्पन्न कार्य को अनैतिक नहीं कहा जा सकता। 'अनन्तर' में अपरा की सहजता के समक्ष प्रसाद का असहज होना ही उसके मन की दुर्बलता की ओर सकेत करता है।

१ जैनेन्द्रकुमार 'कला और अश्लीलता', पृ० स० ७।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कला और अश्लीलता', पृ० स० ७।

(क) 'स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध वह नहीं है, जिस पर नीति या धर्म को खड़ा होना चाहिए।'।

जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ५, पृ० स० ४२।

(ख) 'आदमी आदमी के बीच जिसने शका पैदा कर दी है, उसे, नैतिकता कहते हैं।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ६१।

जैनेन्द्र के अनुसार हमारी नैतिक मान्यताएँ व्यक्ति के स्वास्थ्य से अधिक समाज की व्यवस्था पर आधारित हैं। किन्तु इस प्रकार व्यभिचार दूर होने के स्थान पर और भी पुष्ट होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में अनैतिकता का मूल कारण प्रेम के निषेध में ही फलित होता है। प्रेम का अविश्वास करने और उसके प्रकट सचरण के मार्ग में अवरोध लाने के कारण ही समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसीलिए वे स्वीकार करते हैं कि—‘हमारी नैतिक धारणाएँ साहस और श्रद्धा के स्पर्श से ज्वलन्त हो और केवल वे समाज व्यवस्था की चिन्ता से त्रस्त, भीत और कातर न हों।’^१ उनकी दृष्टि में वह सब आचार व्यभिचार है, जो हार्दिक नहीं है और जिसमें भय सचय है। वस्तुतः जैनेन्द्र उस आचरण को ही नैतिक मानते हैं, जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा की जाती है तथा अर्थ और पदलोलुपता ही प्रधान होती है।

वेश्यावृत्ति

सामान्यतः वेश्या बनी नारी को कामुकता की प्रतिमा माना जाता है, मानो स्त्री स्वेच्छा से ही यह कलक ग्रपने ललाट पर लगाती है। यदि ‘वेश्या’ शब्द तक ही सीमित रहता तो वह व्यक्तिगत समझा भी जा सकता था, किन्तु साथ जुड़े हुए ‘वृत्ति’ शब्द से वेश्यावृत्ति की सामाजिकता का बोध होता है। जैनेन्द्र वेश्यावृत्ति के मूल में स्त्री को दोषी न मानकर पुरुष को ही दोषी स्वीकार करते हैं। पुरुषों में भी वेश्या की ओर तभी उन्मुखता हुई है, जब कि उनके पास अर्थ विद्यमान रहता है। जैनेन्द्र के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में नर और नारी दो ही थे। समाज में वेश्या को स्थान तो अर्थवृद्धि होने पर ही आरम्भ हुआ था।^२ वे वेश्यावृत्ति के मूल में अर्थासक्ति को साध्य तथा काम-वृत्ति को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। जैनेन्द्र ने समाज में फैली हुई ऐसी वेश्या-संस्थाओं पर प्रकाश डाला है, जिनके संस्थापकों को भोगवृत्ति के प्रति अनिच्छा होती है, किन्तु संस्था के द्वारा अधिक-से-अधिक धनोपार्जन की ओर उनकी दृष्टि केन्द्रित रहती है। इस प्रकार समाज से वेश्यावृत्ति का

१ जैनेन्द्रकुमार ‘समय, समस्या और सिद्धान्त’, (अप्रकाशित)

२ ‘वेश्या पैसे के आरम्भ से पहले ही नहीं सकती’...उत्तर और कीमत देकर जब भोग के लिए नारी को प्राप्त करते हैं, तभी तो उसे वेश्या कहते हैं। कीमत पैसे के रूप में चुकाने की विधि ही न हो, तो वेश्या की स्थिति नहीं बन सकती।’

उन्मूलन बहुत कठिन प्रतीत होता है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार—‘वेश्या वह नहीं है जो अनेक को प्रेम करती है। वेश्या वह है, जो पैसे के एवज-मे अपने को देती है।’^२ इन शब्दों द्वारा जैनेन्द्र ने वेश्या सम्बन्धी गम्भीर सत्य की ओर इंगित किया है। सामान्यतः वेश्या को अनेक पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करने के कारण ही हेय माना जाता है। किन्तु वेश्यावृत्ति के मूल में निहित नारी की विवशता की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। वह अर्थ के लिए अपने को देती है। वेश्यावृत्ति के सदर्थ में चर्चा करते हुए ज्ञात होता है कि पुरुष की कामुकता ही नारी को विवश बनाती है। जैनेन्द्र वेश्या को किसी भी शर्त पर अमान्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यदि समाज वेश्या को हेय मानता है तो वैश्य क्यों सम्माननीय हो सकता है? वैश्य की अर्थलोलुपता वेश्या से कहीं अधिक घातक है। क्योंकि वेश्यावृत्ति का स्वरूप तो समाज में प्रकट है, किन्तु वैश्य तो सामाजिक दृष्टि से सम्माननीय बनकर समाज के शरीर में भूठ, चोरी और बेईमानी का घातक विष फैलाता है।^३ वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में वेश्यावृत्ति की जड़ में शुद्ध अर्थासक्ति विद्यमान रहती है।

वेश्यावृत्ति पूजावादी नीति का ही परिणाम है। भारत में ही नहीं, ग्रीक, बेबीलोन तथा रोम में यह वृत्ति प्राचीनकाल से चली आ रही है। श्री आर्नर के अनुसार वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण समाज में व्याप्त गरीबी है।^४ उनके अनुसार पति भी पत्नी को बहुकेन्द्रित होने के लिए विवश कर देते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में वेश्यावृत्ति का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है, उसके मूल में गरीबी ही विद्यमान है। निर्धनता के कारण वेश्या बनी नारी समाज से तिरस्कृत होकर अपने पति की आर्थिक सहायता करती है। ‘अधे का भेद’ शीर्षक कहानी में अधा भिखारी गली-गली गाकर भीख मागत है और उसकी पत्नी परिवार से दूर समाज के कीचड़ में पड़ी गृहस्थी बगो चलाने

- १ ‘लेकिन अर्थ-व्यापार के विचार से अलग वेश्या के प्रश्न का विचार पल्लवग्राही होगा, यथा मूलग्राही नहीं होगा, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।’

—जैनेन्द्रकुमार ‘समय और हम’, पृ० स० ३४७।

- २ जैनेन्द्रकुमार ‘समय और हम’, पृ० स० ३५१।

- ३ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचारों पर आधारित।

- ४ ‘पावरटी इज वन आफ द मेन रीजन ह्वाई सो मेनी गर्ल्स एण्ड बीमेन बीकेम प्रास्टीच्यट्’ आर्नर ‘एलिमेण्ट्स आफ सोशलिज्म’, न्यूयार्क।

के लिए धनोपार्जन करती है। वह अपने हाथों से अपने पति की आखें फोड़ देती है, जिससे वह उसके कुकर्मों को देखकर दुखी न हो। उसकी आत्मा पतित नहीं होती। किन्तु बाह्य रूप में वह जो कुछ भी करती है, किसी तरह ही सहन करती है। जैनेन्द्र ने अपनी इस कहानी में वेश्या नारी का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह मर्मातिमर्म को छू लेता है। वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में वेश्या समाज-उपेक्षिता बनकर भी सहानुभूति की प्रार्थिनी बनी रहती है। 'बिखरी' कहानी में पत्नी निर्धनता के कारण स्वयं को ऐसी सस्था से सम्बद्ध कर देती है, जिसका लक्ष्य उसके माध्यम से अर्थोपार्जन करना है। 'त्यागपत्र' में मृणाल सामाजिक मर्यादा की सुरक्षा के हेतु स्वयं को समाज के उस उपेक्षित स्थान में ले जाती है, जहां मानव जीवन की समस्त संवेदना तथा पारस्परिक सहानुभूति पूर्णतः समाप्त हो जाती है। नारी केवल जडपदार्थ के रूप में उपभोग्य बन जाती है। 'त्यागपत्र' में मृणाल निर्धनता के कारण भी समाज के उस दलित स्थल को स्वीकार नहीं करती, वरन् स्वयं को समाज से दूर रखकर समाज की व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करती है। वस्तुतः जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में नारी अधिकांशतः अर्थासक्ति के कारण ही वेश्यावृत्ति स्वीकार करती है। जैनेन्द्र अतः वेश्यावृत्ति के उन्मूलन का कोई निदान प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। 'त्यागपत्र' की समस्या इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तुतः जैनेन्द्र सुधार के पक्ष में नहीं प्रतीत होते। उनकी दृष्टि में सामाजिक-सुधार के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की मनोवृत्ति में सुधार किया जाय।

समाज में स्त्री का स्थान

जैनेन्द्र के साहित्य में जहां स्त्री-पुरुष को उनके प्रकृत अर्थात् निर्व्यक्तिक रूप में स्वीकार किया गया है, वहां जैनेन्द्र के विचारों की मौलिकता तथा नवीनता स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। किन्तु नारी को व्यक्तित्व प्रदान करते हुए उन्होंने उसके स्वरूप को राजनीति, समाज, परिवार आदि विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में विभिन्न रूपों में देखा है।

जैनेन्द्र के साहित्य का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि उनके नारी पात्र अत्यन्त स्वतन्त्र विचारों के हैं। उनमें भारतीय सस्कृति और मर्यादा की चेतना नहीं है, किन्तु सत्यता यह है कि जैनेन्द्र के पात्र भूत का स्पर्श करते हुए भी वर्तमान में जीते हैं। अपनी सस्कृति की वे कभी भी उपेक्षा नहीं करते। भौतिकता के युग में सामान्यतः स्त्री-पुरुष में होड़ लगी हुई है। स्त्री पुरुष से आगे बढ़ने के लिए तत्पर है किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री की पुरुष से

प्रतिस्पर्द्धा उचित नहीं है।^१ उनकी दृष्टि में स्त्रियों के नौकरी करने का लक्ष्य स्वतन्त्रता और नौकरशाही का न होकर सहयोग का होना चाहिए। जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री पुरुष की होड़ में आगे नहीं बढ़ सकती, वरन् इस प्रकार लड़-खड़ा सकती है कि उसकी प्रगति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाय। जैनेन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में स्त्री पात्रों में विवाह के घरे से बाहर उन्मुक्त रूप-से सास लेने की कामना है, किन्तु सार्वजनिक क्षेत्रों में वे पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं हैं। 'सुखदा' में सुखदा घर से बाहर निकलने पर स्वयं में एक हीनता का अनुभव करती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि घर से बाहर राजनीति में आकर उसने अपनी मर्यादा को भंग किया है। जैनेन्द्र के नारी पात्र सार्वजनिक क्षेत्रों में एक कुण्ठा लिए हुए ही अवतरित होते हैं। उनके मन की ग्रन्थि ही उन्हें राजनीति में प्रवेश करने को विवश करती है।

जैनेन्द्र ने सामाजिक सन्दर्भ में अति स्वातन्त्र्य का विरोध किया है, किन्तु पारिवारिक स्तर पर पत्नी की दासता का निषेध किया है। 'सुखदा', 'सुनीता', 'विवर्त' आदि उपन्यास उनका यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है। 'कल्याणी' तथा 'सुखदा' में उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति नहीं है। पूजावादी विचारक जड़ पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अन्य भौतिक पदार्थों के सदृश स्त्री की भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैनेन्द्र के साहित्य में स्त्री-स्वातन्त्र्य की कामना क्रान्ति-कारी रूप में व्यक्त हुई है, किन्तु समाज की मर्यादा से बंधी नारी कभी भी सामाजिक सीमा का उल्लंघन नहीं कर पाती। जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्वतन्त्रता का जो रूप दृष्टिगत होता है, वह केवल प्रेम के सम्बन्ध में व्यक्त हुआ है। प्रेम से इतर जीवन सभी दृष्टियों से मर्यादित है। 'त्यागपत्र', 'परख' आदि में जीवन का जो आदर्श व्यक्त हुआ है, वह सामाजिक मर्यादा का पोषक ही है। जैनेन्द्र के अनुसार स्त्री का राजनीति में प्रवेश उचित नहीं है। उनकी दृष्टि में स्त्री-प्रेम और प्रेरणा की मूर्ति है, प्रेम शक्ति है। प्रेमिका बनकर वह पुरुष को प्रगति की ओर अग्रसर करती है। 'मुक्तिबोध' में उन्होंने राजनीति में प्रवेश

१ 'स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता की चाह को उचित नहीं मानता। स्त्री पुरुष के भी स्नेह-भावना की जगह हिसाबी बुद्धि आ जाय तो जीवन लाभ की दृष्टि से उसमें कोई उन्नति नहीं कह सकूंगा'।

करने वाली स्त्री को अभागिन तक कहा है।^१ स्त्री का राजनीति में प्रवेश वही तक स्वीकार है, जहाँ तक कि वह पति अथवा प्रेमी की प्रेरणा स्रोत बनी रहती है। 'निर्मम' में प्रेम के वशीभूत हुई नारी अपने समर्पण से शिवा के प्रति अपने प्रेम को स्थायित्व प्रदान करती है। 'ध्रुव-यात्रा' में लेखक ने प्रेम और कर्त्तव्य का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया है। प्रेमिका प्रेमी को गृहस्थी के बन्धनों में बाधकर उसकी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध नहीं करती। वरन् स्वयं कष्ट भेलते हुए आगे बढ़ने का सद्बुद्धि देती है।^२ पुरुष के जीवन में कुछ महत्वाकांक्षाएँ होती हैं। स्त्री उनकी पूर्ति में सहायक होती है। 'मुक्तिबोध' में नीलिमा कहती है—'आदमी सपने के लिए जीता है और औरत उस सपने के आदमी के लिए जीती है।'^३ 'जयवर्धन' में इला प्रतिक्षण जय के साथ रहती हुई भी राजनीतिक परिवेश में उसके साथ कदम मिलाकर नहीं चलती, वह जय के साथ रहती है, परन्तु अन्तर्निहित हार्दिकता अथवा आत्मता की भाँति ही, उसका बाह्य और सक्रिय रूप तो जय स्वयं होता है। जैनेन्द्र की अर्ध नारीश्वर की भावना भी स्त्री पुरुष के इस अन्तर्निष्ठ और बहिर्निष्ठ व्यक्तित्व में सदा ही समाहित हो जाती है।

जैनेन्द्र ने स्त्री के मातृत्व रूप को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है। प्रेमिका होने के साथ ही साथ वह माता भी है। दोनों भागों से वह प्रेम और स्नेह की वृष्टि करती है। आधुनिक सभ्यता में आर्थिक विवशता के कारण माता घर से बाहर कमाने के हेतु जाती है। इस प्रकार वह अपने मातृत्व के कर्त्तव्य को पूर्ण नहीं कर पाती। यही कारण है कि जैनेन्द्र स्त्री का घर से बाहर आर्थिक क्षेत्र में पुरुष की सहगामिनी के रूप में आना उचित नहीं मानते।^४ उनकी दृष्टि

१ (क) 'अभागिन है वह स्त्री जो स्त्री है और राजनीति में आती है या उसका विचार भी करती है।' —जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ६२।

(ख) 'राजनीति स्त्रियों के लिए नहीं है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० २७५।

२ 'मेरी और बच्चों की चिन्ता जरूर तुम्हारा काम नहीं है। मैंने कितनी बार तुमसे कहा कि तुम उससे ज्यादा के लिए हो।'

—जैनेन्द्रकुमार 'ध्रुवयात्रा', पृ० स० ६४।

३. जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० ६३।

४ 'मैं नहीं चाहूँगा कि माता कमाने के लिए दफ्तर में जाय और धाय काम करने के लिए बच्चों को अपना दूध पिलाने आय।'

—जैनेन्द्रकुमार 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० स० १५१।

मे 'स्त्री की सार्थकता मातृत्व है। मातृत्व दायित्व है। वह स्वतन्त्रता नहीं है। स्त्री निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है, तो उसके मूल में यही अभिलाषा है कि माता बनने से वह बची रहे और पुरुष के प्रति उसका प्रेयसी रूप ही प्रतिष्ठित रहे।' वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में स्त्री मातृत्व से बचकर स्वयं में अपूर्ण रहती है। जैनेन्द्र की कहानियों में मातृत्व की प्रबल आकांक्षा दृष्टिगत होती है। पति का अतिशय प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करके भी नारी स्वयं में अभावग्रस्त रहती है। मातृत्व में ही उसकी पूर्ति निहित है, जो कोरे प्यार में उपलब्ध नहीं हो पाती। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' और 'मास्टर जी' में नारी की विक्षुब्धता वात्सल्य भाव की पूर्ति के अभाव के कारण ही प्रकट हुई है। मातृत्व के साथ ही जैनेन्द्र की कहानियों में वात्सल्य भाव की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से उनकी कई कहानियों—'फोटोग्राफी', आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वस्तुतः जैनेन्द्र ने व्यक्ति और समाज के विविध पक्षों को साहित्य में अपने विचारों और आदर्शों की छाया में विवेचित किया है।

जैनेन्द्र और व्यक्ति

जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति

जैनेन्द्र-साहित्य मानव-जीवन और व्यक्ति की समस्याओं का अमित भंडार है। मानव विराट् अखण्ड ब्रह्म का अंश है। अहं ब्रह्म का अंश रूप है। अहं का साकार प्रतिनिधित्व, व्यक्ति के द्वारा ही होता है, क्योंकि अहं भावना है, उसका आधेय व्यक्ति ही है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु ईश्वर का अस्तित्व भी जीव के द्वारा ही चरितार्थ होता है। व्यक्ति है, अतएव उसमें अपने अखण्ड रूप को जानने की जिज्ञासा भी अनिवार्य है। व्यक्ति अपूर्ण है, ब्रह्म पूर्ण और अखण्ड है। व्यक्ति को केन्द्र में स्थित करके ही जीवन की बहुमुखी धारा विकसित होती है। जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य व्यक्ति की व्यथा से अपूर्ण है। व्यक्ति की आत्मा में भाककर उसके आत्मस्थ सत्यो का उद्घाटन तथा अन्त बहिर्द्वन्द्व से उत्पन्न विषम परिस्थितियों को चित्रित करना ही उन्हें श्रेयकर रहा है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति ही वह आधार-बिन्दु है, जिसपर समस्त जीवन की भीति आरुढ़ है। जो समष्टि में है, वही व्यष्टि में है। अतएव जैनेन्द्र के साहित्य में व्यष्टि द्वारा समष्टि की अर्थात् समस्त मानव जाति के सान्निध्य की प्राप्ति का प्रयास दृष्टिगत होता है।

जैनेन्द्र व्यक्तिवादी साहित्यकार है। जैनेन्द्र से पूर्व प्रेमचन्द के उपन्यास समाज की समस्याओं को ही आधार बनाकर लिखे गए हैं। व्यक्ति और व्यक्ति-जीवन के द्वन्द्वों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके उपन्यासों में व्यक्ति की अपेक्षा घटना का प्राधान्य था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मनो-

विज्ञान के विकास के साथ-साथ व्यक्ति का महत्व बढ़ता गया । मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के आन्तरिक संघर्ष को समझने की चेष्टा की गई है । व्यक्ति का बाह्यरूप ही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक नहीं है । जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में व्यक्ति के समग्र रूप की अभिव्यक्ति की है । अचेतन मन अथवा अन्तर्निष्ठ चेतना व्यक्ति के समस्त व्यवहारों की नियामक है । जैनेन्द्र के अनुसार अचेतन मन व्यक्ति की कुत्साओं और जुगुप्साओं का केन्द्र न होकर, उसकी अभीप्साओं का स्रोत है । जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति के अन्तर्तम सत्यो की स्पष्टतम अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है । उनके साहित्य में व्यक्ति जीवन का वही रूप दृष्टिगत होता है, जैसा कि हम व्यावहारिक जीवन में देखते और विचार करते हैं । व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति सत्यता पर आवरण डालकर अपने हृदय रूप को ही व्यक्त करता है, जिससे उसका वास्तविक रूप प्रकट नहीं हो पाता । साहित्य का कार्य व्यक्ति की अन्तर्निहित सत्यता का उद्घाटन करना है । व्यक्ति समाज में अपने गुण-दोष में व्यक्तित्व को प्रकट करने में सकोच करता है । वह अपने आचरणों को बहुत ही संशोधित तथा आदर्श रूप में व्यक्त करता है । किन्तु व्यक्ति का जीवन निर्दोष नहीं है । वह सद्-असद् गुणों का मिश्रण है । जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति में राग, द्वेष, प्रेम और घृणा आदि मानवीय भावनाओं का होना स्वाभाविक ही है । उनके साहित्य में अभिव्यक्त, व्यक्ति न देवता है और न ही पशु है । वह तो निरा व्यक्ति है । व्यक्ति का आदर्श पशुत्व से उठकर देवत्व की प्राप्ति की ओर उन्मुख होना है । व्यक्ति के सम्बन्ध में जैनेन्द्र की दृष्टि नितान्त अछूती और सहजता की परिचायक है । उनकी दृष्टि में व्यक्ति सदैव उर्ध्वता की ओर उन्मुख है । वह न तो आदर्श की सीमा में आबद्ध होकर जड़ित और चेतन शून्य है और न ही पाशविक प्रवृत्तियों से युक्त दानव है । मनुष्य देवता और दानव के बीच की स्थिति है ।

जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति के स्वरूप समाज में उसके अस्तित्व, तथा उसकी अन्तर्निष्ठ भावनाओं का पूर्ण प्रकाशन दृष्टिगत होता है । जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति के यथार्थ जीवन का बिम्ब ही नहीं प्रस्तुत किया गया है, वरन् उनमें व्यक्ति के आदर्शमय जीवन की सम्भावनाओं की ओर भी लक्ष्य किया गया है । उनके साहित्य में व्यक्ति यथार्थ और आदर्श की पूर्ण इकाई है । जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ जगत के व्यक्ति हैं, पुराण पुरुष नहीं हैं । उनकी जिन कहानियों का विषय पौराणिक है, उनमें भी मानवीय भावों और कृत्यों का उद्घाटन किया गया है । अहर्निष्ठ देवत्व में आत्मसमर्पण के भावों की प्रेरणा जाग्रत की गई है । उनकी दृष्टि में मनुष्य देवताओं से भी ऊपर है, क्योंकि उसकी सम्भावनाएं अनन्त हैं । आत्मदास द्वारा वह स्वर्ग के राज्य को भी तुच्छ सिद्ध कर सकता

है। जैनेन्द्र के पात्रों की अतिशय सहजता पाठक के भावों और विचारों के साथ साधारणीकरण करने में समर्थ होती है। प्रेमचन्द के पात्रों का जीवन आदर्श की सीमा में आबद्ध है। उनके व्यक्ति पात्र निर्दिष्ट आदर्शों का ही अनुसरण करते हैं। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' में तुलसीदास कभी यह नहीं भूल पाते कि-'राम भगवान हैं' उसी प्रकार प्रेमचन्द के पात्र भी अपने आदर्शों की लक्ष्मण-रेखा पार करने का साहस नहीं करते, यदि उनसे कभी ऐसी त्रुटि हो जाती है तो वे आत्महत्या करके अथवा शहीद होकर प्रायश्चित्त के लिए तत्पर रहते हैं। मानव जीवन निर्रे आदर्शों की निश्चेष्ट प्रतिमूर्ति नहीं है। यथार्थता से हटकर बनने वाला आदर्श नितान्त अप्राकृतिक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र आदर्श के लोभ में व्यक्ति-जीवन की सम्भावनाओं का दमन नहीं करते और न ही पूर्व नियोजित आदर्शों की सीमा में परिबद्ध होकर उनके व्यक्ति पात्र जीवन की सहजता और यथार्थता का निषेध ही करते हैं। प्रेमचन्द के पात्रों का आदर्श महत्वपूर्ण होता है। किन्तु उनकी महत्ता मानव जीवन के अन्त द्वन्द्व का समाधान नहीं प्रस्तुत करती। साहित्य का उद्देश्य आदर्श की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु आदर्श की प्राप्ति यथार्थ की भूमि पर ही सम्भव हो सकती है। प्रेमचन्द ने समाज की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उनका लक्ष्य व्यक्ति के बहिर्जगत को रूपायित करना है, जैनेन्द्र का आदर्श अन्त जगत से सम्बद्ध है।

व्यक्तिवादी जैनेन्द्र

जैनेन्द्र व्यक्तिवादी उपन्यासकार है, किन्तु उनकी व्यक्तिवादिता हठवाद को प्रश्रय नहीं देती। वे व्यक्ति के हितार्थ समाज का अहित नहीं सहन कर सकते। वृहद्तर स्वार्थ के हेतु लघुतर हित का त्याग (समर्पण) ही उनके साहित्य का परम आदर्श है। उनका व्यक्ति अहनिष्ठ अथवा अहकारी नहीं है। उनके अन्तस् में स्वत्व के समर्पण का भाव निहित है। वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में व्यष्टि की स्वीकृति द्वारा समष्टि की उपेक्षा नहीं की गयी है, वरन् व्यष्टि द्वारा समष्टि की ओर उन्मुख होने की चेष्टा सतत् दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र की व्यक्तिवादी दृष्टि साहित्य में प्रचलित पूँजीवादी व्यक्तिवाद से नितान्त भिन्न है। सन् १८५० के बाद से हिन्दी में एक महान् परिवर्तन होने लगा था। प्रथम महायुद्ध के बाद परिवर्तन का एक दौर पूरा हो गया। उस युग में देश की आर्थिक परिस्थितियों के कारण जो विद्रोह उत्पन्न हुआ वह धर्म, दर्शन, समाज, नीति और राजनीति आदि द्वारा विभिन्न रूप धारण करके व्यक्त हुआ। 'यह विद्रोह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठते हुए

पूजीवाद का विद्रोह था । भारत में पूजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और साहित्य में व्यक्तिवादी भावनाएँ ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं ।^१ उपरोक्त व्यक्तिवादी विचारधारा का अभ्युदय सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण हुआ था किन्तु जैनेन्द्र की व्यक्तिवादी दृष्टि साहित्यिक-स्तर पर स्वीकृत है । साहित्य में बाह्य जीवन और घटनाओं का चित्रण अधिक होने के कारण व्यक्ति के अन्तर्भूत भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का अवसर नहीं रहता था । जैनेन्द्र-साहित्य में व्यक्तिवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समस्या को लेकर नहीं चला है । उसका प्रमुख विषय व्यक्ति-जीवन ही समग्र स्वीकृति से सम्बद्ध है । जैनेन्द्र से पूर्व बाह्य घटनाओं के विश्लेषण में अन्तर्जगत की उपेक्षा होती रही है । समूह, समाज और सस्था आदि की तुलना में व्यक्ति गौण माना जाता है । इस प्रकार वाद-विवाद प्रमुख हो जाता है और व्यक्ति-जीवन गौण । जैनेन्द्र का आदर्श व्यक्ति-जीवन को प्रमुखता प्रदान करना है ।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण मानव जीवन के प्रति आस्था विलुप्त हो गई है । विज्ञान की प्रगति उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जा रही है । भौतिकता के विकास के साथ बाह्य जीवन अधिकाधिक सम्पन्न और समृद्ध हो गया है, किन्तु अन्तर्चेतना भौतिकता की चकाचौंध में विलीन हो गई है । आधुनिक युग में राजनीति, धर्म और समाज में व्याप्त समस्त द्वन्द्वों का मूल कारण 'पर' का निषेध है । परिणामस्वरूप मतवाद, वाद-विवाद तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है । वादों के इस द्वन्द्व में व्यक्ति का अस्तित्व क्षीण होता जा रहा है और वाद प्रधान हो गया है । जैनेन्द्र-साहित्य में व्यक्ति वाद-विवाद से ऊपर है । उनकी दृष्टि में समाजवाद, साम्यवाद, पूजीवाद सबके मूल में धार्मिक दृष्टि अनिवार्य है ।^२ धार्मिक भावना व्यक्ति की नैतिकता का कवच है । उनके व्यक्तिवादी विचार मानवीय भावों और आदर्शों के संरक्षक हैं । प्रत्येक वाद प्रारम्भ में व्यक्ति के हित का ही नारा लगाता है, किन्तु अन्ततः उनकी स्वाध-दृष्टि ही प्रमुख हो जाती है । मानव समाज का हित गौण हो जाता है । पूजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद में व्यक्ति और समाज के हितों का पूर्णरूप से ध्यान रखा गया था किन्तु अन्ततः वे अर्थप्रधान हो गए हैं । उनमें परमार्थ का प्रभाव

१ हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड—भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, प्र० स० १९६६, पृ० स० १६८-१७४ ।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, (बह क्षण), तृ० स०, १९६४, दिल्ली, पृ० स० ६५ ।

विलुप्तप्राय हो गया है ।

पारमार्थिक दृष्टि

जैनेन्द्र का मूलदर्श व्यक्ति के जीवन में पारमार्थिक दृष्टि की प्रतिष्ठापना करना है । परमार्थ ही जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख नैतिकता और लक्ष्य है । जैनेन्द्र के साहित्य में नीति और अनैति का प्रश्न अहिंसा और हिंसा के सन्दर्भ में प्रादुर्भूत होता है । उनके साहित्य में व्यक्ति के पारस्परिक स्नेह और प्रेम में, चाहे वह स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में हो अथवा किसी भी मानवीय सम्बन्ध को लेकर फलित हो, अनैतिक नहीं है । जैनेन्द्र की दृष्टि में जहाँ प्रेम है, वहाँ पाप और अनैतिकता की कल्पना सर्वथा त्याज्य है । प्रेम पवित्र है । जैनेन्द्र की पाप और पुण्य की दृष्टि सकीर्णता की पोषक नहीं है, उनकी दृष्टि में पाप का मूल 'अह-निष्ठा' तथा 'पर' के निषेध अथवा अप्रेम में ही विद्यमान है ।

मानव-नीति

जैनेन्द्र-साहित्य में व्यक्ति के अन्तर्जगत और बाह्य जगत् की समष्टि की झलक दृष्टिगत होती है । अन्तर्जगत् का विवेचन करते हुए उन्होंने यथार्थवाद और आदर्शवाद का अवलम्ब लिया है । यद्यपि यथार्थवाद बाह्य जीवन से सम्बद्ध है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य में उसकी सीमा व्यक्ति की निजता में ही केन्द्रीभूत है । जैनेन्द्र ने बाह्य-स्थितियों का बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होंने समाज, धर्म, राजनीति और अर्थ-नीति के सन्दर्भ में व्यक्ति-जीवन को घटित होते हुए दर्शाया है । जैनेन्द्र ने शोषक-शोषित, श्रम-पूजा, मशीन-उद्योग तथा विभिन्न राजनीतिकवादों के सन्दर्भ में व्यक्ति-जीवन की ही विवेचना की है । व्यक्ति अकेला जीवित नहीं रह सकता । उसके लिए सामाजिक, राजनीतिक आदि व्यवस्थाओं का होना आवश्यक है । व्यक्ति समाज, राज, राष्ट्र और विश्व से ऊपर 'मानव' है । अतएव उनके साहित्य में राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि के मूल में 'मानव-नीति' का ही प्राधान्य है । वे विश्व के स्तर पर पड़ौसी को भूल जाना उचित नहीं समझते । यद्यपि यह सत्य है कि बृहदतर हित के हेतु लघुतर हित का त्याग सहायनीय है, किन्तु पड़ौसी के दुःख-दर्द की उपेक्षा करके होने वाली विश्व-प्रगति मानवता से विपरीत है । वस्तुतः जैनेन्द्र के व्यक्तित्व सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यक्तिगत और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्त किया गया है ।

जीवनादर्श : दार्शनिक दृष्टि

आदर्श और यथार्थ दो जीवन-दृष्टि हैं । एक आत्मगत सत्य को स्वीकार

करती है, दूसरी बाह्य जगत की सत्यता को स्वीकार करती है। 'यथार्थ' समय-सापेक्ष सत्यता (रियलिटी) का सूचक है। 'आदर्श' आत्मगत सत्य होने के कारण यथार्थ के सश परिवर्तनीय नहीं है तथापि व्यवित-भेद के कारण आदर्श ही मान्यताओं में भी अन्तर दृष्टिगत होता है। एक लेखक की दृष्टि में जो नितान्त यथार्थ है, दूसरे की दृष्टि में वही आदर्श है। भारतीय तथा पाश्चात्य दशन में 'शाश्वत सत्य' की खोज के हेतु आत्मगत आदर्शवादी दृष्टि (सब्जेक्टिव आइडियलिज्म) ही विशेषतः दृष्टिगत होती है। ईश्वर, जीव, आत्मा आदि विषयों की सत्यता का बोध आत्मचेतना द्वारा ही सुलभ हो सकता है।

भारतीय दर्शन में चारवाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शनों में आदर्श नीतिपरक जीवन को ही परम आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में, मोक्ष की प्राप्ति को ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है। उनकी दृष्टि में भौतिक जगत से इतर आध्यात्मिक जगत ही एकमात्र सत्य है। वस्तुजगत माया-मोह आदि नाना विकारों का केन्द्र है। आत्मोन्मुख व्यक्ति समस्त सासारिक बन्धनों से मुक्त होकर ईश्वरीय साक्षात्कार के हेतु प्रयत्नशील होता है। अद्वैतवादी शंकराचार्य के अनुसार जगत मिथ्या है। गौतमबुद्ध ने ससार को दुःखमय माना है। बौद्ध तथा जैन धर्म में ससार से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न विशेषतः दृष्टिगत होता है। जैन धर्म में भी कैवल्य की प्राप्ति हेतु त्याग, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य आदि पर बल दिया गया है, किन्तु चारवाक दर्शन में भौतिक सुख को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। चारवाक दर्शन में अर्थ और काम को ही प्रधानता मिली है।^१ आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग, कर्म और मोह की धारणाओं का निराकरण करके चारवाक ने त्याग अपरिग्रह, सन्यास, परोपकारिता आदि की उपेक्षा की है। उनकी दृष्टि में भौतिक सुख ही एकमात्र सत्य है।^२ 'गीता' में यह समझाने का प्रयास किया गया है कि अपनी चेतना के उच्चतम स्तर में रहकर भी व्यक्ति कम कर सकता है। इसलिए उसने सदा-चार के प्रश्न को उठाकर कर्तव्य का सन्देश दिया है। कर्तव्य के सन्देश के मूल में जगत की सत्यता की धारणा ही दृष्टिगत होती है। गीता अकर्म एव कर्म त्याग या कम सन्यास को स्वीकार नहीं करती।^३ गाँधीजी ने व्यक्ति के दुर्बल तथा उन्नत दोनों पक्षों पर ध्यान आकृष्ट किया है। मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर आत्मानन्द की प्राप्ति कर सकता है।

१ शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', पृ० स० ३२२।

२ शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', पृ० स० ३२१।

३ 'श्रीमद्भगवद्गीता', अन्ध्याय २, श्लोक ४६-५०।

जैनेन्द्र की दृष्टि में आनन्द और यथार्थ

हिन्दी साहित्य में भारतीय दर्शन की परम्परागत विचारधाराओं की पूर्णतः अभिव्यक्ति की गई है। भारतीय दर्शन में नैतिकता का विशिष्ट स्थान है। आदर्श में भी नैतिकता का पर्याप्त स्थान है। जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकारों ने अपने साहित्य में नैतिकता को विशेषतः प्रश्रय दिया है। मानव जीवन के अन्तस् और बाह्य का द्वैत साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद के रूप में प्राप्त होता है। जैनेन्द्र का साहित्यवाद की पारिभाषिक सीमा से उन्मुक्त है। उसमें जीवन की यथार्थ और आदर्श-दृष्टि समानरूप से परिलक्षित होती है। यथार्थ की अतिशयता में उनके पात्र अपनी आत्मशक्ति को क्षीण रही करते। वस्तुजगत, जिसका हम उपभोग करते हैं, जो इन्द्रिय-जगत का उपभोग विषय है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। भारतीय दर्शन में समस्त इन्द्रियो को वशीभूत करके परम सत्य की ओर उन्मुख होने की चेष्टा दृष्टिगत होती है, किन्तु जैनेन्द्र के पात्र जीवन की यथार्थता की उपेक्षा नहीं करते। उनकी दृष्टि में वस्तुजगत जीवन का स्थूल और व्यावहारिक सत्य है। स्थूलता से ही सूक्ष्मता की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य में यथार्थ का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, वह प्राप्य है और वर्तमान से सम्बद्ध है। आदर्श अप्राप्य और असीम है। कोरा आदर्श आकाशीय कुसुम के सदृश होता है। आदर्श महान है, किन्तु महानता की प्राप्ति के हेतु निम्नता अथवा तुच्छता का निषेध नहीं किया जा सकता है। जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ की धरती पर जीते और मरते हैं।^१ व्यक्ति ससीम है, आदर्श असीम है। अतएव व्यक्ति की अपूर्णता यथार्थ है और पूर्णता अर्थात् आदर्श की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है।^२ यदि व्यक्ति को आदर्श का पुतला बनाकर चित्रित कर दिया जाय तो उसके समक्ष करने के हेतु कुछ शेष नहीं रह जाता। जगत की यथार्थता अथवा उसका अस्तित्व कर्म-कौशल में ही निर्भर रहता है। पूर्णता की प्राप्ति होने पर कर्म अकर्म का प्रश्न ही नहीं उठता।

कतिपय साहित्यकारों के अनुसार कोई भी कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी। दोनों का मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं है। उसके अनुसार साहित्यक-निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', प्रथम स०, १९५२, दिल्ली, पृ० स० १६०।

२ 'कल्पना में हम दिमाग को रख सकते हैं। पर इस पर पाव नहीं टिका सकते। डग रखकर बढ़ना धरती पर होता है।'

—जैनेन्द्रकुमार. 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, (प्रणयदश) पृ० स० १३५।

यथार्थवाद नाम की वस्तु नहीं हो सकती।^१ किन्तु मानव जीवन अखण्ड धारा है। वह आदर्श और यथार्थ के खण्डों में विभाजित नहीं हो सकती। महादेवी जी के अनुसार 'किसी भी युग में आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य कुरु-क्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षों की तरह परिवर्तित करके खड़े नहीं किए जा सकते, जिनमें से एक युद्ध की आग में जल जाय और दूसरे को पश्चाताप की अग्नि में जल जाना पड़े। वे एक-दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूरगता दे सकते हैं। अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विप-मता उत्पन्न कर सकता है, सामान्यस्य नहीं।'^२

वस्तुतः आदर्श और यथार्थ जीवन की विपक्षीय धाराएँ न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं। जयशकर प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की समन्वित दृष्टि अपने निबन्ध में प्रस्तुत की है। उन्होंने आदर्श की प्राप्ति के हेतु यथार्थ की उपेक्षा नहीं की है। उनके अनुसार—'यथार्थवादी साहित्य में व्यक्ति की दुर्बलताओं की ओर इंगित किया जाता है। उनकी दृष्टि में यथार्थवादी साहित्य में लघुता और दुःख की प्रधानता तथा दुःख की अनुभूति आवश्यक है।'^३

यथार्थ व्यवसायिक

जैनन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थवादी दृष्टि 'प्रसाद' के आदर्शों के समकक्ष प्रस्तुत की जा सकती है। यद्यपि 'प्रसाद' और जैनन्द्र में साम्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता तथापि मानवीय वेदना और अभाव का सादृश्य दोनों में दृष्टिगत होता है। जैनन्द्र ने अपने साहित्य में यथार्थता का जो स्वरूप अभिव्यक्त किया है, वह मानव-आत्मा की वेदना और पीड़ा से सम्बद्ध है। जैनन्द्र के साहित्य में यथार्थ स्थिति से अधिक मन स्थिति के दर्शन होते हैं। उनके उपन्यास और कहानियों के अध्ययन से मन में यथार्थ जीवन की वीभत्सता, कुत्सा आदि का प्रकृत रूप दृष्टिगत नहीं होता। वह तो मानव-व्यथा में अपूर्ण है। उनके पात्र आदर्श के प्रतीक होकर हमारे मन में श्रद्धा और भक्ति की भावना जाग्रत नहीं करते, वरन् उनका व्यक्तित्व हमारे हृदय को सहानुभूति और करुणा

१ डा० जयनारायण मण्डल 'हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा', प्र० स०, १९६८, पटना, पृ० स० ४।

२ महादेवी वर्मा 'साहित्य की आस्था तथा अन्य निबन्ध' चयनकर्ता गंगा-प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद, १९६२, पृ० स० १४२।

३ जयशकर 'प्रसाद' 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', इलाहाबाद, पृ० स० १३८।

से आर्द्र कर देता है। जैनेन्द्र के पात्र अपने महिमान्वित व्यक्तित्व से पाठक को चकाचौध नहीं करते, वरन् जीवन की सहजता में पूर्णतः लीन कर देते हैं, जिससे जीवन की सत्यता के प्रति आखें खुल जाती हैं। जैनेन्द्र के अनुसार सम्माननीय नहीं नहीं है जो महान है, प्रतिष्ठित है वरन् वह भी है जो पापी दिव्यायी देता है, परन्तु व्यथा में पूर्ण है।^१

‘त्यागपथ’ में मृणाल का जीवन मानो व्यथा का गहरा सागर है। उसमें जिनका ही डूबते जाओ उतनी ही गहरी पीड़ा का अनुभव होता है। जैनेन्द्र के साहित्य में वह समाज के नितान्त उपेक्षित, घृणित स्थल में पहुँचकर भी सम्माननीया बनी रहती है। उसके प्रति मन में आक्रोश नहीं उत्पन्न होता। वरन् हृदय में पीड़ा की गहरी टीस जाग उठती है जो समस्त चेतना को झक-भोर देती है। वह एक-के-बाद-एक विषमस्थिति का सामना करती है। सामाजिक दृष्टि में व्यभिचारिणी समझी जाने वाली उस नारी की आत्मा की विशुद्धता और पवित्रता पर तनिक भी आच नहीं आती। वस्तुतः जैनेन्द्र के पात्र जितना अधिक नास पा रहे होते हैं उतनी ही आनन्द-सृष्टि में सक्षम होते हैं। एक ओर पीड़ा मर्म को कचोटती है तो दूसरी ओर वही आत्म-तृप्ति भी देती है। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के कर्मों से ही उसकी नैतिकता तथा महानता का बोध नहीं होता, निष्कलुष आत्मा ही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करने में सक्षम हो सकती है।

पूर्णतावादी विचार

जैनेन्द्र के आदर्शवादी विचार ‘पूर्णतावाद’ के सदृश प्रतीत होते हैं। पूर्णतावाद में साहित्यिक यथार्थ और आदर्श के सदृश बुद्धि और भावना का द्वैत दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र का आदर्श अतत आत्मोन्मुख होना है। पूर्णतावादियों ने भी आत्मकल्याण, आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मसन्तोष की ओर विशेषतः ध्यान आकृष्ट किया है। पूर्णतावादियों की दृष्टि में ‘मनुष्य का स्वभाव अनेक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और भावनाओं का जन्म स्थल है। इस स्वभाव में कुछ भी ऐसा नहीं है जो पूर्णरूप से बुरा अतएव त्याज्य हो।’^२ उनके अनुसार आत्मा का रूप न तो केवल ऐन्द्रिक है और न केवल बौद्धिक। इस दृष्टि से ब्रैडले के अनुसार—‘आत्मा का अपने पूर्णरूप में सन्तुष्ट होना अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा

१ जैनेन्द्रकुमार . ‘समय और हम’, पृ० सं० ५४६।

२. शान्ति जोशी ‘नीतिशास्त्र’, प्र० सं०, १९६६, दिल्ली, पृ० सं० २८७।

का सन्तोष ही, आत्मसन्तोष है।^१

वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्तित्व की पूर्णता ही विशिष्टतः लक्षित होती है। उनके अनुसार आदर्श जीवन पूर्णता का परिचायक है। यह आदर्श यथार्थ जीवन की घटनाओं से प्राप्त हो सकता है। आधुनिक साहित्य में मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का विवेचन किया गया है। जैनेन्द्र का साहित्य सामाजिक परिवेश के भीतर से व्यक्ति की आत्मा में सिसकते हुए स्वर को ध्वनित करने में सक्षम रहा है। सुधारवादी लेखक बाह्य समस्याओं में ही उलझे रह जाते हैं, किन्तु व्यक्तिवादी लेखक व्यक्ति के साथ आत्मसात् होकर ही उसके जीवन की सत्यता को अभिव्यजित करता है। जैनेन्द्र ने बहुत गहराई से मानव-आत्मा में भाकने का प्रयास किया है।

व्यक्ति अपूर्ण

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अपूर्ण है। अतएव उसमें गुण-दोष का सम्मिश्रण होना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति पूर्ण सत् स्वरूप नहीं हो सकता। पुनर्जन्म के मूल में व्यक्ति की अपूर्णता ही विद्यमान है। 'पूर्णात्पूर्णां मिदम्' एकमात्र ब्रह्म ही है। व्यक्ति के पूर्ण होने का तात्पर्य मोक्ष की प्राप्ति है किन्तु मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति कर्मकर्म शून्य हो जाता है। सासारिक व्यक्ति अनन्त इच्छाओं और लालसाओं का भण्डार है। वह अपनी अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के हेतु बार-बार जन्म लेता है, यही कारण है कि जैनेन्द्र के द्वारा विरचित व्यक्ति अपूर्णता के प्रतीक है। वे किसी महत् आदर्श के प्रतीक नहीं हैं। जैनेन्द्र के पात्र ऐसे साचे में नहीं ढले हैं, जो सब ओर से सम प्रतीत हों। व्यक्ति जड़ नहीं है अतः उसमें असमानता का होना स्वाभाविक है। प्रेमचन्द ने पात्रों को आदर्श का जो चोला पहना दिया है, वे अन्ततः उसी आदर्श के धरे में घुटते हुए भी मानवीय सहज क्रियाओं और प्रवृत्तियों की पूर्ति से वंचित रहते हैं। जैनेन्द्र के पात्रों के जीवन में कुछ भी असम्भाव्य नहीं है। 'एकरात' कहानी में जयराम का आदर्श व्यक्तित्व जीवन की यथार्थता की स्वीकृति के अभाव में अपूर्ण और अतृप्त रहता है। प्रेम की प्राप्ति ही उसे पूर्ण सन्तोष प्रदान करती है। प्रेमचन्द की दृष्टि में काम, (सेक्स) व्यक्ति की न्यूनतम प्रवृत्ति का परिचायक है। किन्तु जैनेन्द्र स्त्री-पुरुष के सहज सम्बन्धों में अनैतिकता का लेश भी नहीं देखते। प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति के

१ शान्ति जोशी 'नीतिशास्त्र', प्र० स०, १९६६, दिल्ली, पृ० स०

उज्ज्वल पक्ष की अभिव्यक्ति करना है। इस प्रकार उनके साहित्य में व्यक्ति की हीनता अवदमित रह जाती है। जैनेन्द्र के साहित्य में महानता का कल्पित आदर्श नहीं प्रस्तुत किया गया है, वरन् व्यक्ति चरित्र के प्रक्षिप्त अशो को उभारने का प्रयास किया गया है। जैनेन्द्र ने आदर्श की निश्चितता से अधिक उसकी सम्भावना पर बल दिया है। आदर्शवादी दृष्टि 'क्या है' से अधिक 'क्या होना चाहिए' पर आधारित है। आदर्शवादी लेखकों ने मानव जीवन की कुरूपताओं के बीच मानव जीवन और चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को उद्घाटित करने की चेष्टा की है। डा० सर्वजीतराय के अनुसार—'अभाव के कारण ही व्यक्ति दुखी होता है।'^१ आदिकाल से ही मानव जाति उर्ध्ववेत्ता बनने की ओर प्रयत्नशील रही है, क्योंकि आदर्श की सीमा में आवद्ध व्यक्ति पूर्ण होते हुए भी अधिक सवेदनीय नहीं हो पाता। जैनेन्द्र के अनुसार यथार्थ (सत्य) की अभिव्यक्ति असलीलता की परिचायक न होकर व्यक्तित्व की पूर्णता की सूचक है। गुण यदि व्यक्ति के आदर्श स्वरूप का द्योतक है तो दोष भी उसके जीवन का यथार्थ सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार दुर्बलता तथा क्षुद्रता व्यक्ति की प्रकृति है। प्रकृति का निषेध करके महान बनने का दम्भ मिथ्या है। ऐसी महानता के यदा-कदा टूटने का भी भय रहता है, क्योंकि उसके अन्तस् में अतृप्ति बनी रहती है। मानव-प्रकृति का निषेध करके प्राप्त होने वाली महानता बाह्य रूप में आदर्श और मर्यादित प्रतीत होती है, किन्तु भीतर-ही-भीतर मन का छल व्यक्ति को कुरेदता रहता है और वह अन्तर और बाह्य के द्वन्द्व में शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता। छल और कपट के भाव व्यक्ति को कर्म में आत्मसात् होने से वंचित रखते हैं। 'दिन, रात और सेवरा'^२ में मान और प्रतिष्ठा के मध्य रहने वाली कवियत्री अपनी अन्तस् की यथार्थता को अभिव्यक्त नहीं कर पाती। समाज की मर्यादाओं से बाहर वह स्वयं में होती है, जहाँ उसे सारी मान-प्रतिष्ठा मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि वह अपनी अहता को बाह्यरूप में विसर्जित करने में असमर्थ रहती है। 'टकराहट', 'विचारशक्ति', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'रत्नप्रभा' व, 'गवार', 'अकेला' आदि कहानियों में व्यक्ति के अन्तस् के यथार्थ रूप का उद्घाटन किया है। स्त्री और

१ 'सभी धर्मों में मानव जीवन और स्वभाव पर अकुश लगाने की चेष्टा की की गई है। ताकि उसके भीतर का छिपा हुआ पशुत्व मुह न उठा सके।' —डा० सर्वजीतराय 'हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदर्शवाद', प्र० स०, १९६६, इलाहाबाद, पृ० स० १२।

२. जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, प्र० स०, १९६४, दिल्ली, पृ० स० १७२-१८१।

पुरुष स्वयं में अपूर्ण है।^१ पूर्णता अर्थात् स्त्री-पुरुष के परस्पर सयोग द्वारा ही जीवन का लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जैनेन्द्र यथार्थता को पाप अथवा अनैतिक नहीं समझते। सत्यता पर आवरण डालकर सत्य का निषेध नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति का आदर्श कृत्य में न होकर कृत् की भावना में सन्निहित होता है। उनकी दृष्टि में नैतिकता का मूल मानदण्ड मानव, मानव की परस्परता है। पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति में मर्यादा की सीमा उपस्थित करना नैतिकता नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु मन की व्याकुल, अपूर्ण तथा अतृप्त अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति के हेतु मन की विश्रान्ति अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार—‘आदमी में जो है उस सब को स्वीकार नहीं करेंगे तो उसे ह्रस्व ही करेंगे, महान न बनाएंगे। आदमी में से कुछ अलग काटकर उसको पूरा नहीं किया जा सकता।’^२ जैनेन्द्र की दृष्टि में पाप-पुण्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, वह स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों तक ही परिमित नहीं है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तो स्वाभाविक और सहज है। जिस प्रकार व्यक्ति गुणों के सम्बन्ध में अपूर्ण है, उसी प्रकार जैविक दृष्टि से स्त्री-पुरुष के रूप में अपूर्ण है अतएव दोनों का मिलन सामाजिक दृष्टि से अपरिहार्य नहीं है।

सामान्यतः जिन सामाजिक मर्यादाओं के पालन में व्यक्ति गर्वानुभूत होता है, उसे जैनेन्द्र मिथ्या ढोंग और अभिमान का सूचक मानते हैं। उनके अनुसार ‘नर-पुगव और नर केसरी ऊपरी शोभा के लिए हो सकते हैं, जाति की स्वास्थ्य शक्ति और सौष्ठव उनसे नहीं है।’^३ क्योंकि समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बाह्य रूप में आदर्श के प्रतीक होते हैं, किन्तु भीतर-ही-भीतर अपनी दुश्चरित्रता का विष फैलाये रहते हैं। वे छद्मरूप में अपनी वासना को शान्त करते हैं, किन्तु समाज के समक्ष अपनी महानता का ढोंग रचते हैं। ऐसे पुरुष समाज सुधारक होकर भी समाज और जाति के स्वास्थ्य को नष्ट करने के भागी होते हैं।

व्यक्ति देवता नहीं

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति का देवता बनने का प्रयास कोरा दम्भ है। उत्तरोत्तर देवत्व अर्थात् सद्गुणों की प्राप्ति मनुष्य का आदर्श है, किन्तु देवता

१ जैनेन्द्रकुमार ‘समय और हम’, पृ० स० ५५७।

२ जैनेन्द्रकुमार ‘सुखदा’, पृ० स० १६१।

३ जैनेन्द्रकुमार ‘सुखदा’, पृ० स० १०१।

बनकर स्वयं को सहज मानवीय भावनाओं से परे रखना नितान्त अप्राकृतिक है। जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति देवता बनने के लोभ में मानवीय भावों और प्रवृत्तियों का दमन नहीं करते। कोरा आदर्श व्यक्ति को जड़ बना देता है तथा व्यक्तिगत भेद को मिटाकर सभी को आदर्श की पक्ति में आसीन कर देता है। 'टकराहट' तथा 'जयवर्द्धन' में कैलाश और ऐसे पात्र हैं जो स्वयं को मानवीय दुर्बलताओं से दूर रखकर जनहित करना चाहते हैं। वे अपने जीवन में आदर्श की ऐसी पाचीर खड़ी कर लेते हैं, जिसमें उनका जीवन शुष्क-सा प्रतीत होने लगता है और वे गन्ध-पुरुष के सदृश कर्म करते हैं। कैलाश ने एक ऐसे आश्रम की स्थापना की है, जिसमें रहकर व्यक्ति जड़ हो जाता है, उसकी मूल प्रवृत्तियों के विकास का अवसर नहीं मिलता। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति जड़ीभूत होकर शान्त नहीं हो सकता। उसके अन्तस् में हलचल बनी ही रहती है। स्वयं से बचकर आश्रम में रहना मिथ्या है। तपस्वी बनने में व्यक्तित्व का ह्रास होता है। व्यक्तित्व का समुचित विकास तो सहजता में ही सम्भव है।^१ 'जयवर्द्धन' में इला जय को देवता नहीं बनने देना चाहती। वह प्रेम चाहती है। प्रेम की प्राप्ति के हेतु उसका मानवीय रहना अनिवार्य है। इला के प्रेम के कारण ही जय का जीवन कठोर नहीं हो पाता। 'टकराहट' में भी लीला आश्रम में शान्ति प्राप्त करने आती है, किन्तु वहाँ रहकर वह अपने प्रति छल नहीं कर पाती और वापस चली जाती है।^२ वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार 'व्यक्तित्व में खुरच कर और छीलकर कुछ निकाला नहीं जा सकता।'^३ 'विचार-शक्ति', 'अविज्ञान' आदि कहानियों में लेखक ने इस तथ्य की सत्यता पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि त्याग और समय आदि के ऊपर 'व्यक्ति' है। इस सत्य का निषेध करके वह पूर्णता की प्राप्ति नहीं कर सकती।^४ शब्दों की लपेट में

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ७, तृ० स०, १९६३, पृ० स १४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ७, तृ० स० १९६३, पृ० स० ६।

३ जैनेन्द्रकुमार 'मन्थन', प्र० स०, दिल्ली, पृ० स० १२२।

४ 'सभ्य हो, सयमी हो, उदात्त हो, त्यागी हो। इन सब के नीचे मैं बता देना चाहती हूँ कि तुम आदमी भी हो। इस सत्य से आख बचाकर तुम भागना चाहते हो, तो जाओ, मैं कब रोकती हूँ।... कोई फरिश्ता हो सकता, यह भूल मैं तुमसे टिकने न दूंगी।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, तृ० स०, १९६४, पृ० स० १३५।

सच्चाई छिप जाती है, किन्तु सत्यता शब्द में ही सीमित नहीं होती। व्यक्ति नेता और प्रवक्ता बनने पर भी व्यक्ति ही रहता है।^१ देवता बनने के लोभ में व्यक्ति का व्यक्तित्व विकृत और विकारग्रस्त हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के हेतु छल का निर्णय अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार— 'व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए सत्य की स्वीकृति अनिवार्य है।'

दलित भी माननीय

प्राचीन साहित्य में महत् प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही कथा का नायक होने का अधिकारी था। किन्तु आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के नवीन उन्मेष ने जीवन के साथ साहित्य की धारा को भी नवीन मोड़ प्रदान किया है। आधुनिक समाज में जागित भेद का कोई महत्व नहीं रह गया है। दलित और निम्नवर्गीय व्यक्ति भी साहित्य के उच्चासन पर आरोढ़ होने का अधिकारी है। वस्तुतः जैनेन्द्र महान और प्रतिभाशाली व्यक्ति को ही पूज्य नहीं मानते, वरन् उनकी दृष्टि में व्यथा से पूर्ण भिखारी और चोर तथा डाकू भी उतना ही महान है जितना आदर्शवादी नेता अथवा सुधारक। निम्नता तथा क्षुद्रता की अभिव्यक्ति करने वाले पात्र हृदय में पीड़ा उत्पन्न करके हमारे आत्मीय बन जाते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक होती है, उनमें प्रेम, दया और त्याग की भावना कूट-कूटकर भरी होती है। 'अधे का भेद' कहानी में अधे भिखारी के जीवन को देखकर कौन कह सकता है कि उसके अन्तस् में कितनी गहरी व्यवस्था छिपी हुई है और वह उस सारे उफान को दबाए हुए गलियों में बच्चों के साथ गाता फिरता है। भिखारी के जीवन का इतिहास जानने के हेतु गदी बस्ती में तथा समाज के उपेक्षणीय स्थलों पर जाना पड़ता है। उसकी जीवन-गाथा का रहस्य हृदय को सहसा झकझोर देता है। भिखारी की पत्नी वेश्या होते हुए भी कम सम्माननीया नहीं है, क्योंकि उसका पेशा परिस्थिति और विवशता का परिणाम है, किन्तु उसके संस्कार बहुत उच्च हैं। कष्ट भेलकर भी वह आत्म-परिष्कार करने में समर्थ है जिससे उसकी आत्मा की पवित्रता पर व्यवसाय की कालिमा की छाया भी नहीं पड़ पाती।^२ वस्तुतः जैनेन्द्र

१ 'तुम भी प्रवक्ता और तत्वज्ञाता के वाक्यों के नीचे जो हो वही हो। सत्य लपेट में नहीं होता।'।

जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', पृ० सं० १२५।

२ जैनेन्द्रकुमार प्रतिनिधि कहानियाँ, सं० शिवनन्दनप्रसाद, १९६६, प्र० सं०, पृ० सं० ५७।

के अनुसार व्यक्ति की महानता कर्म में न होकर उसकी भावना में ही निहित होती है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के पापी ग्रथवा पुण्यात्मा होने का दायित्व उसी पर नहीं है। परिस्थिति की विवशता भी व्यक्ति को सद्-असद् कर्मों की और उन्मुख करती है।^१ 'चोरी' शीर्षक कहानी में लेखक ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार व्यक्ति न चाहते हुए भी चोरी करने के लिए विवश होता है। सामाजिक विषमता तथा अव्यवस्था के कारण सज्जन व्यक्ति को भी चोरी करनी पड़ती है।^२ 'फासी' शीर्षक कहानी में शमशेर डाकू ही नहीं, सहृदय बेटा भी है। उसके हृदय में प्यार, ममता आदि भावों का आगार है। उसमें अतिथि-सम्मान की भावना भी विद्यमान है किन्तु कर्तव्य के मार्ग में उसकी भावुकता बाधक नहीं बनती। शत्रु के समक्ष वह क्रूरता की प्रतिमूर्ति है, तो मा के समक्ष भोला बालक है। क्रूरता उसका दोष नहीं है, वरन् आभूषण है।^३ 'साधु की हठ' कहानी में दारोगा घर आये साधु के कारण अपनी पत्नी को बहुत बुरी तरह पीटता है, किन्तु साधु की अतिशय सहनशीलता उस निष्ठुर व्यक्ति के हृदय की करुणा और दया को जाग्रत कर देती है।^४ वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति सन्त और दुष्ट दोनों है।^५ न कोई बहुत निन्दनीय है और न ही कोई विशुद्ध भला ही है। उपरोक्त कहानी 'साधु की हठ' में दारोगा की क्रूरता का कारण उसका नि सन्तान होना है। अतएव निष्ठुरता उसकी विवशता है। सहृदयता मानवीय सस्कार है, यही कारण है कि अन्ततः मानवीय गुणों की ही जय होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति व्यक्ति के बीच श्रेणी-विभाजन करना नितान्त असंगत है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का आदर्श अच्छाई और बुराई से ऊपर उठना है, किन्तु अच्छाई और बुराई का लेबिल लगा लेने से परस्पर द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

व्यक्ति : टाइप नहीं

जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त व्यक्ति प्रतीक है। न वह 'टाइप' है, न

- १ 'पापी पापी नहीं है, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नहीं है... किसी के कुछ होने के लिए सहसा दोष मैं उसको नहीं दे पाती।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० स० ७२।

- २ जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० स० १५०।
 ३ जैनेन्द्रकुमार : 'प्रतिनिधि कहानियाँ', स० शिवनन्दनप्रसाद, पृ० स० २२।
 ४. जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० स० २७-२८।
 ५. जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० स० १६२।

चरित्र। किन्हीं निश्चित मान्यताओं की सीमा में वे व्यक्ति की कल्पना नहीं करते। प्रेमचन्द के पात्र 'टाइप' है। उपन्यास आरम्भ करते ही हमारे मन में उनके पात्रों के सम्बन्ध में एक निश्चित अवधारणा बन जाती है कि अमुक पात्र अमुक 'टाइप' का होगा। उनके उपन्यास का नायक दोषयुक्त नहीं हो सकता, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति भी दोषयुक्त हो सकता है तथा निम्नतम व्यक्ति भी आदर्श गुणों का प्रतीक बन सकता है। जैनेन्द्र के पात्रों के सम्बन्ध में कोई भी धारणा पहले से निश्चित नहीं की जा सकती। उनके पात्र सदैव अपने अधूरे व्यक्तित्व का ही परिचय देते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार किसी भी व्यक्ति का हम सब कुछ नहीं जान सकते, क्योंकि शेष जीवन में भी उसमें परिवर्तन सम्भव हो सकता है। अतएव उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देना उचित नहीं है। जैनेन्द्र की दृष्टि में जिस प्रकार ब्रह्म अज्ञेय है और उसके सम्बन्ध में हमारी सम्भावनाएँ सदैव बनी रहती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति का भविष्य अज्ञेय है। अज्ञेयवस्तु के सम्बन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र के अनुसार 'महान पात्र पाठक की रुचि और कल्पना को बाधते नहीं हैं, बल्कि स्फूर्त करके मुक्त करते हैं। उनके प्रति बराबर एक चाह, एक उत्सुकता बनी रहती है मानो वे मुट्ठी में समाने के लिए नहीं हैं।'^१

वस्तुतः जैनेन्द्र के व्यक्ति न तो 'टाइप' होकर निश्चेष्ट हो गए हैं और न ही अपने में सीमित हैं। जैनेन्द्र का आदर्श एक का हर एक में हो जाना है। उनके अनुसार व्यक्ति स्वयं को नहीं, वरन् अपने माध्यम से सत्य की भाँकी को मूर्त करता है।

व्यक्ति और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण मनोविज्ञान से प्रभावित प्रतीत होता है। किन्तु मनोविज्ञान से प्रभावित होते हुए भी उसकी (मनोविज्ञान की) मनो-विश्लेषणात्मक नीति उन्हें ग्राह्य नहीं है। उन्होंने मनोविज्ञान को साहित्य के स्तर पर जिस रूप में स्वीकार किया है, वह व्यक्ति के मन से विज्ञान अर्थात् उसकी प्रकृति की सत्यता का उद्घाटन करने में सक्षम होता है। किन्तु सत्यता का प्रकटीकरण अपनी समग्रता में ही सम्भव हो सका है। मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति की मानसिक चेतना का इस प्रकार मनोविश्लेषण किया जाता है कि व्यक्तित्व का सम्पूर्ण रूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

१ जैनेन्द्र कुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० २०, १९५३, दिल्ली, पृ० २० १८१।

यथार्थ : प्रकृतिवाद का पर्याय नहीं

निष्कर्षतः जैनेन्द्र के साहित्य में आदर्श और यथार्थ की नितान्त मौलिक दृष्टि प्राप्त होती है। उन्होंने यथार्थ का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह प्रकृतिवादी साहित्यकारों के सद्यः नग्नता का धिनौना चित्रण नहीं। जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ सत्य से सम्बन्धित है। उसमें यथातथ्य चित्रण होने हुए भी बीभत्सता को स्वीकृति नहीं मिलती है। यथार्थवाद यथार्थ के नाम पर उत्तरोत्तर प्रकृतिवाद की ओर उन्मुख हुआ प्रतीत होता है। उसमें बन्धन-हीनता फैशन बन गई है। जैनेन्द्र का साहित्य फैशन के बहाव से दूर निजता की वास्तविकता से युक्त है। यथार्थवादियों का नारा है कि धिनौना, फूहड़, बीभत्स सब चलेगा, केवल आदर्श नहीं चलेगा। जैनेन्द्र का आदर्श से कोई विरोध नहीं है। उनकी दृष्टि में आदर्श का निषेध व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने में कदापि सफल नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के पात्रों का आदर्श उनके स्वप्नद्रष्टा होने में है। स्वप्न अर्थात् सम्भावना में ही उनके पात्र अपने आदर्श जीवन की परिकल्पना करते हैं। इस प्रकार आदर्श प्राप्ति द्वारा व्यक्ति की सम्भावनाओं का हनन नहीं होता। जैनेन्द्र के अनुसार 'जो हम हैं वही हमारा जीवन नहीं है। जो होना चाहते हैं, हमारा वास्तव जीवन तो वही है। जीवन एक अभिलाषा है।'^१

परस्परता

जैनेन्द्र-साहित्य का सर्वोपरि आदर्श है कि व्यक्ति, व्यक्ति के भेद को मिटा दिया जाय। इस अभिन्नता से उनका तात्पर्य परिस्थितिगत समानता से न होकर हृदयगत समानता और एक्य से ही है। व्यक्ति में अन्तर हो सकता है, किन्तु पारम्परिक भावों में अन्तर होने के कारण मतभेद नहीं उत्पन्न होता। जैनेन्द्र की दृष्टि बहुत ही व्यावहारिक है। इसलिए वे व्यक्ति को आदर्श में नहीं बरन व्यवहार में केन्द्र मानकर चलते हैं। आदर्श बाहर नहीं, व्यक्ति-चित्त में निहित होता है।^२ उनका विश्वास है कि विशिष्ट मान्यताएँ प्राप्त करने से व्यक्ति स्वयं को समाज का आदर्श समझने लगता है। उसके मन में यह भाव जाग्रत हो जाता है कि वह सदाचारी है, अतएव उससे कोई त्रुटि हो भी नहीं सकती। सदाचार की श्रोट में वह स्वार्थ का बीज बोने में ही सहायक होता है। आधुनिक समाज में ऐसे ही गण्यमान्य व्यक्ति अधिक हैं, जिनके मन में स्वार्थ,

१. हर्षचन्द्र 'सूक्ति सचयन', प्र० स०, १९६५, दिल्ली, पृ० स० ११३।

२. जैनेन्द्र कुमार, 'समय और हम', पृ० स० ६४।

लोलुपता आदि दूषित भावनाएँ भरी हुई हैं, किन्तु ऊपर से वे आदर्श बने रहते हैं।^१ व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्तियों के कारण ही जैनेन्द्र आदर्श को मानव के अन्तस् में खोजना श्रेयस्कर समझते हैं।

आत्म-परिष्कार

जैनेन्द्र के साहित्य में भले-बुरे की आलोचना के स्थान पर आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिष्कार पर ही बल दिया गया है। उनके अनुसार दूसरे की आलोचना करने से एक ओर तो 'पर' का निषेध होता है, दूसरी ओर 'स्व' का अहंभाव पुष्ट होता है, किन्तु आत्मनिरीक्षण द्वारा व्यक्ति अधिकाधिक विनम्र तथा सहनशील बनता है।^२ जैनेन्द्र के साहित्य में हार्दिकता और प्रासादिकता का आधिक्य है। आत्मगत स्नेह, सहानुभूति और आत्मसमर्पण का भाव ही वह शस्त्र है, जिससे उनके पात्र अन्य पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र की व्यक्ति सम्बन्धी दृष्टि व्यावहारिक जीवन की सत्यता पर आधृत है, आदर्श की थोथी भूमिका पर नहीं।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति यथार्थ जीवन की गहराई से ही आदर्श की ऊँचाई की ओर उन्मुख होता है। आदर्शवादी साहित्यकार व्यक्ति के पूर्ण रूप को अपने साहित्य में विवेचित करते हैं। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अपूर्ण है, यही कारण है कि वह है।^३

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति समाज की सापेक्षता में ही अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकता है। समाज से बचकर अलग रहने में व्यक्ति के स्वरूप और उसकी प्रकृति का कोई महत्व नहीं रहता। अतएव व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी निजता के साथ ही साथ सामाजिकता का ज्ञान भी अनिवार्य है। राज-नीति, समाज, धर्म, अर्थ आदि विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्षता में ही व्यक्ति जीवन की सार्थकता सम्भव है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति अन्तर्मुखी होते हुए भी समाज के प्रति उत्तरदायी है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'व्यक्ति जीवन का उद्देश्य अपनी निजत्व को समग्र एव समग्र को निजत्व में देखना है।'^४ जैनेन्द्र के साहित्य में समाज की सीमाओं और मर्यादाओं का पूरा

१ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, तृ० स०, पृ० स० ११०।

२ जैनेन्द्र कुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, तृ० स०, पृ० स० ११-१३।

३ जैनेन्द्र कुमार 'कल्याणी', १९५६, पृ० स० ८५।

४. जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', पृ० स० ४०।

ध्यान रखा गया है। समाज की पृष्ठभूमि पर ही व्यक्ति-जीवन का विकास होता है। व्यक्ति स्वयं में ही सीमित नहीं है। उसकी सार्थकता 'पर,' के सन्दर्भ में ही सम्भव है। जैनेन्द्र के साहित्य में 'स्व' पर अर्थात् व्यक्ति, व्यक्ति की परस्परता की ओर विशेषतः दृष्टिपात किया गया है। सामाजिक प्राणी विभिन्न द्वन्द्वों के मध्य जीवनयापन करता है। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियाँ जीवन में नाना द्वन्द्वात्मक रूप उत्पन्न करती हैं।

त्याग की भावना से युक्त होकर ही व्यक्ति समाज का हित कर सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में वही व्यक्ति समाज को नया मोड़ और नई चेतना दे सकता है, जिसमें समाज की ओर से प्राप्त होने वाली यातनाओं को सहने की क्षमता है। उनकी दृष्टि में गांधी और ईसा एक महान् आदर्श हैं। समाज धर्म की प्रतिष्ठा में ही ईसा को सूली पर चढ़ना पड़ा था। वस्तुतः व्यक्ति समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकता। समाज से स्वतन्त्र होकर चलने में समाज द्वारा प्राप्त होने वाले दण्ड से नहीं बचा जा सकता तथापि पारमार्थिक व्यक्ति स्वयं कष्ट भेल करके ही 'पर' के हित में रत रहता है।^१

विभिन्न जीवनदृष्टि

व्यक्ति और समाज के जीवन की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। ये विभिन्न धाराएँ जिस दृष्टि से व्यक्ति-जीवन की समस्याओं और व्यवस्था का विवेचन करती हैं, उनका तत्कालीन साहित्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। साहित्य युग की देन है। आधुनिक युग में साहित्य के स्तर पर तीन प्रमुख विचारधाराएँ और जीवन-नीतियाँ दृष्टिगत होती हैं। पहली मनोवैज्ञानिक धारा है, जिसके प्रणेता फ्रायड हैं। फ्रायड ने व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हुए उसके चेतन-अचेतन मन के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर कार्ल मार्क्स ने भौतिक जगत की विषमताओं से आक्रान्त मानव जाति के वर्ग-भेद को मिटाने का प्रयास किया है। प्रथम फ्रायडीय दृष्टि व्यक्तिवादी थी। दूसरी मार्क्सवादी दृष्टि वस्तुवादी अथवा समाजवादी है। मार्क्स-दर्शन का मूलाधार व्यक्ति न होकर सामाजिक और आर्थिक विषमता से उद्भूत समस्याएँ हैं। उनकी दृष्टि अर्थ प्रधान होने के कारण तथा राजनीति के सस्पर्श से विश्वव्यापी बन गई है। मार्क्स के समानान्तर चलने वाले जिस दर्शन में मानव जीवन और साहित्य तथा राजनीति को सबसे अधिक अभिभूत

१. जैनेन्द्रकुमार · 'जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग १, तृ० स०, १९६२, दिल्ली, पृ० स० १८६।

किया है, वह गाँधी-दर्शन है। गांधी और मार्क्स मानव जीवन और समाज को लेकर ऐसे मोड़ पर पहुँचते हैं, जहाँ वे एक न होकर भी एक नहीं बन पाते।

मतवाद

मानव समाज में विभिन्न वाद-प्रतिवाद दृष्टिगत होते हैं। विभिन्न वादों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति और समाज की समस्याओं का समाधान करना है। साहित्य का कार्य मानव जीवन के सन्दर्भ में विभिन्न वादों का विवेचन प्रस्तुत करना है। जैनेन्द्र के साहित्य में किसी वाद-विशेष का सहारा नहीं लिया गया है। उनकी दृष्टि में केवल-हित प्रधान है, वाद-विवाद की सकीर्णता उन्हें ग्राह्य नहीं है। विभिन्न साहित्यकार अपने साहित्य द्वारा विभिन्न वादों का प्रचार करते हैं। साहित्य का कार्य प्रचार करना नहीं है, केवल दृष्टि-दान करना है। यशपाल के साहित्य में मार्क्सवाद का स्वर विशेषतः मुखरित हुआ है। उन्होंने मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए गांधीवादी नीति का विरोध किया है। जैनेन्द्र के साहित्य में आग्रह की प्रवृत्ति कहीं भी लक्षित नहीं होती। जैन धर्म के प्रभाव के कारण वे दृष्टि-विशेष को सत्य मानकर अन्य का निषेध करना उचित नहीं समझते। विभिन्न वाद स्वार्थपूर्ण दृष्टि लेकर अपने मत को ग्रन्थ पर थोपने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु साहित्य का आदर्श राजनीतिक वाद-विवाद से पृथक् है। साहित्य में वाद आग्रहमूलक न होकर मानव-हित का पोषक होता है।

जैनेन्द्र के साहित्य में मानव जीवन की विविध समस्याओं पर विचार किया गया है। गरीबी-अमीरी, शोषक-शोषित, उद्योग वर्ग, औद्योगीकरण, मजूर-मालिक, प्रजातन्त्र आदि विषयों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अमीरी तथा पाश्चात्य सभ्यता के रंग में डूबे हुए समाज और सभ्यता के बीच तडपते और अन्तिम सास लेने वाले व्यक्ति से लेकर, समाज में विपाक्त फैताने वाले पूँजीवाद का उन्होंने सूक्ष्म विवेचन किया है। उनके साहित्य में विषय की विशुद्धता से अधिक उसकी गहनता दृष्टिगत होती है। अर्थनीति से इतर राजनीति में हिंसात्मक नीति का उन्मूलन करके अहिंसक नीति द्वारा देश में शान्ति और शासकहीन राज्य की स्थापना की ओर उन्होंने विशेषतया ध्यान आकर्षित किया है।

जैनेन्द्र ने मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद की विविध स्थितियों का सर्व-क्षण करते हुए अपने साहित्य में गांधी की सर्वोदय नीति को ही स्वीकार किया है। जैनेन्द्र का साहित्य भारतीय सस्कृति का पोषक है। उनकी रचनाओं में भारतीय सस्कृति और सुरक्षा का प्रयत्न पूर्णतः लक्षित होता है। फ्रायड और मार्क्सवादी धाराएँ उनके साहित्य और विचारों को पूर्णतः अभिभूत नहीं कर

पाती। जैनेन्द्र की अनुभवगम्य दृष्टि उन्हें सिद्धान्त से अधिक व्यावहारिकता को आधार बनाने की ओर उन्मुख करती है। यही कारण है कि वे किसी प्रचलित सिद्धान्त और आदर्श को अपने अनुभव की कसौटी पर परखे बिना स्वीकार नहीं करते।

आर्थिक वैषम्य

जैनेन्द्र के साहित्य में सामाजिक और आर्थिक विषमता का स्पष्ट स्वरूप दिखायी देता है। उन्होंने अपने निकट की परिस्थिति से आत्मसात् होकर उसमें निहित सत्य के उद्घाटन का प्रयास किया है। बड़े-बड़े शहरो जहाँ चारों ओर चहल-पहल तथा भव्य आकर्षण के दृश्य दिखायी देते हैं, वहीं गरीबी भी दुबकी हुई कराहती रहती है। 'दिल्ली के बाजार हैं जहाँ अमीरी तनकर अपना प्रदर्शन करती फिरती है और जहाँ गरीबी अपने को अमीरी वाणी में छिपाए, शर्माण चलती है।'^१ उनकी रचनाओं में भव्यता व दारिद्र्य के वैषम्य का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र प्राप्त होता है, जिससे जैनेन्द्र की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति तथा मानव जीवन के प्रति उनकी अद्भुत निष्ठा परिचय प्राप्त होता है। 'अपना प्रदर्शन अपना भाग्य'^२ शीर्षक कहानी इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण तथा उपयुक्त है। इस कहानी में जैनेन्द्र ने धार्मिक विषमता से उत्पन्न गरीबी के कारण मौत के शिकार बनने वाले बालक का ऐसा मर्मन्तिक चित्र प्रस्तुत किया है जो सहसा पापाण-हृदय को भी झकझोर देने में समर्थ है। उपरोक्त कहानी में लेखक ने साम्राज्यवादी अंग्रेजों के शासन-काल की सभ्यता और सस्कृति का चित्र प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्याक्त का हित ही प्रधान है, इस दृष्टि से उन्होंने मानव-पीडा के विविध स्रोतों की ओर दृष्टिपात किया है। मानव को पशु समझने वाली उस अंगरेज जाति की ओर भी उन्होंने इंगित किया है, जो घोड़े के सदृश किसी हिन्दुस्तानी व्यक्ति पर भी कोड़े मारने में नहीं हिचकिचाते थे। इस कहानी में लेखक ने विषमता का वह चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें सपन्नता के कारण आवश्यकता से अधिक सुख-सुविधा प्राप्त करने वाले कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, और कुछ ऐसे हैं जो या तो साहब की 'मार' से मर जाते हैं अथवा नैनीताल की पहाड़ियों में ठंडक से सिकुड़ कर प्राण त्यागते

१ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग २, चौथा स०, १९६६, दिल्ली, पृ० स० १३६।

२ 'हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ', स० गणेशपाण्डेय, प्र० स०, १९५६, पृ० स० ८०।

को विवश होते है।^१ अगरेजी राज्य के अनन्तर भी गरीबी और अमीरी का भेद कम नहीं हुआ है। गरीब आज भी समाज का उच्छिष्ट अंग है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य अप्रेम और घृणा की गहरी खाई उत्पन्न करने का एकमात्र कारण धनिक वर्ग की झूठी शान और प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में प्रतिष्ठित माने जाने वाले व्यक्तियों को ही विशिष्टता नहीं प्रदान की है। उनकी दृष्टि में निर्धन व्यक्ति भी अपनी आत्मा की उच्चता के कारण सम्माननीय स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है। यद्यपि अमीरी पाप नहीं है, किन्तु अमीरी के कारण ही व्यक्ति की नैतिकता और आत्म-चेतना का पतन हो जाता है। धनिक समाज में चोर, बेईमान, चरित्रहीन व्यक्ति का सच्चा निर्माण नहीं हो पाता, क्योंकि वे पैसे के बल पर ईमानदार और चरित्रवान् बने रहते हैं।

जैनेन्द्र के साहित्य में समाज के ऐसे वर्ग पर भी प्रकाश डाला गया है जहाँ सज्जनता के पीछे दुष्कर्मों की बू मिलती है। जैनेन्द्र की 'एकटाइप' तथा 'आतिथ्य' कहानी इस तथ्य की पुष्टि में प्रस्तुत की जा सकती है। 'एकटाइप' में एक ऐसे व्यक्ति का परिचय प्राप्त होता है, जो सचमुच टाइप ही है। वह रेल में सफर करते हुए पूरे समय तक 'शान्ताकारम् भुजग शयनम्' का पाठ अपने ढग से करता रहता है।^२ उसे देखकर कोई नहीं विश्वास कर सकता कि उसकी सादगी के पीछे ही कोई कालिमा हो सकती है। किन्तु जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में ऐसे व्यक्तियों के जीवन का रहस्योद्घाटन किया है, जो हर भाति सम्भ्रान्त दीखते हैं, देखते ही उनके भीतर आदर होना स्वाभाविक है। उनके जीवन में और उनके मन में शका का कीड़ा कहीं नहीं दीखता। किन्तु थोड़ी आमदनी होने पर भी वे ऊपरी आमदनी के सहारे लम्बे खर्च करते हैं और बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि 'तनखाह बीस (रुपए)' से ही शुरू हुई थी, लेकिन उसी के भरोसे कौन रहता है।^३ ऐसे ढोंगी भद्र व्यक्तियों के प्रति जैनेन्द्र के

- १ 'बतलाने वालो ने बताया कि गरीब के मुह पर, छाती, मुट्टियों और पेटों पर, बर्फ की हल्की-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनिया की बेहयाई घटाने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था।'।

—'हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ', सम्पा० गणेश पाण्डेय, प्र० स० ८६।

- २ 'शान्ताकारम् भुजगशयनम् पद्मनाभ सुरेसम्।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० स० ३७।

- ३ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० स० ३४-३६।

हृदय में घोर वितृष्णा और अनुताप है, जो कि उनके साहित्य में स्पष्टतः व्यक्त हुआ है। 'अतिथि' कहानी में लेखक ने ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है, जिसकी दृष्टि में मुनाफा और स्वार्थ प्रमुख है, मित्रता गौण है। वह अपनी आमंत्रित अतिथि (मित्र) को अपनी गोशाला, डेरी आदि के सम्बन्ध में सविस्तार परिचय देता है, किन्तु अतिथि-सत्कार के नाम पर मित्र के बच्चों को छटाक भर दूध देने में वह अपनी असमर्थता ही व्यक्त करता है। प्रस्तुत कहानी द्वारा लेखक ने व्यक्ति की स्वार्थी मनोवृत्ति का बहुत ही स्पष्ट रूप व्यक्त किया है।^१

सदाचरण

जैनेन्द्र के साहित्य में सदाचरण की ओर भी दृष्टिपात किया गया है। जैनेन्द्र के अनुसार भ्रष्टाचार को दूर करने का ठेका लेने वाले नेता अथवा सुधारक सही रूप में समाज का सुधार नहीं कर सकते, क्योंकि समाज में दुराचार और सदाचार की मान्यताएँ जीवन के बाह्य स्वरूप पर आधारित हैं। आधुनिक युग में वही व्यक्ति सदाचारी और सम्भ्रात समझा जाता है, जिसके पास अधिकाधिक धनार्जन करने के साधन हैं तथा जिसका जीवन-स्तर उच्च है। भ्रष्टाचार को दूर करने का ठेका भी ऐसे ही व्यक्ति लेते हैं, जिनके पास किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। अपने में पूर्ण होकर वे सुधार करना चाहते हैं। आज सदाचार का मानदण्ड लम्बी-चोड़ी दावते देने तथा जो खोलकर स्वागत और सत्कार करने में है। खर्च करने में सदाचारी वृत्ति का हास होता है। जैनेन्द्र के अनुसार आधुनिक युग में सदाचार के प्रसार का कार्य राज-नेताओं तक ही परिमित हो गया है, किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि में राजनीतिक होकर सदाचारी बने रहना सम्भव नहीं है। उनका विश्वास है कि यदि अर्थ-वृद्धि से सदाचार बढ़ता हुआ माना जाता है तो दुराचार भी आमदनी को बढ़ाने चढ़ाने की चेष्टा में ही होता है।^२ 'चक्कर सदाचार का' कहानी जैनेन्द्र के विचारों की प्रतिनिधित्व करने में पूर्णतः समर्थ है। मिस्टर वर्मा की सदाचार के प्रसार की नीति के प्रति अरुचि तथा उदासीनता इसी तथ्य को द्योतित करती

१. जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग ६, पृ० स० ११५।

२. 'सदाचार बिना बड़ी-चढ़ी आय के हो नहीं सकता। बड़ी-चढ़ी आय के लिए ही दुराचार किया जाता मालूम होता है।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग १०, प्र० स०, १९६६, पृ० स० १५७।

है कि वे समाज-सुधार और सुधारक-संस्थाओं में विश्वास नहीं करते। उनका विश्वास है कि सुधार के लिए आवश्यक है हृदय-परिवर्तन। अन्तस् से होने वाली सुधारेच्छा ही सत्य है। ऊपर से सुधार की प्रचारक वृत्ति द्वारा भ्रष्टाचार की ही वृद्धि होती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'संसार का तथा राष्ट्र का भला नेता नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें राष्ट्रीय-नीतियों का बाहुल्य होता है। 'उनकी दृष्टि में यदि सुधार सम्भव हो सकता है तो गांधी और ईसा जैसे शहीदों के द्वारा ही हो सकता है। वस्तुतः अर्थ-वृद्धि द्वारा जीवन-स्तर को बढ़ाते हुए सुधार करने के प्रयत्न में व्यक्ति के अपने ही पाप को छिपाने का भाव लक्षित होता है।

पैसा और व्यक्ति

जैनेन्द्र की दृष्टि में समाज के स्तर को बढ़ाने के लिए आवश्यकता है, पारस्परिक स्नेह, दया और ममता की। उनके साहित्य का अवलोकन करते हुए यह ज्ञात होता है कि जब तक हमारा अमीरी के प्रति मिथ्या दम्भ समाप्त नहीं होगा, तब तक परस्परता की कल्पना करना निरर्थक है। जैनेन्द्र के हृदय में व्यक्ति के तिरस्कार और अर्थ के सत्कार को लेकर गहरा विक्षोभ है, क्योंकि संसार में प्रायः ऐसा घटित होते हुए देखा जाता है कि मार्ग में पड़ा हुआ पैसा उठा लिया जाता है और दुःख से कराहता हुआ व्यक्ति छोड़ दिया जाता है।^१ पैसे की शक्ति का ज्ञान अबोध बच्चे को भी होता है, क्योंकि पैसे से व्यक्ति का हित जुड़ा होता है। पैसे की शक्ति ने ही गरीब और अमीर के बीच गहरी खाई उत्पन्न कर दी है, जिससे व्यक्ति, व्यक्ति को पहचानने में असमर्थ है। जैनेन्द्र की दृष्टि में जब तक हमारी अर्थ मानसिकता के स्वरूप में अन्तर नहीं आयेगा, तब तक मानव जीवन यो ही तिरस्कृत होता रहेगा और सचित धन समाज का कोढ़ बना रहेगा।^२ उनकी दृष्टि में मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नकाब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है।^३

पूँजीवादी दृष्टि

जैनेन्द्र के साहित्य में पूँजीपतियों के प्रति उनका गहरा आक्रोश अभिव्यक्त हुआ है। समाज में उत्पन्न आर्थिक वैषम्य का दायित्व पूँजीपतियों पर ही है।

१ जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ८८ ।

२ जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ८८ ।

३ जैनेन्द्रकुमार 'सोच-विचार', पृ० स० ९३ ।

पूजीपति वही है, जो पूजी बढ़ाने की ही कला जानता है। खर्च करने की नहीं जानता है। इस प्रकार केन्द्रीभूत पूजी समाज के शरीर को विषाक्त करने में सहायक होती है। जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य के हेतु रक्त का समुचित प्रवाह अनिवार्य है, उसी प्रकार समाजरूपी शरीर के स्वास्थ्य के हेतु धन का सचित वितरण अनिवार्य है। सरकारी मोहर लगने पर ही पूजी की सार्थकता निर्भर करती है, अन्यथा वह स्वयं में जड़ है। जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओं में 'सरकारी मोहर' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि धन के सरकारी सरक्षण को वे उचित नहीं मानते। 'विवर्त', 'सुखदा', 'सुनीता', 'जयवर्धन', में पूजीपतियों की कटु आलोचना की है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार पूजी स्वयं में दोष नहीं है, किन्तु उसकी वृद्धिकारक प्रवृत्ति समाज के शरीर में गहरा घाव है। पूजी वृद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन उत्पादन-क्षेत्रों का अधिकृत करना है। पूजीपतियों की दृष्टि में स्वार्थ की भावना बहुत अधिक होती है। प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य के समक्ष देश व राष्ट्र का हित भी उनकी दृष्टि में गौण होता है। जैनेन्द्र ने भौतिकता के रंग में रंगे हुए अर्थ-वृद्धि के लिए सचेष्ट रहने वाले समाज का चित्रण करते हुए स्पष्ट किया है कि ऐसे व्यक्तियों को श्रम भी नहीं करना पड़ता और पूजी बढ़ती जाती है। सामाजिक-संस्थाओं को दानस्वरूप कुछ सम्पत्ति देकर वे प्रेम को बहुत प्रतिष्ठित समझने लगते हैं, 'अनन्तर' में आदित्य ऐसा ही व्यक्ति है, जिसका लक्ष्य जीवन-स्तर को बढ़ाना है। धर्म, नैतिकता, परमार्थ आदि भावनाएँ उसकी दृष्टि में निरर्थक हैं।^२

'विवर्त' में भी लेखक ने ऐसे परिवार का चित्रण किया है, जहाँ प्रतिक्षण सुख भोग में व्यतीत होता है। उनके जीवन में अभाव नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती। वे अपने सुखमय जीवन में कभी अपने से नीचे देखने का कष्ट नहीं करते। जैनेन्द्र ने ऐसे व्यक्तियों पर गहरा व्यंग्य किया है। एक ओर आवश्यकता से अधिक धन होने के कारण जीवन क्रीड़ा बन जाता है। दूसरी ओर कुछ रूपों के लिए बेटिया बेची जाती है। समाज में यह भेद धन के कारण ही उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में पूजीपतियों की स्वार्थमयी दृष्टि ने समाज में ऐसा विष फैला दिया है, जिसे दूर किए बिना समस्त मानव-संस्कृति का विनाश निश्चित है। ऐसी विषम स्थिति में जागरूक क्रान्तिकारी समाज के भीतर व्याप्त अर्थ की शक्ति का विस्फोट करने के लिए विवश है। 'सुखदा'

१. जैनेन्द्रकुमार . 'सोच-विचार', पृ० स० १४५।

२. जैनेन्द्रकुमार . 'अनन्तर', १९६८, प्र० स०, दिल्ली।

मे लाल ऐसा ही क्रान्तिकारी व्यक्ति है, जिसकी दृष्टि में पैसे ने अपने दात से काट-काट कर जगह-जगह समाज के शरीर में जो घाव कर रखे हैं उन घावों का धोना और बहा देना ही उनका प्रमुख शौक है।^१ धन के इस प्रकार पूजीकृत होने से गरीब गरीब होते गये हैं, अमीर अधिक अमीर होते गये हैं। इस प्रकार गरीबी और अमीरी दो ऐसे किनारे बन गये हैं, जिनमें मिलन अर्थात् पारस्परिक प्रेम की कोई सम्भावना ही नहीं दृष्टिगत होती। जैनेन्द्र के अनुसार पूजा ने व्यक्ति को आदमियत से अधिक हैसियत से जोड़कर झूठी मर्यादा और प्रतिष्ठा को बढ़ाने में ही सहयोग दिया है। जैनेन्द्र के साहित्य द्वारा धनी वर्ग के प्रति उनकी घोर वितृष्णा का भाव लक्षित होता है।

जैनेन्द्र के साहित्य में पूजापतियों के विरुद्ध हिंसात्मक वृत्ति भी लक्षित होती है, किन्तु इस वृत्ति द्वारा लेखक का उद्देश्य पूजापतियों के प्रति अपने आक्रोश को ही व्यक्त करना है। 'विवर्त' और 'सुखदा' में हमें जैनेन्द्र के इन्हीं विचारों की झलक मिलती है। जैनेन्द्र की दृष्टि में पूजावादी सभ्यता में आदमी की नहीं, बरन् पैसे की पूजा होती है। वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धनिक वर्ग की झूठी और छली सभ्यता के प्रति उनके मन में तनिक भी आस्था नहीं है। उनका आदर्श मानव-मानव की परस्परता में ही पूर्ण होता है। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा समाज के इस दोष को दूर करते हुए प्रेममय भावों के प्रसार का प्रयत्न किया है।

साम्यवादी दृष्टि

उपरोक्त स्थितियों को देखते हुए प्रश्न उठता है कि क्या जैनेन्द्र अपने साहित्य द्वारा समाज की विषमता का उन्मूलन करते हुए आर्थिक समानता लाना चाहते हैं। क्या वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमें समस्त मानवता एक ही साचे में ढली हो। इस तथ्य की पुष्टि के हेतु जैनेन्द्र के साहित्य में साम्यवादी और समाजवादी प्रभावों को देखना अनिवार्य है।

मार्क्सवाद एक राजनीतिक तन्त्र होने के पूर्व एक दार्शनिक दृष्टि है। कार्ल मार्क्स के अनुसार मागव जीवन की विषमता और समस्त दुखों का एकमात्र कारण आर्थिक विषमता है। अर्थ जीवन की सुख-सुविधाओं का आधार है। उसके अनुचित विभाजन के कारण ही मानव जीवन में अशान्ति और विद्रोह की भावना जाग्रत होती है। मार्क्सवादी नीति का विश्व साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। जिस प्रकार फ्रायड ने मनोविश्लेषणवादी

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुखदा', पृ० स० १०७।

विचारों के आधार पर व्यक्ति के अन्तः मन को व्याख्यायित किया है, उसी प्रकार मार्क्स द्वारा बाह्य जीवन के द्वन्द्वों को 'अर्थ' के आधार पर विवेचित किया गया है।

मार्क्स की समाजवादी नीति का आदर्श समाज से आर्थिक विषमता को दूर कर मानव-एकता की स्थापना करना है, जहाँ शोषक और शोषित का भेद पूर्णतः समाप्त हो जाय। समाजवाद द्वारा वर्गहीन समाज की स्थापना की जाती है। इसमें सारी सत्ता स्टेट में केन्द्रित हो जाती है तथा व्यक्तिगत सत्ता को (पूजी) प्रश्रय नहीं मिल पाता।^१ समाजवाद का कार्य समाज में क्रान्ति उत्पन्न करके परिवर्तन लाना है। सभ्यता का विकास तथा विज्ञान की प्रगति द्वारा जीवन को अधिकाधिक सुखमय बनाना ही समाजवादी अथवा साम्यवादी नीति का उद्देश्य है।^२ उन्होंने जीवन-स्तर के बढ़ाने पर विशेष बल दिया है। मार्क्स के अनुसार हमारा साहित्य, संस्कृति, कला आदि का उद्देश्य व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को अधिकाधिक समृद्ध बनाना है। मार्क्सवाद में नैतिकता पर बल नहीं दिया गया है, उसमें भौतिकता तथा औद्योगिक प्रगति पर अधिक ध्यान आकृष्ट किया गया है तथा एकता के हेतु रक्तक्रान्ति को अनिवार्य बताया गया है।

वस्तुतः समाजवाद में सामाजिकता पर बल दिया गया है और व्यक्ति-हित की अवहेलना की गई है। उनकी दृष्टि में 'चेतना' और भौतिक पदार्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के संघर्ष के परिणामस्वरूप भी भौतिक-सभ्यता का विकास होता है।^३

उपरोक्त साम्यवादी दृष्टि का विवेचन करते हुए जब जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्क्सवाद और जैनेन्द्र की दृष्टि में मूलतः अन्तर है। एक भौतिकता प्रधान है, दूसरे में आध्यात्मिकता का प्राचुर्य है। मार्क्स की दृष्टि में समस्या का मूल कारण आर्थिक है, जैनेन्द्र की दृष्टि में मानव जीवन के समस्त शब्दों का मूल कारण

१ 'The socialism solution, as it ought to be clear from our analysis of the process of accumulation of wealth, is to abolish private ownership of the means of production and to establish over the ownership of the whole community'—J. P. Narain—'Soc, Sar & Democracy—1964 Bom (P.13).

२. महात्मा गांधी 'दि वायस आफ टूथ', पृ० २४२।

३. जयप्रकाश नारायण . 'सोशलिज्म सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी', पृ० स० १५३।

पारस्परिक प्रेम का आधार है। जैनेन्द्र के अनुसार मार्क्स का दृष्टिकोण सराहनीय है, किन्तु वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु जिन साधनों की कल्पना करता है, वे अग्राह्य हैं।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में मार्क्सवादी नैतिकता प्रकृत नहीं है। उनकी दृष्टि में जबर्दस्ती धन का अपहरण करके समता लाने की नीति अनैतिकता तथा अनौचित्य को बढ़ावा देती है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में अर्थ की आवश्यकता का निषेध नहीं किया है किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए धर्म को आवश्यक बताया है। जैनेन्द्र ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की समष्टि में ही व्यक्ति की पूर्णता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अर्थप्राप्ति की वस-मूलक दृष्टि ही मानव कल्याण में सहायक हो सकती है।^२ उनके अनुसार अथ धर्म के स्थान पर राजनीति से जुड़कर कभी भी व्यक्ति के हित का पोषक नहीं हो सकता।^३

जैनेन्द्र के साहित्य में भी वर्गहीन समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। 'सोद्देश्य' कहानी में वे साम्यवादियों की भांति ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहते हैं, 'जिसमें जो दीन है, वे दीन नहीं रहेंगे, जिनके हाथ में श्रम है, वे ही विधाता होंगे।'^४ जैनेन्द्र के द्वारा कल्पित वर्गहीन समाज में व्यक्ति की सम्भावनाएँ विनष्ट नहीं होती। उनका आदर्श व्यक्ति और समष्टि, भौतिक और आध्यात्मिक, धर्म और अर्थ आदि दो किनारों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है। जैनेन्द्र के अनुसार वस्तु के अधिकाधिक उत्पादन और वितरण से ही जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं हो सकता। वे सुख-मय जीवन के लिए आत्मगत सुख और शान्ति को अनिवार्य मानते हैं। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र ही नहीं, बल्कि विश्व के मूल में प्रेम ही प्रधान है।^५ जैनेन्द्र पर गांधी जी के आदर्शों की गहरी छाप दृष्टिगत होती है।

१ 'मार्क्स से मैं सर्वथा सहमत हो सकता हूँ, लेकिन हिंसा को गलत और अहिंसा को ठीक समझने से छुट्टी नहीं पा सकता।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ७७।

२ मार्क्स के अनुसार—'धर्म जनता के लिए अफीम है तथा समाज का रोग है।' 'मार्क्सवाद और मूल दार्शनिक प्रश्न', पृ० स० ८६, ९०।

३ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १८८।

४ जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग ७, पृ० स० ४६।

५ 'वर्गहीन समाज वह होगा, जो प्रेम की शक्ति से चलेगा।'।

—जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम', पृ० ८३।

गांधी जी भी अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख में विश्वास नहीं करते।^१ इनकी दृष्टि में मानवमात्र का सुखी होना अनिवार्य है।^२ जैनेन्द्र की दृष्टि में भारत जैसे गरीब देश के लिए जीवन स्तर बढ़ाने से पूर्व गरीबी को दूर करना आवश्यक है।^३

ट्रस्टीशिप

गरीबी को दूर करने के लिए अमीरों से धन छीनने का कार्य समता की दृष्टि से पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। ऊपर से थोपा गया कोई भी नियम, कानून अधिक स्थायी नहीं होता। जब कि हृदयगत प्रेरणा चिरस्थायी होती है। गांधी जी सम्पत्ति के इस अपहरण को अनैतिक कृत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में हृदय परिवर्तन-द्वारा ही मानवता का सच्चा हित सम्भव हो सकता है। वे यह आवश्यक नहीं मानते कि अमीर गरीब हो जाय और उसका धन छीन लिया जाय। उनके अनुसार व्यक्ति का निजी सम्पत्ति पर अधिकार उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार ट्रस्टी का ट्रस्ट के धन पर होता है। इस प्रकार समाज में समानता की भावना ही उत्पन्न होती है तथा रक्तक्रान्ति की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। गांधी जी ने साधन और साध्य दोनों की विशुद्धता पर बल दिया है। गांधी जी की इस अपरिग्रही नीति का जैनेन्द्र के साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव लक्षित होता है। जैनेन्द्र के अनुसार, 'अपना कहने को हमारे पास कुछ भी नहीं होना चाहिए।'^४ जैनेन्द्र अर्थ के स्टेट में केन्द्रित होने की नीति के प्रबल विरोधी है। ऐसे समाजवाद को वे राजकीय पूँजीवाद (स्टेट कैपिटलिज्म) की सजा देते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार कानून के जोर से सम्पत्ति पर से निजी अधिकार उठा देने और सार्वजनिक अधिकार बना देने से जड़ और नौकरगद्दी का ऐसा कसा शिकजा ही खड़ा हो सकता है, जिसमें मानव-सम्भावनाएँ खिलने के बजाय मुरझा जायगी। इस प्रकार मानव-विकास कुल मिलाकर घाटे में नहीं रहेगा।^५ जैनेन्द्र के अनुसार गरीबी और अमीरी के भेद को पूर्णतः मिटाया

१ 'I do not believe in the doctrine of the greatest good for the greatest number'

- Mahatma Gandhi 'The Voice of Truth' (P 230, 237)

२ 'ग्रेट्टेस्ट गुड आफ आल', पृ० स० २३७।

३ जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम', पृ० स० ४०६।

४. जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स १४२।

५. जैनेन्द्रकुमार . 'समय, समस्या और सिद्धान्त' (अप्रकाशित)।

नहीं जा सकता। समाज में गरीब और अमीर सदैव बने ही रहेंगे। यान्त्रिक समानता उत्पन्न करना नितात अस्वाभाविक है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार ट्रस्टीशिप की भावना ही राष्ट्र का कल्याण करने में समर्थ हो सकती है। धन-सचय का निषेध करते हुए उन्होंने अर्थ की परमार्थानुमुखता पर बल दिया है। पूजापति को वे सम्पत्ति का संरक्षक ही समझना चाहते हैं, उपभोक्ता नहीं।

जैनेन्द्र के साहित्य में ट्रस्टीशिप की भावना स्पष्टतः लक्षित होती है। 'कल्याणी' तथा 'अनन्तर' में इस तथ्य पर विशेषतः बल दिया गया है। कल्याणी भगवान के मन्दिर के नाम से जो धन संचित करती है, वह परमार्थ हेतु ही प्रयुक्त होता है।^२ 'अनन्तर' में 'शान्ति धाम' की जैसी व्यवस्था व्यक्त की गई है, उसपर गांधी जी का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उसमें व्यक्त किया गया है कि 'समस्त एकत्रित धन समाज का है और धन वाले सिर्फ खजांची हैं। पूजापति का कार्य समाज की आवश्यकतानुसार धन का व्यय करना है।'^३ 'जितना जिसके पास अतिरिक्त है, छोड़ना होगा।'^४ वस्तुतः जैनेन्द्र ने पूजा का निषेध न करके व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृत्ति की ही अवहेलना की है। जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति भाग्य और परिस्थिति के अनुसार भी गरीब तथा अमीर दिखायी देते हैं। भाग्य के परिणाम का निराकरण संभव नहीं हो सकता। यही कारण है कि जैनेन्द्र की दृष्टि में पूर्ण समता संभव नहीं हो सकती।

मार्क्स सामाजिक विषमता के मूल में आर्थिक स्थिति को ही प्रधान मानते हैं, किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार गरीबी का सवाल एकदम आर्थिक नहीं है। सिर्फ धन का न होना दरिद्र का लक्षण नहीं है। उसका सहारा लेकर जो बेबसी और ओछाई की भावना आदमी में समा जाती है, असली रोग तो वह है और इस लिहाज से रक और दीन का प्रश्न नैतिक प्रश्न है।^५ वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार गरीब और अमीर के मध्य की खाई भावना की विशुद्धता, प्रेम और सौहार्द के

१ 'आई डू नाट बिलीव इन डीड इन यूनिफार्मिटी'

जयप्रकाशनारायण 'सोशलिज्म सर्वोदय एण्ड डैमोक्रेसी', पृ० स० ३४०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १४३।

३ 'शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, बल्कि उसके अग्र रूप में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि भी अनिवार्य होते हैं।'

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० १६१।

४ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० १६१।

५ जैनेन्द्रकुमार 'सोच विचार', पृ० स० १३६।

द्वारा ही मिटायी जा सकती है, रक्तक्रान्ति द्वारा नहीं। आर्थिक दान देकर अथवा धन का हस्तान्तरण करके गरीबी को मिटाया नहीं जा सकता, वरन् मानव आत्मा के बीच तनाव ही उत्पन्न किया जा सकता है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने भी अपने साहित्य में गांधीवादी साधन और साध्य की शुद्धता पर बल दिया है। उनके अनुसार समानता लाने का आधार आत्मदान है। वे आर्थिक विषमता का कारण आर्थिक स्थिति में ही नहीं, हार्दिक वेदना अथवा संवेदनीयता के अभाव में ही देखते हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र जिस समानता की कल्पना करते हैं, वह वस्तुगत न होकर आत्मगत है। जैनेन्द्र के साहित्य में व्यक्ति हिसाब, श्रेणी, वाद, और स्तर से ऊपर भावप्रधान है।^१ बड़े बनने की भावना ही पूजीवादी सभ्यता का मुख्य दोष है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'आर्थिक' की जगह पारमार्थिक मूल्य हो, तो व्यक्ति अपने पड़ोसी की कीमत पर बड़े बनने का विचार नहीं अपनाएगा।^२

मनुष्य और मशीन

जैनेन्द्र के अनुसार भौतिक स्तर को बढ़ाने के लिए नित्यप्रति नई-नई मशीनों का आविष्कार हो रहा है, किन्तु प्रतिक्रियास्वरूप मशीन मानव के अस्तित्व के लिए एक खतरा बन गई है। 'श्रम पर पूजा सवार है' मशीन पूजीकृत है और मानव श्रमनिष्ठ है। इस प्रकार मानव और मशीन की समस्या श्रम और पूजा की समस्या के रूप में लक्षित होती है।^३ जैनेन्द्र के अनुसार— 'जो सिर्फ सत् है वह जड़, जिसमें साथ चित्त भी हो वह चेतन। सत् में चित् गर्भित रूप से है ही। जिसमें चित् जगा हुआ है उसे किसी तरह सुलाया जा सके तो चेतन भी जड़ हो जाय। चित् जगाया जा सके तो जड़ भी चेतन हो जाय।'^४ किन्तु आधुनिक युग जड़ता-प्रधान ही हो गया है। मशीन द्वारा दुनिया को स्वर्ग बनाने की चेष्टा की जा रही है, किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि में यह वृत्ति मानव की मृगतृष्णा के सदृश प्रतीत होती है। भौतिक सुख के उन्मेष में वह बहता जा रहा है, किन्तु उसकी आन्तरिक तृष्णा शान्त होने को नहीं है। मुनाफे की

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ८४।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ८४।

३ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ८६।

४ जैनेन्द्रकुमार 'सोच विचार', पृ० स० २१७।

५ 'पूजा और श्रम का सवाल मुझे जड़ चेतन का ही सवाल लगता है।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'सोच विचार', पृ० स० २१७।

वृत्ति ही मशीन की वृद्धि को प्रोत्साहित करने का एकमात्र कारण है। जैनेन्द्र के अनुसार जब तक मनुष्य की अमोघता की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होगा, तब तक भौतिक सुख-सुविधा के द्वारा स्थापित संस्कृति और सभ्यता निर्मूल्य ही रहेगी।

आधुनिक सभ्यता बुद्धिप्रधान है, आस्था और आत्मबल उसमें से लुप्त-प्राय हो गये हैं। इस प्रकार साम्यवादी नीति जो कि पूँजीवाद के विरोध में फलित हुई थी वह भी अपने लक्ष्य को पूर्ण करने में समर्थ न हो सकी। जैनेन्द्र की दृष्टि में पूँजीवाद में यदि आर्थिक विषमता थी तो साम्यवादी विचार आर्थिक खुशहाली के लिए ही प्रत्यनशील है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार पूँजीवाद के उन्मूलन से महाजन का अस्तित्व नहीं रहता है, किन्तु मशीन की अधिकता मजूर और मालिक के भेद को मिटाने में सफल नहीं हो सकती। 'अनन्तर' में जैनेन्द्र ने साम्यवाद के द्वारा होने वाली प्रतिक्रिया पर प्रकाश डाला है।^२ उनकी दृष्टि में जब तक प्रत्येक व्यक्ति सेवा-भाव से युक्त होकर छोटे-से-छोटा कार्य करने हेतु तत्पर नहीं होगा, तब तक व्यक्ति-भेद का दोष समाज से दूर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जैनेन्द्र मानव समाज की प्रगति तथा एकता के हेतु इण्डस्ट्री को विशेष लाभप्रद नहीं मानते। उनके अनुसार 'इण्डस्ट्री के भगोसे देश का काम नहीं चलेगा।'^३ इससे समय का अपव्यय भी होता है। अतएव उद्योगों द्वारा ही मानवता का पूर्ण कल्याण सम्भव हो सकता है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यावसायिक उद्योग से मुक्ति प्राप्त करने के लिए छोटे-मोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

- १ 'पूँजीवादी विचार प्रकट में ही आर्थिक है। साम्यवादी विचार भी सर्वथा आर्थिक है, इसकी मूल प्रेरणा आर्थिक खुशहाली है। कुन्त्र की आर्थिक सम्पन्नता के प्रति आकांक्षा और सम्पन्नता के वर्तमान भोक्ताओं के प्रति विद्वेष जगाने से उसका काम सधता है।'

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० ११२।

- २ 'सब स्वेच्छा से मजूर बन जाते तो शायद वह अलग से नहीं भी रहता। पर वह तो हुआ नहीं। सोचा कि मशीन से मजूर को हटा देंगे। वह भला कैसे हो सकता था? और जो हुआ वह यह कि मजूर रहा और महाजन हटा तो उसकी जगह हज़ार आकर विराजमान हो गए।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० सं० ८६।

- ३ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० सं० ८०।

शारीरिक श्रम

जैनेन्द्र पश्चिम की व्यावसायिक दृष्टि को मानव-कल्याण में बाधक समझते हैं। उनके साहित्य में इसीलिए शारीरिक श्रम और उद्योग पर विशेषतया बल दिया गया है, तथा उन्होंने चर्खे के प्रयोग पर भी जोर दिया है। 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' तथा 'विच्छेद' आदि उपन्यास और कहानियों में उनके आदर्शों की पूर्ण झलक दृष्टिगत होती है। 'सुनीता' में जैनेन्द्र ने शारीरिक श्रम पर सर्वाधिक बल दिया है। हरिप्रसन्न कहता है—'पैसा श्रम का होना चाहिए, मूर्त व चातुर्य का नहीं।'^१ उसके अनुसार शारीरिक अस्तित्व के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर रहना अत्यन्त आवश्यक है।^२ हरिप्रसन्न स्वयं को श्रमिक वर्ग का ही कहलाना चाहता है।

मानव-चरित्र और विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में वैज्ञानिक प्रगति का बहिष्कार नहीं किया है, तथापि उसे विशेष प्रश्रय भी नहीं प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में विज्ञान की प्रगति तभी तक ग्राह्य हो सकती है, जब तक वह मानव-चरित्र के विकास में बाधक नहीं होती।^३ मानव-चरित्र का आदर्शरूप व्यक्ति के स्नेह की सुरक्षा में है। जैनेन्द्र ऐसी सभ्यता (साम्यवादी) को कदापि स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है जो मानव मानव के मध्य दूरी उत्पन्न कर देती है। जयप्रकाशनारायण के अनुसार विज्ञान के प्रभाव के कारण ही आज पड़ोसी अपरिचित हो गया है।^४ 'अनन्तर' में जैनेन्द्र के प्रगतिशील विचारों की स्पष्टता की झलक मिलती है। विज्ञान ने मानव जीवन को अधिकाधिक भौतिक बना दिया है, जिससे आध्यात्मिक दृष्टि का लोप होने लगता है। पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव से भारतीय सस्कृति की स्थिति बहुत दयनीय हो गई है। 'अनन्तर' में विज्ञान के प्रति अपने आक्रोश को व्यक्त करती हुई वनानि कहती है कि 'विज्ञान बड़े तो क्या, मानव-चरित्र को भी घटना ही

१ जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० स० ७२।

२ जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता', पृ० स० ७२।

३. जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० ५६।

४. 'Science has turned the whole world into a neighbourhood, but man has created a civilization that has turned even neighbours into strangers' —Jayaprakash Narayan—
'Socialism, Sarvodaya and Democracy'—(P 162),

चाहिए।^१ जैनेन्द्र के साहित्य में सामाजिक व्यवस्था और प्रगति के हेतु क्रान्ति का उद्घोष दृष्टिगत होता है। यह क्रान्ति देश, समाज और राष्ट्र से अधिक अपने पड़ोसी को लेकर फलित होती है, क्योंकि आज व्यक्ति आकाश की ओर दौड़ रहा है, किन्तु धरती पर अपने पड़ोसी से अपरिचित है। जैनेन्द्र के अनुसार 'समाज और देश का आरम्भ पड़ोसी से है, अन्यथा देश, समाज, प्रान्त धारणाएँ हैं, और वे कहीं हैं ही नहीं।'^२

जैनेन्द्र के साहित्य का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि विश्व के समस्त द्वन्द्वों का मूल व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति ही है। 'स्व' और 'पर' चाहे व्यक्ति, व्यक्ति के सम्पर्क में हो अथवा राष्ट्र, और राष्ट्र के सन्दर्भ में हो, द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न करने में ही सहायक होते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार वास्तविक प्रगति स्वार्थ-वृत्ति के निषेध में ही सम्भव हो सकती है। मन्वे क्रान्तिकारी का उद्देश्य व्यक्ति में परमार्थ की भावना का उदय करना है, जिससे वह मानवता के हित के लिए उन्मुख हो सकता है।^३ जैनेन्द्र की पारमार्थिक दृष्टि पूर्णतावादियों के सदृश ही मानव जाति के हित का उद्घोष करती है।^४

प्रजातन्त्र

उपरोक्त सभी वाद—पूजावाद, समाजवाद, साम्यवाद व्यक्ति जीवन की समस्या का समाधान करने में असमर्थ हैं। प्रजातन्त्र द्वारा यह कल्पना की जाती

१ जैनेन्द्रकुमार 'अन्तर', पृ० स० ५६।

२ जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, पृ० स०, पृ० ७६।

३ 'पशु भी स्वत्व को लेकर जन्मता है, मनुष्य ही है जो परिवार में और समाज में जन्म लेता है। वही है आत्म। 'आदर्श के लिए जीने में इसलिए उतनी महिमा नहीं है, जितनी पड़ोसी के लिए जीने में है'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ८, पृ० स० ७६।

४ 'जिस स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को अन्य विचारकों ने शाश्वत समस्या का रूप दे दिया था, उसे पूर्णतावादियों ने मानव-सत्य के आधार पर समझाया और उसे आकर्षक, सुन्दर, व्यापक, वास्तविक तथा कल्याणकारी रूप दिया। यदि इस सत्य के आधार पर आज के विश्वव्यापी शोषक-शोषित के प्रश्न को सुलभाये तो व्यक्ति और राष्ट्र के ध्वंस के बदले एक उन्नत मानव जाति का निर्माण हो जायगा, जिसे पाश्विक प्रवृत्तियाँ छिपाये हुए हैं।'

है कि उसमें प्रजा द्वारा अर्थात् जनता द्वारा जनता के हित पर ही ध्यान दिया जायगा। बाह्य रूप में देखने पर प्रजातन्त्र की प्रणाली राजकीय व्यवस्था के हेतु शुभ प्रतीत होती है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'मुक्तिबोध' में प्रजातान्त्रिक प्रणाली की विवेचना की है। उनके अनुसार 'प्रजातान्त्रिक प्रणाली में— पार्लियामेण्ट में बस दो-चार बरस उछलकूद करने का मौका मिल जाता है। बाहर के लोग देखते रहते हैं कि हमारा आदमी क्या कर रहा है, इस तरह नकेल तो बाहर हम लोगों के हाथ ही रहती है। नहीं तो जनतन्त्र के माने कुछ नहीं रह जाते।' वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में प्रजातन्त्र स्वयं में सदोष नहीं है। उसका उद्देश्य जनता में ही पूर्ण होता है, किन्तु प्रजातन्त्र में भी कुछ ऐसे दोष विद्यमान हैं, जिनके कारण जनता और पार्लियामेण्ट के सदस्यों के मध्य पुनः दूरी उत्पन्न हो जाती है और नेता स्वयं को प्रशासक समझने लगते हैं। भारत जैसे गरीब देश के मुट्ठी भर नेता जनता के पैसे का सुखभोग करते हैं। उन्हें पर्याप्त मात्रा में भत्ता प्राप्त होता है।^१

प्रजातन्त्र में 'नेपोटिज्म' की भावना को आधार मिलता है। सदन का सदस्य जनता से अधिक अपने भाई-भतीजों का सेवक होता है। परिवार के लोग अपनी प्रतिष्ठा और प्रगति के हेतु ही अपना प्रतिनिधि सदन में भेजते हैं। इस दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यास 'मुक्तिबोध' के विचार बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। 'मुक्तिबोध' का नायक प्रसाद स्वच्छन्द रूप से जनसेवा करने के हेतु पार्लियामेण्ट से त्यागपत्र लेना चाहता है। वह अपने परिवार के लोगों की स्वार्थ प्रवृत्ति से पूर्णतः अवगत है। इसलिए वह पद से मुक्ति चाहता है। उसके पदारूढ होने से अन्य लोग अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। इसलिए उसे बार-बार पदग्रहण के हेतु विवश किया जाता है।^२ प्रसाद के पद-त्याग करने से उसके पुत्र का भविष्य नहीं बन सकता। समाज में उसे प्रतिष्ठित स्थान नहीं प्राप्त हो सकता।^३ प्रसाद अन्ततः सदस्यता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। अन्त में जब उसे विवश होकर पद ग्रहण करना पड़ता है तब उसकी दृष्टि में

१ जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', प्र० स० १६६५, पृ० स० २४।

२ 'पार्लियामेण्ट में हमने अच्छा खासा भत्ता अपने लिए तैयार कर रखा है, उससे पहले जानते हो और भी ठाठ थे।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'मुक्तिबोध', पृ० स० ४३।

३. जैनेन्द्रकुमार : 'मुक्तिबोध', पृ० स० १३।

'आपका मन भर चुका होगा, पर हमें तो अभी सब कुछ पाना है।'...

४. जैनेन्द्रकुमार : 'मुक्तिबोध', पृ० स० ६२।

नियम और आदर्श ही प्रमुख हो जाता है, लडका या दामाद का स्वार्थ नहीं। वह अपनी दृढ़ता के कारण अपने ही परिवार के लोगों की बेईमानी का रहस्योद्घाटन करने में सकोच नहीं करता। वस्तुतः जैनेन्द्र-साहित्य के माध्यम से ज्ञात होता है कि प्रजातंत्र में शाब्दिक आकर्षण अवश्य है, किन्तु मूल में व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रवृत्ति ही प्रधान है।

निष्कर्षतः साहित्य में जैनेन्द्र ने किसी भी वाद-विशेष का सहारा नहीं लिया है। उनकी दृष्टि में मानव-हित की कामना ही मुख्य आदर्श है, अन्य सब वाद जो कि आदर्श का ढोंग करते हैं, केवल अहं को पुष्ट करने में ही सफल होते हैं, व्यक्तिरूप में नहीं। व्यक्ति-हित अथवा मानव जाति की उन्नति के हेतु 'स्व' का समर्पण अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में 'स्व' को बहुत ही व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया है, उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का अपना 'स्व' होता है। यह स्वत्वमूलक भावना ही व्यक्ति में राष्ट्रीयता की भावना को उद्भूत करती है। राष्ट्र-प्रेम में अपनत्व का भाव अन्तर्निहित रहता है, किन्तु जैनेन्द्र जीवन के किसी भी स्तर पर स्वार्थ को नहीं टिकने देना चाहते। अतएव विश्व के लिए राष्ट्रीय स्वार्थ का त्याग भी मानवता का परम आदर्श है। जैनेन्द्र के साहित्य की महत्ता इस तथ्य में समाहित है कि वे देश और राष्ट्र के लिए किसी भौगोलिक-सीमा को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सीमा-रेखा खींचने से आदर्शगत भिन्नता होते हुए भी भावनाओं में अन्तर नहीं आता। इसीलिए उनके साहित्य में बार-बार सम्पूर्ण मानव जाति के ऐक्य तथा देश-विदेश के भेद को दूर करके प्रेम पर आधृत अभेदमूलक दृष्टि की प्रतिष्ठापना की है। 'मुक्तिबोध', 'अनन्तर', 'जयवर्धन' आदि उपन्यासों तथा 'बीडिस' आदि कहानियों में यही महत्वपूर्ण दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की मानवतावादी दृष्टि के मूल में गांधी की अहिंसक नीति की झलक दृष्टिगत होती है। 'स्व' और 'पर' के मूल में उनकी अहिंसात्मक दृष्टि ही प्रधान है। अहिंसा और प्रेम एक ही सिक्के के दो पक्ष के सदृश हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र ने अपनी अहिंसात्मक नीति के कारण ही साम्यवादी रक्त-क्रान्ति का निषेध किया है।

सर्वोदय

जैनेन्द्र की दृष्टि में समस्त मतवाद अहतामूलक है, क्योंकि उनकी दृष्टि सीमित स्वार्थ तक ही केन्द्रित है। यदि व्यक्ति की दृष्टि में अपना या विशिष्ट सस्था अथवा मत का ही हित प्रधान न होकर सारी मानव जाति के हित की भावना प्रधान हो तो, सारा द्वन्द्व और भेद ऐक्य और अभेद के सागर में विलीन

होकर समाप्त हो जायगा। जैनेन्द्र के साहित्य में ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि को श्रेणियों में न विभाजित करके केवल व्यक्ति रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में व्यक्ति अर्थात् 'सर्व' के उदय में ही सच्ची प्रगति का भाव निहित है। सर्वोदय का एकमात्र आधार प्रेम है। यदि परस्पर प्रेम का भाव तथा अहंशून्यता हो तो 'पर' के निषेध से उत्पन्न सारे द्वन्द्व स्वतः ही समाप्त हो जायगे। जैनेन्द्र की मानवतावादी दृष्टि गांधी के सर्वोदय के सिद्धांत से ही प्रभावित प्रतीत होती है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों का चित्रण तथा उन परिस्थितियों में व्यक्ति के उठते-गिरते मूल्यों, बदलते परिवेशों को अपने आदर्श के धरातल पर विवेचित किया है। जैनेन्द्र के साहित्य की विषयवस्तु बहुत ही व्यापक है। यद्यपि उन्होंने प्रमुखतः व्यक्ति-जीवन की अन्तर्निष्ठ सत्यता को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया है, तथापि व्यक्ति के चतुर्मुखी विकास की ही अवहेलना नहीं की है। उन्हें समाज की वे ही विचारधाराएँ अभिभूत कर सकी हैं, जो व्यक्ति-हित में केन्द्रित हैं। इस प्रकार उनकी साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्ति को केन्द्रस्थ मानकर द्वन्द्वात्मक स्थितियों से गुजरती हुई अग्रसर होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि समस्तवादों से तटस्थ प्रतीत होते हुए भी गांधी की सर्वोदय नीति की ओर झुकी हुई है।

आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा

जैनेन्द्र के अनुसार मानवमात्र की प्रगति का आधार जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में ही निहित है। जैनेन्द्र ने अपनी नवीनतम कृति 'समय, समस्या और सिद्धान्त' में स्पष्टतः स्वीकार किया है कि—'भौतिक व्यवस्था की आवश्यकता के नीचे आध्यात्मिक मूल्यों को अपनाने से सत्ता और सम्पत्ति का स्वयं अवमूल्यन होगा। आपसी प्रतिस्पर्धा और आपाधापी की वृत्ति अनावश्यक होकर भरेगी, तब मूल्य बाह्य पदार्थ से हटकर भीतरी चरित्र में निष्ठ होगा और देख सकेगा कि जो समता साम्यवाद से और सामाजिक समाजवाद से लानी अशक्यप्राय थी वह अनायास भीतर से उठती जा रही है।'^१



जैनेन्द्र : परम्परा और प्रयोग



साहित्य में उपन्यास का महत्व

प्राधुनिक हिन्दी साहित्याकाश में 'उपन्यास-कला' अपना एक अभूतपूर्व स्थान रखती है। यो कविता, नाटक और आख्यान के द्वारा मानव जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न होता रहा है, किन्तु उनमें जीवन की समग्रता और सहजता का अभाव था। व्यक्ति का जीवन प्रेम, घृणा और सहानुभूति तथा द्वेष आदि से पूर्ण है। उसमें राजनीति, समाज, धर्म, अर्थ आदि की सापेक्षता में नाना संघर्षमूलक घटनाएँ घटित होती रही हैं। जीवन में जहाँ सौन्दर्य, आकर्षण तथा शान्ति है, कुरूपता और क्षुद्रता तथा अशान्ति का भी स्थान है। मानव जीवन के इतने व्यापक परिवेश की समग्र अभिव्यक्ति एकमात्र उपन्यासों के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। मानव जीवन की यथार्थता की अभिव्यक्ति में उपन्यास जितनी उपयुक्त विद्या है, उतनी साहित्य की अन्य कोई विद्या नहीं है। उपन्यास का साहित्य में वही स्थान है, जो प्राचीनकाल में महाकाव्य का था।

‘कविता में शब्दों पर अधिक बल दिया जाता है और उसमें एक प्रकार की अपार्थिवता रहती है।’ उपन्यास हमारे परिचित समाज, व्यक्तियों और तथ्यों का चित्रण करता है, तभी तो उपन्यास पढ़ लेने के उपरान्त हम कह उठते हैं—‘ऐसा ही होता है।’ इस प्रकार साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, सम्भावनाएँ और स्वतन्त्रता,

व्यक्तित्व और मूल्यों का निरूपण अधिक होता है।^१

उपन्यास साहित्य की परम्परा

उपन्यास-साहित्य के आविर्भाव-काल से लेकर आज तक की रचनाओं में परिस्थिति और आवश्यकतागत अनेकानेक मोड़ (परिवर्तन) दृष्टिगत होते हैं। प्रारम्भ में उपन्यास और कहानियाँ जादू, चमत्कार आदि विचित्रताओं से पूर्ण होती थीं। किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री आदि ने उपन्यास-जगत को अपनी देन से गौरवान्वित तो अवश्य किया, किन्तु उनमें ऐसी जीवन्त शक्ति नहीं थी जो काल की सीमा को पार करती हुई स्थायित्व ग्रहण कर सकती। उनमें न तो तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण है और न ही मानव जीवन की अन्तश्चेतना की वह अभिव्यक्ति जिसे सहज ही स्वीकार किया जा सके।

उपन्यासकार प्रेमचन्द

उपन्यास-कला का पूर्ण विकसित रूप हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही प्राप्त होता है। प्रेमचन्द के उपन्यास जीवन के जितने व्यापक परिवेश को अपने में समेटे हुए हैं, उतना किसी अन्य उपन्यासकार के द्वारा सम्भव नहीं हो सका है। जीवन की बहुमुखी धारा उनके साहित्य में विविध स्रोतों से प्रवाहित हुई है। तत्कालीन जीवन की ऐसी कोई भी समस्या नहीं थी, जो प्रेमचन्द की लेखनी के द्वारा बच निकली हो। 'घर और बाहर' अर्थात् भाई-भाई के झगड़े, जमीन और जायदाद से लेकर, राजनीति और समाज की विविध समस्याएँ प्रेमचन्द के उपन्यासों का विषय बनीं। इस प्रकार उपन्यासों द्वारा साहित्य में विविधता का समावेश हुआ उसमें मानव जीवन से सान्निध्य स्थापित करने की प्रेरणा उद्भूत हुई।

साहित्य का परिवर्तनशील सत्य

जिस प्रकार कथा साहित्य की परम्परा में प्रेमचन्द के उपन्यास एक नवीन कड़ी के रूप में प्राप्त हुए तथा उनके द्वारा साहित्य-जगत को एक नवीन दृष्टि, चेतना और स्फूर्ति प्राप्त हुई, उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर साहित्य में जैनेन्द्र भी एक नवीन चेतना लेकर अवतरित हुए। काल अनन्त है। अखण्ड है किन्तु विकास अथवा प्रगति काल की सापेक्षता में ही फलित होती है। विविध प्रवृत्तियाँ अपनी विशिष्टता के कारण युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं और

१. डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय · 'बीसवीं शताब्दी . हिन्दी साहित्य नये सदर्भ'
प्रथम स०, १९६६, इलाहाबाद, पृ० २५१-२५२।

साहित्यिक जीवन में नवीनता का संचार करती है। कालान्तर में वही प्रवृत्तियाँ प्राचीन और परम्परागत समझी जाने लगती हैं। काल की अनन्तता में ही परम्परा और प्रयोग का द्वैत समाया हुआ है। मानव जीवन और काल सतत् परिवर्तनशील है। आज जो है, वह कल नहीं रहेगा। कल होने वाला परिवर्तन आकस्मिक न होकर स्वाभाविक ही होता है। यदि प्रगति एक स्थान पर जड़-वत हो जाय, आगे का मार्ग अवरुद्ध हो जाय तो वह प्रगति, प्रगति न होकर अवनति ही सिद्ध होगी।

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य जगत् में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं, किन्तु प्रेमचन्द की महानता के साथ काल की गति जड़बद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही उपन्यास-साहित्य का चर्मोत्कर्ष मानकर भावी उपन्यास-सृजन के हेतु उन्हें ही कसौटी बनाया जाय तो किञ्चित् असंगति ही प्रतीत होगी। यद्यपि यह सत्य है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में सम-सामयिकता से ऊपर उठकर मानव जीवन के सार्वभौम रूप की अभिव्यक्ति की है तथापि प्रेमचन्द को ही साहित्य आदर्श की आधारशिला मानने से भावी साहित्य में दृष्टिगत परिवर्तन निरर्थक सिद्ध होगा। वस्तुतः काल की गति किसी केन्द्र से बद्ध नहीं है, वरन् सतत् प्रवाहशील है। किन्तु परिवर्तन अनिवार्य और स्वाभाविक होते हुए भी कभी भी परम्परा से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं होता। काल की अनन्तता के मूल में एक शाश्वत सत्य सदैव विद्यमान रहता है, जिससे परंपरा और परिवर्तन के बीच कोई एक रेखा नहीं खींची जा सकती। सत्य की सर्वव्याप्ति के कारण ही काल की अन्विति बनी रहती है। वस्तुतः नवीनता, प्राचीनता अथवा परम्परा के निषेध का प्रतिफल नहीं है। परम्परा की भूमि पर ही नवजागरण की प्रतिक्रिया सम्भव होती है। जैनेन्द्र परम्परा से प्रगति का विरोध नहीं मानते। इसीलिए वे प्रगति में प्रेम रखते हुए भी परम्परा के प्रति आदर रखते हैं। उन्हें विस्मय है उन व्यक्तियों पर जो परम्परा के विच्छेद से प्रगति का आरम्भ चाहते हैं। जैनेन्द्र की दृष्टि में परम्परा से ही जो पुष्पित और फलित नहीं होती, वह प्रगति नहीं है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार 'परम्परा को वह नहीं जानता, नहीं मानता जो उसे अतीत से जड़ित और भावी से विहीन करता है। वस्तुतः परम्परा का वह प्रेम जो उस प्रवाह को रोकता और बाधता है, गति में अनर्गलता का हठ पैदा करता है। वह गति निरकुश और भोगवादी होती है।'^२ साहित्य की विषयवस्तु और उसके

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्' प्र० स० १९६२, पृ० स० ४-५।

२ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्', पृ० स० ५।

आकार-प्रकार, रूप-योजना आदि में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होने से साहित्य की आत्मा में परिवर्तन नहीं होता ।

साहित्य में जैनेन्द्र का आविर्भाव

उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द के अनन्तर जैनेन्द्र साहित्य-जगत में एक नवीन प्रयोग के रूप में अवतरित हुए हैं। यद्यपि जैनेन्द्र का उद्देश्य साहित्य में नवीन प्रयोग प्रस्तुत करना नहीं रहा है, और न ही वे प्रयोग के पक्ष में हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रयोग के प्रयास में लेखक के 'अह' अथवा आग्रह की ही पुष्टि होती है, जब कि जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य अह विसर्जन की भावना को लेकर ही फलित हुआ है। आदर्श और मर्यादा के सीमित परिवेश में आबद्ध व्यक्ति चेतना निस्तेज और जड़ हो चले थे। बाह्य जीवन की समस्याओं तथा उनके सुधार में साहित्यकार इतने व्यस्त थे कि अनन्त जगत की आवाज उनसे अनसुनी-सी ही रह गई। व्यक्ति-परिवेश और परिस्थितियों में ही नहीं जीवित रहता, उसे अपना जीवन रस आत्मा से ही प्राप्त होता है। व्यक्ति की वास्तविकता और उसका सत् स्वरूप उसके अन्तस् में ही निहित होता है। सत्य के भीतर होने के कारण ही हम उस पर अपने छल का आवरण डालने में सफल होते हैं। किन्तु सत्य तो अविजेय है। सत्य के अवदमित रूप का कभी-न-कभी विस्फोट अवश्यम्भावी है। प्रेमचन्द का साहित्य जीवन के समतल धरातल पर सहज गति से बहने वाली सरिता के स्रष्टा बहता चला गया, न उसमें कभी त्वरा आई और न ही कोई अवरोध ही आया। उसमें आन्तरिक द्वन्द्व, मनस्थितियाँ तथा व्यक्तिगत जीवन की सत्यता और व्यक्तित्व के विधायक तत्वों की ओर दृष्टिपात नहीं किया गया है। वस्तुतः प्रेमचन्दोत्तर काल के साहित्य में आदर्श की भाव-धारा यथार्थ में प्रवाहित होने के लिए मार्ग ढूँढ़ रही थी। 'क्या होना चाहिए' से इतर 'क्या है' को जानने की उत्कट लालसा साहित्यकारों को भी पीड़ित करने लगी थी। ऐसी ही अभाव-जन्य स्थिति में जैनेन्द्र का साहित्य एक नवीन दिशा के निर्देश के रूप में अवतरित हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द ने भी अपने जीवन की अन्तिम रचनाओं में यथार्थ जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति की है, किन्तु यथार्थता का पूर्ण वपन जैनेन्द्र के साहित्य में ही संभव हो सका है।

प्रेमचन्द-साहित्य की व्यापक धारा सिमट कर एक सकरी धारा में प्रवाहित होने लगी। व्यापकता की प्रतिक्रिया के कारण उसमें सघनता का प्रादुर्भाव हुआ। जैनेन्द्र के साहित्य की सघनता ही उन्हें बाह्य जगत से अन्तर्जगत् की गहराई की ओर ले गई। प्रकृति का नियम है कि बाह्य जीवन की समस्याओं

से घबड़ाया हुआ व्यक्ति एकान्त, नीरव स्थल पर आत्मचिन्तन द्वारा विश्रान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैनेन्द्र का साहित्य भी मानो आत्मचिन्तन और आत्माभिव्यक्ति का काल है। जैनेन्द्र के साहित्य में समष्टि से व्यष्टि को पृथक् करके पहचानने की चेष्टा की गयी है तथा पुनः समष्टि के प्रति समर्पित होने का प्रयास दृष्टिगत होता है। जैनेन्द्र की साहित्यिक-संरचना साहित्य-जगत में एक नवीन चेतना का संचार करती है। जैनेन्द्र के साहित्य में नवीनता की चर्चा करते हुए यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि उन्होंने सप्रयास प्रेमचन्द की साहित्यिक-दिशा में नवीनता लाने की चेष्टा की है और व्यवस्थित तथा सुधरे हुए व्यक्ति चिन्तन में उथल-पुथल करने का प्रयास किया है। किन्तु उपरोक्त दृष्टिकोण जैनेन्द्र के साहित्य की सच्चाई को नहीं व्यक्त करता। जैनेन्द्र ने विचार और तर्क के आधार पर पारम्परित विचारधारा के मार्ग को अवरोध नहीं किया है, वरन् भाव और हार्दिकता के सहारे मानव जीवन की गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र के साहित्य का मुख्य स्वर—मानव जीवन की सहजता और सत्यता की अभिव्यक्ति में ही मुखरित हुआ है। नित्य-प्रति के जीवन में व्यस्त व्यक्ति असंतुष्ट, उद्विग्न और उत्पीडित है, किन्तु वह नहीं जानता कि उसके असन्तोष का उत्स कहा गर्भित है? वह परिस्थिति के समक्ष विवश-सा बना रहता है। पारस्परिक तनाव, विद्रोह और विक्षोभ के कारण वह व्यक्ति, व्यक्ति के मध्य एक गहरी खाई उत्पन्न कर देता है, किन्तु यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि ऐसा क्यों है? क्यों उसकी निजता अथवा 'स्व' 'पर' से विमुख होकर द्वेष और घृणा का कारण बनती है? जैनेन्द्र ने कस्तूरी मृग के सदृश भ्रमित मानव को स्वकेन्द्रित ग्रहता बोध कराया, जो समस्त द्वन्द्वों का मूलाधार बनी हुई है।

व्यक्ति और अन्तश्चेतना

जैनेन्द्र के सम्बन्ध में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित है कि उनका साहित्य व्यक्ति-प्रधान है, उसमें समाज के सघर्षों और समस्याओं का निषेध किया गया है। मानव जीवन में होने वाली विविध सामाजिक-समस्याओं से जैनेन्द्र के साहित्य में विमुखता दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के साहित्य को स्वरति का पोषक माना जाता है। यह सत्य है कि जैनेन्द्र ने बाह्य परिवेश से अधिक आन्तरिक द्वन्द्व को उभारने और उसके कारणों से निदान पाने का प्रयास प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि बाह्य द्वन्द्व का कारण ग्राह्य हो सके तो बाह्य स्थिति से उलझने की कोई आवश्यकता नहीं है। सच्चाई तल में निहित होती है, सतह पर तल में सगा-हित अकुर ही प्रस्फुटित होते हुए देखे जाते हैं। जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकार

बाह्य स्थितियों से इतने उलझे हुए थे कि अन्तर्भूत सत्य को जानने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला। जैनेन्द्र के साहित्य में अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति के प्रयास को देखकर उन्हें व्यक्तिवादी नहीं माना जा सकता। बाद में आग्रह का भाव समाहित होता है। परिच्छेद छ में जैनेन्द्र के व्यक्ति सम्बन्धी विचारों पर विचार करते हुए जैनेन्द्र को व्यक्तिवादी माना गया है, किन्तु वहाँ भी व्यक्तिवाद का तात्पर्य केवल व्यक्ति के हित को प्रमुखता प्रदान करना था। व्यक्ति के हित में अनन्त व्यक्ति-मानव की निजता स्वतः ही समाहित हो जाती है। जैनेन्द्र का लक्ष्य धर्म, अर्थ और राजनीति के मध्य व्यक्ति के हित को प्रमुखता देना रहा है। किन्तु प्रस्तुत परिच्छेद में जैनेन्द्र की व्यक्ति-प्रधान दृष्टि उनकी आत्मनिष्ठा की ओर इंगित करती है। इसी आत्मनिष्ठा के आधार पर आलोचकों ने उनके साहित्य में सामाजिकता के अभाव की ओर संकेत किया है। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र का विचार है—‘अन्तश्चेतना का स्रोत अन्तर्मुखी है, किन्तु उसकी अभिमुखता कभी भीतर होती ही नहीं। वह सदा ही इतर के सम्बन्ध में होती है। वह बहिर्मुख होने, लोकाभिमुख होने को बाध्य है। व्यक्तिवादिता का प्रश्न प्रतिक्रिया है, जो चेतना लोकाभिमुख है, उसमें परामुखता स्वीकार करे तब वह व्यक्तिवादिता बनती है अर्थात् इन्द्रिया तो बहिर्मुख होती ही है। चेतना का कार्य दोहरा है—बाह्य का स्पर्श और उसका सवहन्। वस्तुतः सारा जीवन अग्रोन्मुखी है। यदि ऐसा नहीं है तो यही समझना चाहिए कि कहीं अवरोध आ गया है और उस अवरोध का प्रश्न चिह्न प्रवाह को खोलने से है।’^१ वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में आत्मप्रधानता होते हुए भी ‘पर’ का निषेध नहीं किया गया है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में जो स्वरतिमूलक भाव दृष्टिगत होता है, वह भी ‘पर’ की स्वीकृति में ही हो सका है। जैनेन्द्र इस तथ्य का पूर्णतः खण्डन करते हैं कि उन्होंने सामाजिकता से परे केवल आत्मोन्मुखता को ही प्रश्रय दिया है। पारम्परिक विचारों से उनमें जो मुख्य भिन्नता दृष्टिगत होती है, वह है अन्तस् की स्वीकृति। व्यक्ति भेद के कारण अभिव्यक्ति में भी अन्तर आना स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त अन्तश्चेतना आत्मगत सत्यता पर ही अवलम्बित है। जैनेन्द्र के अनुसार यदि बाह्य जीवन का बोध अन्तर्मुखी होता हुआ पुनः बाह्योन्मुख न होता तो व्यक्ति जीवन का समाज में कोई महत्त्व न रहता। ‘स्व’ ‘पर’ से विच्छिन्न होकर अपनी निजता अर्थात् अहता को ही पुष्ट करता है। किन्तु जैनेन्द्र की मान्यता है कि बाह्य दृश्य या स्थिति आत्मा के स्पर्श से अधिकाधिक महिमामयी बन जाती है। स्व

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

की सार्थकता ही नहीं, यदि पर की स्वीकृति न हो तो। स्व और पर ही सृष्टि के आधार है। इस प्रकार पर की स्वीकृति द्वारा समाज से विमुखता का प्रश्न ही नहीं उठता। वरन् समाज की ओर उन्मुखता को ही प्रश्रय मिलता है।

जैनेन्द्र के साहित्य में दृष्टिगत आत्मनिष्ठा का आधार मनोविज्ञान है। जैनेन्द्र ने अपने पात्रों के अचेतन मन में अवस्थित ग्रन्थियों को सुलभाने का प्रयास किया है। व्यक्ति के आचरण में जो विकृति और वैचित्र्य दृष्टिगत होता है उसका कारण उसके अन्तस् में निहित कोई ऐसी ग्रन्थि है जो उसे सहज नहीं होने देती। जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान के सहारे व्यक्ति की अन्तः प्रकृति का उद्घाटन किया है। सामान्यतः हम व्यक्ति के बाह्य आचरण में उत्पन्न दोष के कारण व्यक्ति-विशेष को अच्छा या बुरा, दोषी या निर्दोष समझने लगते हैं, किन्तु यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि ऐसा क्यों होता है? जैनेन्द्र ने व्यावहारिक मनोविज्ञान के द्वारा आचरण के उत्स को जानने की चेष्टा की है। इसलिए वे कार्य से अधिक कारण पर बल देते हैं। 'सुखदा', 'विवर्त' और 'सुनीता' में 'सुखदा', जितेन और हरिप्रसन्न के मन में एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व है, जिसके कारण वे असामान्य कार्य करते हैं और वे यह नहीं समझ पाते कि उनके आचरण में आने वाली विचित्रता और ध्वसात्मकता का क्या कारण है? किन्तु सत्य स्पष्ट है कि विद्रोह और क्रान्ति का कारण आन्तरिक अभाव और पारस्परिक द्वेरी ही है। इसलिए जैनेन्द्र अपने पात्रों द्वारा होने वाली बाह्य चेष्टाओं, तोड़-फोड़ में कोई सार नहीं देखते, क्योंकि सत्य तो कार्य के कारण में समाहित होता है। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार यदि कारण में सत्य की स्वीकृति हो जाय तो कार्य की प्रतिक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैनेन्द्र . सुधारवादी नहीं

जैनेन्द्र आत्मनिष्ठ लेखक है। व्यक्ति की आंतरिक स्थिति ही बाह्य द्वन्द्व अथवा समस्या का कारण है। इसलिए उपर से सुधार का प्रश्न व्यर्थ है। जैनेन्द्र स्वयं को सुधारवादी नहीं मानते। 'जैनेन्द्र से पूरे साहित्य की महत्ता का मूलाधार उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति में ही अन्तर्भूत था, किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि जो सामाजिक मान्यता प्रकृतिगत सत्य को स्वीकार करने के लिए नहीं बनी है, वह अधिक दिन नहीं चल सकती। सुधार समय-सापेक्ष होता है। आज

१ 'सत्य को स्वीकार करके आज की मान्यताओं को उससे जोड़ दे तो वह मान्य हो जायगा, इसलिए मैं सुधारवादी नहीं हूँ।'

एक समस्या उत्पन्न होती है और उसमें सुधार की आवश्यकता का अनुभव होता है। ऐसी समस्याओं को लेकर लिखा गया साहित्य कार्य-विशेष में ही जीता है और अपना प्रभाव डालता है, किन्तु सीमित काल के अन्तर उसका महत्व समाप्त हो जाता है और वह बासी पुष्प के सदृश अप्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के अनुसार सुधार की प्रवृत्ति सम-सामयिकता को लेकर ही होती है।^१ उनकी दृष्टि में सुधार तो सदैव बाह्य स्थितियों का ही होता है। उसमें जितना भी ऊपरी परिवेश है, उसमें कितना भी सुधार हो, हमेशा अपर्याप्त रहेगा। उनकी दृष्टि में वृक्ष यदि सूखता है तो उसके ऊँचे से हरियाली लाने से क्या लाभ? आन्तरिक रस से ही उसमें सच्चे रूप में हरियाली आ सकती है। ऊपरी आकार (फार्म) में इधर-उधर से परिवर्तन आने से समस्या का समाधान सम्भव नहीं हो सकता। वस्तुतः आज साहित्य के लिए आवश्यक है—चेतना का उभार और सस्कार। जैनेन्द्र के अनुसार साहित्य का ध्यान उसी पर केन्द्रित होना चाहिए। सामाजिक रीति-नीति पर अटकने से समस्या का सही निदान नहीं प्राप्त होता है। जो ऊपर से दिखता है वह क्षणिक तथा नश्वर है, उसमें स्थायित्व की क्षमता नहीं होती, अतएव साहित्य और जीवन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है—प्रेम की स्वीकृति। जो मान्यताएँ रूढ़ और जड़ हो गई हैं, उनमें निश्चय ही जीवन का रस-प्रवाह रुक गया है। आज साहित्य की आवश्यकता, जीवन में रस के प्रादुर्भाव और संचार में ही पूर्ण हो सकती है।

वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से पूर्णतः भिन्न है। वे किसी भी स्थिति को आत्मता से निरपेक्ष रहकर स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि इनके साहित्य में, विधवा विवाह, वेश्यावृत्ति उन्मूलन आदि किसी भी समस्या के सुधार का बीड़ा नहीं उठाया गया है। 'परख' में बाल विधवा कट्टों के प्रति लेखक में पूरी सहानुभूति है, किन्तु वे चाहते हुए भी विधवा-विवाह को सामाजिक स्तर पर सम्पन्न होते हुए नहीं दिखा सके हैं और न ही इस सम्बन्ध में सुधार के हेतु उन्होंने कोई सुदृढ़ कदम ही उठाया है। उनका विश्वास है कि सुधार ऊपर से थोपी हुई वस्तु है। यदि सुधार की दृष्टि अन्तः प्रसृत हो तो उसमें दबाव के स्थान पर स्वेच्छा और सहजता का प्रादुर्भाव

-
१. 'आज आवश्यकता के दबाव में आकर हम राष्ट्रीय रचना माग सकते हैं और उसकी अभ्यर्थना कर सकते हैं। लेकिन काम निकलने पर वही हमारे लिए भूल जाने लायक पदार्थ बन सकता है। जिसका ऐसा भाग्य हो, उसे साहित्य नहीं कहते।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'जैनेन्द्र की कहानियाँ,' भाग ६, (भूमिका से)।

होगा। इस प्रकार किसी समस्या की प्रतिक्रिया की स्थिति नहीं उत्पन्न होगी और समाज में हार्दिकता का सन्निवेश होगा। प्रेमचन्द ने सुधार पर बल दिया था, अन्तश्चेतना पर नहीं। किन्तु एक के सुधार से दूसरे की समस्या का समाधान नहीं होता। एक समस्या दूसरे स्थान पर अपना मार्ग खोजती है और सुधार की अन्तिम स्थिति की सम्भावना कही भी नहीं की जा सकती। किन्तु जैनेन्द्र का विश्वास है कि यदि सुधार 'मूल' (रूट काज) में हो तो ऊपरी रूपाकार पर अटकने की आवश्यकता नहीं होगी।

जैनेन्द्र ने समाज की कुरीतियों और रूढ़ियों में सुधार न करने के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में सुधार के प्रश्न को निराधार सिद्ध किया है। जैनेन्द्र की दृढ़ मान्यता है कि प्रेम की स्वीकृति में शोषक और शोषित की समस्या कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। उनके अनुसार जिसमें पीडात्मक प्रेम होगा, वह शोषक और धनाढ्य बनेगा ही नहीं। दूसरे के शोषण में अपना पोषण होता है। अपना पोषण अपने-आप में कोई सार्थकता नहीं रखता। अतएव शोषण को समाप्त करने के लिए शोषण की जड़ को ही समाप्त कर देना होगा। वस्तुतः शोषण को समाप्त करने से अधिक, जहाँ से शोषण की वृत्ति निकलती है, उसे रोकना ही सच्ची सामाजिकता है। जैनेन्द्र के अनुसार सच्ची सामाजिक चेतना, मानव-सवेदना से पृथक् हो ही नहीं सकती। मानव-सवेदना ही मानव जीवन का परम साध्य है। कानून और नियम के आधार पर बनी सामाजिकता में हार्दिकता का अभाव रहता है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में ही मानव-सवेदना का स्वर मुखरित होता हुआ दृष्टिगत होता है। उन्होंने 'स्व' 'पर' की समस्या को ही समस्त द्वन्द्वों का आधार माना है। जब तक स्वार्थनिष्ठ है, तब तक समाज का कल्याण सम्भव नहीं हो सकता। यदि 'स्व' में 'पर' के प्रति परस्परता अथवा प्रेम की भावना का समावेश हो जाय तो विद्रोह की स्थिति ही नहीं उत्पन्न होगी। देश ही नहीं, विश्व में व्याप्त सारे सघर्षों का मूल कारण स्वार्थ अर्थात् 'पर' का निषेध है। पर के सत्कार में सत्य की स्वीकृति होती है, इसलिए सारे विकार सत्य में समाहित होकर स्वतः ही निर्मल हो जाते हैं। जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के जीवन में 'स्व' 'पर' की सार्थकता से लेकर राष्ट्र के हित में भी 'स्व' और 'पर' की भावना को ही आधार बनाया है। मानव जीवन की विराट् भूमि उनके साहित्य में सिमट कर समा गई है, अन्तर यही है कि उन्हें घटनाओं का जाल नहीं फैलाना पड़ा, क्योंकि विविधताओं का मूल एक ही रहा है। जीवन की व्याप्ति को सीमित परिवेश में लेने के कारण उसमें प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो गई है। यही वह मापदण्ड है, जिसमें वे व्यक्ति के साथ समाज को भी

स्वीकार करते हुए अग्रोन्मुखी हुए है। अतएव यह कहना कि जैनेन्द्र के व्यक्ति समाज के साथ जुड़ते नहीं हैं, उचित नहीं प्रतीत होता है।

साहित्य · कल्याणमय

सृष्टारवादी लेखक के समक्ष साहित्य की उपयोगिता की दृष्टि प्रधान होती है। उपयोगिता को लक्ष्य बनाने में व्यक्ति का अहंभाव प्रदर्शित होता है। किन्तु सच्चा साहित्य अहं के विसर्जन में से ही प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः उपयोगिता को दृष्टि में रखकर जो साहित्य-सृजन होगा, वह उत्तम साहित्य नहीं माना जायगा। उपयोगी होने में साहित्य की आत्मा अथवा रसानुभूति का क्षय हो जाता है। इसीलिए साहित्य का स्वरूप शिवमय अथवा कल्याणमय होता है। कल्याणकारी होना नहीं है। शिवमयता ही साहित्य की सत्यता है। साहित्य भावमय होता है। उसमें कर्तृत्व का भाव नहीं रहता। अतएव जिसको विचार व्यक्त कहे, वह साहित्य का आदर्श नहीं हो सकता। साहित्य का आदर्श वही हो सकता है जो विविध वृत्ति के व्यक्तियों के लिए समान हो सके।

साहित्यगत विभिन्न वाद उपयोगितावाद को ही आधार बनाकर लिखे गए हैं। प्रगतिवादी साहित्य सामाजिक विषमताओं और दारिद्र्य को दूर करने के प्रयत्न में ही रचित है। मार्क्सवादी विचारक, साहित्य द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करने के हेतु प्रयत्नशील रहे हैं। विभिन्न वाद-प्रतिवाद अपने पक्ष का समर्थन करते हैं किन्तु साहित्य का सत्य वाद-विवाद के द्वन्द्व में परिवर्तित नहीं होता। साहित्य का आदर्श वही हो सकता है जो सार्वभौम और सर्वकालीन हो। इस प्रकार 'स्व-पर' दोनों दृष्टियों से साहित्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं दृष्टिगत होता। आत्मप्रेक्षी भाषा में वही आत्मलाभ है और वस्तुप्रेक्षी भाषा में प्रेम-लाभ।^१ प्रेमास्पद हमसे भिन्न होकर वस्तुलक्षी हो जाता है किन्तु आत्म और वस्तु, 'स्व' और 'पर' के हित में अन्तर नहीं प्रतीत होता।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का अर्थ सीमा का अस्वीकार नहीं है। सारे प्रयोजन सीमा के साथ हैं, लेकिन आस्था असीम की ओर चलती है और वही मूल पूजी है। साहित्य का प्रयोजन तत्कालीनता में अथवा सम-सामयिकता में परिबद्ध होना नहीं है। सामयिकता का स्पर्श करते हुए उसकी गति काल के पार होनी चाहिए, जहाँ समस्त विभक्तताएँ एक सत्य में समाहित हो जाती हैं। किन्तु जैनेन्द्र के अनुसार— 'जब हम प्रयोजन को ही अपने-आप में पोषना और

पालना चाहते हैं तो वह दूसरे अथवा दूसरे के प्रयोजन के टक्कर में आ जाता है।^१ इस प्रकार साहित्य में राग-द्वेष की भावना पनपने लगती है। किन्तु साहित्य का लक्ष्य प्रेम की पूजा को धनीभूत करना है। जैनेन्द्र का साहित्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर एक प्रतिक्रिया है। आत्मनिष्ठ सत्य, उनके सम्पूर्ण साहित्य में यही स्वर मुख्य रूप से मुखरित हुआ है। वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य का सत्य उसकी उपयोगिता अथवा समाज के सुधार में निहित होकर व्यक्ति की आत्मा में अन्तर्भूत है। जैनेन्द्र ने विषय के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् टैकनीक के क्षेत्र में भी साहित्य-जगत में भी सहजता का सूत्रपात किया है।

साहित्य और समाज

जैनेन्द्र की दृष्टि में लेखक का कर्तव्य समाज के एक रुख के साथ चलना नहीं है। समाज के साथ चलने वाला लेखक समाज की मर्यादा के दबाव में जीवन की सत्यता का उद्घाटन करने में असमर्थ होता है। दबाव में आकर साहित्य-सृजन की प्रक्रिया सत्य-असत्य का निर्णय करने में असमर्थ होती है। इसीलिए जैनेन्द्र समाज के रुख से अधिक उसके रोग की ओर देखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। जैनेन्द्र समाज की परम्परागत लकीर पीटने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। उनकी दृष्टि में यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक रचना सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो ही। किन्तु जैनेन्द्र समाज की स्वीकृति की चिन्ता में अपने आदर्शों से विचलित नहीं होते। जिस समय जैनेन्द्र ने साहित्य-जगत में पदार्पण किया, उसी समय उन्हें लेकर बहुत टीका-टिप्पणी हुई। किन्तु उन्होंने अपनी आलोचना से घबड़ाकर समाज के समक्ष घुटने टेकना आवश्यक नहीं समझा। यही कारण है कि वे अन्ततः अपने वैचारिक सत्य का अनुगमन करते रहे हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार—‘साहित्य पथ-निर्देश यदि करता है तो इरादे से नहीं पथ प्रकाशित करता है। साहित्य उस स्रोत का उद्घाटन करता है, जिसे प्रकाश का मूल कहना चाहिए। अगर उससे जीवन के सत्य को स्पष्टता प्राप्त होती है और जगत की पहेली भी स्पष्ट-सी लगती है तो यह परिणाम कहा से अनायास प्राप्त होते हैं, साहित्य का अपना अभिप्रेत नहीं है, वह तो मात्र सत्य शोध या आत्मावगाहन है।’^२

जैनेन्द्र समाज के साथ-साथ चलने के पक्ष में नहीं है। इसीलिए उनके साहित्य में वर्तमान से ऊपर उठने की चेष्टा लक्षित होती है। समय से बंध कर साहित्य

१ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, भाग ६, पृ० सं० १३।

२ जैनेन्द्रकुमार ‘समय, समस्या और सिद्धान्त’।

का स्वरूप चिरस्थायी नहीं हो पाता। अतएव साहित्य के लिए कालातीत होना आवश्यक है। उनकी दृष्टि में शेष साहित्य वही है जो काल को जीतता हुआ टिका रह जाता है। साहित्य में एक का एकत्व विलीन होकर सर्वत्व में समा जाता है। इस प्रकार साहित्य विशिष्ट व्यक्ति और स्थिति का प्रतिनिधि न होकर सर्वकाल का हो जाता है। जहाँ साहित्य तत्काल की यथार्थता से आगे नहीं जा पाता, वहाँ साहित्य अपने स्थायित्व की क्षमता को खो बैठता है। साहित्य का लाभ ही यह है कि वह तत्काल को और यथार्थ को भावी सम्भावनाओं की दिशा में आकर्षित करता है और जीवन को मार्गदर्शन देता है। यह समझना कि साहित्य मात्र सामाजिक यथार्थ का दर्पण है, जैनेन्द्र को मान्य नहीं है।^१ हजारों वर्षों के बाद आज भी यदि शास्त्र हमारे लिए जीवित है तो यही कारण है कि कथा के साथ ही उसमें जीवन, धर्म और जीवन कर्म को उद्घाटित करने की क्षमता विद्यमान है। इसीलिए साहित्य वह तत्व बन पाता है, जो काल की विभक्तता को अपने भाव से भर देता है तथा हमसे चिरन्तन, शाश्वत सत्य को जाग्रत करता है।

जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध में इसीलिए असामाजिकता का आरोपण किया जाता है। किन्तु जिसे हम सामान्यतः असामाजिकता समझते हैं, वह जैनेन्द्र के कालातीत विचारों का द्योतक है। साहित्य में कुछ अशो में अतिरेक भी स्वीकार्य हो सकता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी यथार्थ सत्य की अभिव्यक्ति के हेतु साहित्य में अतिशयोक्ति को आवश्यक माना है। यथार्थ के सत्य को यथातथ्य रूप में ग्रहण करने से उसकी अभिव्यक्ति में भावों की प्रभावोत्पादकता उतनी अधिक नहीं हो जाती, जितनी कि अतिशयोक्ति के आधार पर होती है।^२

साहित्य और टैकनीक

भाव के अनुकूल ही जैनेन्द्र ने भावाभिव्यक्ति भी की है। जिस प्रकार विषय काल की सीमा में परिमित नहीं है, उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता भी नये-पुराने के बन्धन से पूर्णतः उन्मुक्त केवल अभिव्यक्ति ही है। उनकी दृष्टि में भाव न कभी नये बनते हैं और न पुराने होते हैं। बनना केवल आकार का ही होता है। किन्तु आकार की भी सीमा है। लेखक के लिए यह जानना आवश्यक है कि कहीं भाव कला इतनी प्रमुख न हो जाय कि भाव दब जाए।

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२ रवीन्द्रनाथ टैगोर : 'साहित्य', पृ० २२।

नपी-तुली आकृति के भीतर साहित्य-सृजन करने से आकृति प्रधान हो जाती है और सृजन कार्य गौण हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार आत्मा सूक्ष्म है। वह अन्तर्निष्ठ है। शरीर के ढाँचे से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर तो केवल आत्माभिव्यक्ति का साधन है। जैनेन्द्र के साहित्य का अभ्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने उपन्यास अथवा कहानी की कला से अधिक उसके सत्य पर बल दिया है। उनका विश्वास है कि कहानी कला के ज्ञान के अभाव में भी महानतम कृति की रचना सम्भव हो सकती है। जैनेन्द्र के अनुसार 'क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है, जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो, जिसे मानव यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोध भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता। जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है।' वस्तुतः जैनेन्द्र के अनुसार जिस प्रकार शरीर के यन्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी कोई वैज्ञानिक शिशु की सृष्टि नहीं कर सकता, उसी प्रकार साहित्य की टैकनीक को जानने से ही साहित्य-सृजन सम्भव नहीं हो सकता। जैनेन्द्र की दृष्टि में साहित्य के सृजन के लिए आवश्यक है आत्मबोध अथवा पीड़ा। पीड़ा के रस से आर्द्र हुआ व्यक्ति ही सच्चा साहित्यकार बन सकता है। जैनेन्द्र के साहित्य का उत्स उनकी पीड़ा में ही समायामा है, इसीलिए उनके पात्रों के जीवन में आत्म-पीड़न का भाव अधिक दृष्टिगत होता है।

आधुनिक साहित्य में विषय से अधिक आकार को प्रधानता दी जाती है। नया-पुराना साहित्य परम्परागत साहित्य से अतिरिक्त कोई नितान्त नवीन स्थिति अथवा स्वरूप नहीं है। नया कुछ पैदा नहीं होता और पुराना त्याज्य नहीं होता, शर्त यह है कि जो स्वीकृत हो वह काल की विभक्तता से परे हो तथा उसमें उपयोगिता से अधिक सत्यता का समावेश हो। जैनेन्द्र के अनुसार नये-पुराने शब्द की सार्थकता एक स्थिति तक ही लागू हो सकती है। उसके आगे उसकी सार्थकता नहीं है। वे ऊपरी है तथा रूप सज्जा की अपेक्षा से है। जैनेन्द्र के अनुसार आरम्भ से ही नानावादों के द्वारा विविध भावों का प्रतिनिधित्व होता रहा है, किन्तु आधुनिक काल में भगडा प्रवृत्ति के शब्द पर ही अटक गया है, 'नयापन' अथवा पुरानापन। नयेपन के जोश ने साहित्यकारों को पुराने साहित्य के प्रति आस्थाशून्य बना दिया है। जैनेन्द्र नये-पुराने के भेद को समझने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। उनकी दृष्टि में तो आने वाला हर क्षण ही नवीन है और बीता हुआ हर क्षण पुराना है। क्षण के पुराने और नये होने से साहित्य की अखण्डता में कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु आजकल नयेपन

द्वारा अद्भुत की सृष्टि की जा रही है। जैनेन्द्र के अनुसार अद्भुत के प्रति उत्सुकता सदा रही है और रहेगी। अद्भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ है। तीन टाग का आदमी आज यदि पैदा हो, तो क्या वह जल्दी पुराना पड़ जायगा....?’ जैनेन्द्र के अनुसार नवीनता का यह प्रेम सनातन सत्य को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। नयापन तभी स्वाभाविक हो सकता है, जब वह अन्त प्रसूत हो। केवल रूपकार में नवीनता लाने का प्रयत्न टिकाऊ नहीं होता। वह केवल फैशन का द्योतक है।

जैनेन्द्र कहानी-लेखन को कोई ऐसी साधना नहीं मानते जिसके लिए अभ्यास करना पड़े। कहानी को अकहानी कहकर उसमें नवीनता का बोध कराना अस्वाभाविक है। उनकी दृष्टि में कहानी की विद्या का क्षेत्र कितना व्यापक है कि उसमें कहानी और अकहानी सभी समा जाती है।

जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों के सम्बन्ध में स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे कहानी-लेखन की किसी परिपाटी से बंधे न रहने के कारण उनकी प्रत्येक कहानी स्वयं में सहज ही नवीन बन गयी है। ‘एक कहानी दूसरी जैसी नहीं बनी। सब अपने-आप में स्वतन्त्र और भिन्न बनती चली गयी है।’^१ वस्तुतः जैनेन्द्र किसी परिपाटी से पृथक् सहजाभिव्यक्ति को ही अपनी कला का दृष्ट मानते हैं। ‘उनकी दृष्टि में’ हर व्यक्ति को साहित्य के क्षेत्र में हिम्मत होनी चाहिए कि वह अपनी कलम के साथ अकेला खड़ा हो, गोल या भुण्ड बाधकर जीने की आदिम आदत को चुनौती देता रहे।

वस्तुतः जैनेन्द्र का साहित्य कला के बोझ से दबा न होते हुए भी भाव-गरिमा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। जैनेन्द्र को हम कबीर के स्तर में रखकर अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं। कबीर की भाषा सधुक्कड़ी होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से अविस्मरणीय है। जैनेन्द्र के साहित्य में भी प्रभाव की गरिमा स्पष्ट दृष्टिगत होती है। अभिव्यक्ति में सहजता लाने के लिए यत्र-तत्र उनकी अभिव्यक्ति रचनाओं में चित्रमयता स्फुट रूप से लक्षित होती है। टूटे-फूटे शब्दों के माध्यम से भी भाव-भंगिमा पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।^२ कभी-कभी लेखक का एक ही वाक्य अन्तः और बाह्य प्रकृति के द्वन्द्व को व्यक्त करने में सक्षम

१ जैनेन्द्रकुमार . ‘इतस्तत्’, पृ० १३३।

२ जैनेन्द्रकुमार . ‘कहानी . अनुभव और शिल्प’, १६६, प्र० स०, दिल्ली।

३. ‘वह क्षण भर मुझे देखती सी देखती रह गयी, मानो बिंधी हिरिणी हो। बिंध कर ही बाधिन बन उठी हूं, लेकिन हूँ प्रकृत हिरिणी ही।

होता है, यथा—‘कल्याणी’ में एक कर्ण मुस्कराहट के भाव से उनका चेहरा पीला पड़ गया। उपरोक्त कर्ण मुस्कराहट से कल्याणी के अन्तस् की पीड़ा और द्वन्द्व सहज ही मुखरित हो उठता है। जैनेन्द्र के साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण वस्तुता से अधिक अन्तः प्रकृति पर बल दिया गया है।

जैनेन्द्र से पूर्व के उपन्यासकारों ने मनोविज्ञान की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान के शास्त्रीय रूप का अनुगमन न करके व्यावहारिक रूप को ही अपनाया है। मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण लेखक की अभिव्यक्ति के रूप में भी अन्तर दिखायी देना स्वाभाविक ही है। जैनेन्द्र के साहित्य में विषय-विस्तार और पात्रों की संख्या का अभाव है। एक क्षण की अनुभूति भी कहानी का विषय बन जाती है। व्यक्ति-विशेष के जीवन की घटना भी उपन्यास का विषय बनती है। जैनेन्द्र को उपन्यास-रचना के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्बन्ध ढूँढने की आवश्यकता नहीं हुई। उनकी कहानी तथा उपन्यासों में बिखराव से अधिक सघनता है। पात्र भी भावाभिव्यक्ति में विस्तार से अधिक संकेत से काम चला लेते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनमें बहुत से चरित्र अपने उत्कर्ष पर पहुँचे बिना बीच में ही समाप्त हो जाते हैं। कथा का अन्त दिखाने में लेखक के समक्ष कठिनाई उपस्थित होती है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य में ऐसी स्थिति नहीं है। उनके उपन्यासों में पात्रों की भीड़ देखने को नहीं मिलती। मनोवैज्ञानिक लेखक के लिए ऐसा सम्भव भी नहीं हो सकता। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य में अन्त-द्वन्द्व प्रधान है।

जैनेन्द्र के पात्रों का व्यक्तित्व सदैव सम्भाव्य होता है। उनके सम्बन्ध में पूर्ण निर्णय नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। वे एक ऐसी अनबूझ पहेली हैं, जिन्हें समझना मुट्ठी में बाधना है। उनके जीवन के सम्बन्ध में अनन्त सम्भावनाएँ हैं। वे पूर्व निश्चित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य नहीं हैं, वरन् परिवर्तनशील जीवन के सत्य और भावी जीवन की सम्भावनाओं की ओर उत्सुकता बनाए रहते हैं। प्रेमचन्द ने जिस पात्र को प्रारम्भ में जिस स्तर का गढ़ दिया है, वह अन्ततः उसी स्तर का बना रहेगा। आदर्श समझा जाने वाला पात्र अतत कभी भी कोई त्रुटि नहीं करता। जैनेन्द्र के पात्र इस कृत्रिमता से वंचित हैं। जैनेन्द्र प्रेमचन्द के सान्निध्य में रहते हुए भी उनकी परिपाटी का अनुसरण नहीं कर सके हैं। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेमचन्द अपने पात्रों के चरित्र की सक्षिप्त रूप-रेखा पहले से ही अपनी डायरी में लिख लेते थे, यथा “‘दमयन्ती साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम पर तेज बोलने वाली है। वात्सल्यमयी

पर ईर्ष्यालु***इत्यादि ।^१ इससे स्पष्ट होता है कि प्रेमचन्द के पात्र एक निश्चित रूपारूप में ढलकर ही विकसित होते हैं। उनके पात्रों के सम्बन्ध में सब कुछ स्पष्ट होता है। इसीलिए उनका चरित्र समझने में कठिनाई भी नहीं होती। वे रेलगाड़ी के सव्ध अपनी पटरी से इधर-उधर नहीं जाते, क्योंकि उनमें जोखिम उठाने का साहस नहीं है। जबकि जैनेन्द्र के पात्रों का व्यक्तित्व सस्पेंस की स्थिति में पाठक को भरमाता रहता है। उनकी अधिकांश सभी रचनाओं में पात्रों की यही प्रकृति है। 'त्यागपत्र' की मृणाल हो अथवा 'कल्याणी' में कल्याणी के सम्बन्ध, हमारे मन में सदैव एक गहरे सशय की स्थिति बनी रहती है। सीधी-सादी मृणाल के सम्बन्ध में भला यह कल्पना की जा सकती थी कि वह कोयले वाले की गन्दी कोठरी में जाकर रहेगी और फिर वहाँ भी न रुक सकेगी। कल्याणी के व्यक्तित्व में कहीं भी ठहराव नहीं है। वह कभी कुछ कहती है और कभी कुछ। कभी लेखिका बनती है, कभी गृहिणी और कभी डाक्टरानी। इन सब से परे उसका अन्तर्द्वन्द्व बाह्य जीवन को उद्वेलित किए रहता है। उसके व्यक्तित्व का रहस्य उसके बाह्य जीवन से प्राप्त नहीं हो सकता। बाह्य स्थिति तो हमें एक उलझन में डाल देती है। हम केवल 'अधे का भेद', 'गवार', 'कह-पथा' आदि कहानियों में हम सत्य का रहस्य जानने के लिए प्रतिपल उत्सुक रहते हैं। यह उत्सुकता ही जैनेन्द्र के साहित्य का प्राण है। यदि जिज्ञासा समाप्त हो जाय तो साहित्य जीवन-शक्ति शून्य प्रतीत होगा। लेखक पात्रों के साथ ही पाठक को भी मकड़ी के जाले के सदृश अपने में ही उलझाये रहता है। जैनेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके पात्र पाठक की सम्भावना के विपरीत क्यों न जायें, किन्तु वे पाठक की सवेदना से वंचित नहीं हो पाते। कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जिसे 'त्यागपत्र' की मृणाल को अपनी हार्दिकता अर्पित करने में सकोच हो अथवा कल्याणी के विक्षोभ और पीड़ा पर किसका मन भुभुलाहट के साथ ही साहनुभूति से न भर उठेगा।

जैनेन्द्र की रचनाओं की सबसे बड़ी समस्या है, उसका समझ में आना। उनकी कुछ रचनाओं को छोड़कर अधिकांश सभी के साथ हमें कठिन साधना करनी पड़ती है। 'कल्याणी' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास का रसास्वादन करने के लिए उसे एक बार पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जैनेन्द्र ने पात्रों के जीवन में इतने गैप दिखाए हैं कि उन्हें भली प्रकार समझें बिना उनके व्यक्तित्व को समझना दूभर है। अतएव उनकी रचनाओं को पढ़ते समय पाठक को बहुत

१. जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प', पृ० स० ३८।

सजग रहना पड़ता है। उनके पात्रों के साथ ही पाठक को भी भागना पड़ता है। एक पक्ति का भी साथ छूटा कि बस गड़बड़ हुई। इस प्रकार उनकी रचना के प्रत्येक शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके साहित्य में यत्र तत्र प्रयुक्त रिक्त स्थानों () का बहुत ही महत्व है। 'कल्याणी' में ऐसे उद्धरण बहुत मिलते हैं। इन अभावों के कारण ही जैनेन्द्र के साहित्य में हम केवल सम्भावना पर ही चलते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में घटनाएँ तो अधिक नहीं हैं कि उनके पात्रों के सहारे व्यक्तित्व की गुत्थी सुलझ सके। अतएव अनुभूतिगत सूक्ष्मता एवं विचार-तत्त्व को ग्रहण करने के लिए उनके साहित्य के अदृश्य सूक्ष्म सत्य को जानना आवश्यक है। जैनेन्द्र के अनुसार कहानी का सत्य घटना में निश्चित होता है। अतः उसे घटनाओं में ही ढूँढना पड़ता है, शब्दों में नहीं। 'कल्याणी' के व्यक्तित्व की सारी समस्या तब सहज ही स्पष्ट हो जाती है, जब कि उसकी समस्त क्रियाओं के प्रेरक अन्तः मन में हम प्रवेश करते हैं। वह प्रेम के अभाव में कर्तव्य करते हुए भी विक्षिप्त-सी रहती है, जिसके कारण उसके जीवन में सन्तुलन और व्यवस्था का अभाव रहता है। इसी प्रकार 'गदर के बाद', व, 'गवार', 'पान वाला' आदि कहानियों में सत्य की एकड़ के अभाव में कहानी के साथ आत्मसात् होना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन का अन्तः सदैव सम्भाव्य है, निश्चित नहीं है, यही कारण है कि वे अपने पात्रों के जीवन की अन्तिम परिणति नहीं दिखाते। इस प्रकार वे अपनी रचनाओं की पूर्णता में भी अपूर्णता का संकेत देते हैं। 'जानने को शेष बना ही रहता है' यही उनके जीवन-दर्शन का प्रमुख आदर्श है। व्यक्ति जानने के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु सृष्टि का सारा-का-सारा रहस्य वह नहीं जान सकता, क्योंकि वह स्वयं अपूर्ण है।

जैनेन्द्र के साहित्य में पात्रों के जीवन को अधिकाधिक साकेतिक रेखाओं के द्वारा ही व्यक्त किया गया है। कहीं-कहीं तो अन्तर्कथाओं का एक-दो शब्दों में संकेत भर कर दिया गया है, यथा—'कल्याणी' में कल्याणी अपने विवाह से पूर्व जीवन का वृत्तान्त बताती है, पर विस्तार से नहीं, उसमें सक्षिप्तता में रहस्य बना ही रहता है। पाठक के मन की जिज्ञासा और भी तीव्र हो उठती है। एक स्थल पर कल्याणी कहती है—'खैर, विवाह हुआ वह भी एक कहानी है पर छोड़िए।' और वह तुरन्त विषय बदलती हुई कहने लगती है—'विवाह से स्त्री पत्नी बनती है*' इस प्रकार वह यह नहीं स्पष्ट करती कि उसके विवाह से सम्बन्धित कहानी क्या है? ऐसी स्थिति या जैनेन्द्र की रचनाओं में बहुत अधिक मिलती है। वस्तुतः जैनेन्द्र की कहानियों और उपन्यासों में

प्रत्येक व्यक्ति अपने भाव को पीता हुआ चला जाता है, किसी पर अपने भाव उडेलता नहीं, बिखेरता नहीं ।'

रहस्यमयता

जैनन्तः के उपन्यास और कहानियों की एक बड़ी विशेषता, उसमें निहित गुह्यता और रहस्यमयता है । जैनन्तः के पात्रों का जीवन ऐसी भूल-भुलैया है जिसमें भटकने का भय सदा ही बना रहता है । उसमें घटनाओं द्वारा एक-के-बाद दूसरे सत्य का उद्घाटन इस प्रकार होता है कि हम क्षण भर के लिए स्तम्भित रह जाते हैं । रचना का आरम्भ ही कुछ ऐसे ढंग से होता है कि कहानी की भावी घटना का कुछ आभास ही नहीं मिलता । उस दृष्टि से 'अधे का भेद' तथा 'पान वाला' कहानी अपनी विशिष्ट स्थान रखती है । एक सामान्य अन्धे भिखारी की कथा हमें कहा से कहा ले जाएगी, इसका हम आरम्भ में अनुमान भी नहीं लगा सकते । रहस्य के खुलते ही अधा भिखारी हमारी दृष्टि में एतना ऊँचा उठ जाता है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते । उभी भाति आखों में सुरमा डाले छबीले पान वाले का क्या इतिहास हो सकता है तथा बाह्य साज-सज्जा और चंचलता के पीछे एक गहन पीड़ा में वह कराह रहा है, इसका हम अनुमान ही नहीं कर सकते । वह कौतूहल उत्पन्न करने वाला व्यक्ति अन्त में बरबस हमारी सहानुभूति का पात्र बन जाता है । वस्तुतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनन्तः घटनाओं में ही नहीं, वरन् पात्रों के व्यक्तित्व की भी रहस्यमय सृष्टि करने में दक्ष है ।

घटनात्मक दृष्टि से जैनन्तः की 'मौत का भय' कहानी में सत्य को इतनी सफाई और सूक्ष्मता से छिपाते हुए चलते हैं कि कहानी का मूल भाव उत्तरोत्तर भय मिश्रित जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है । जब हमारा भय और उत्सुकता अपने उत्कर्ष पर पहुँचती है तब वे अपनी इतनी सफाई के साथ धीरे से दो-एक शब्दों में सत्य का उद्घाटन करके तटस्थ हो जाते हैं और पाठक लेखक की चतुराई और लेखन-क्षमता पर चकित हो उठता है । प्रस्तुत कहानी में लेखक का उद्देश्य मृत्यु दिखाना नहीं है, वरन् उसका भय दिखाना है । जिसमें वह पूर्णतः सफल होता है । इस प्रकार लेखक ने अपने वर्णन-कौशल द्वारा जीवन के महान सत्य का उद्घाटन किया है । मौत के भय मात्र से व्यक्ति की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है और वह सोचने को विवश हो जाता है कि मौत कितना भयंकर सत्य है, जिसके भय मात्र से ही व्यक्ति की स्थिति विषम हो जाती है ।

वस्तुतः, जैनन्तः के अनुसार जिस प्रकार मानव जीवन सम्भावनाओं पर

चलता है, उसी प्रकार साहित्य-प्रक्रिया भी सम्भावित ही होनी चाहिए। यही कारण है कि जैनेन्द्र की रचनाओं को पढ़कर ही समाप्त कर लेने पर पाठक का कर्तव्य पूरा नहीं हो पाता, क्योंकि रचना का अन्त तो उसे स्वयं ही सोचना पड़ता है। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'भाग्य के प्रति जो साश्चर्य नहीं है, वह पहले से जीवन के भेद को यदि किसी धियरी के रूप में मुट्ठी में बांधे हुए है, तो पाठक को किस आकर्षण से खींच सकेगा।'^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में सुनिश्चित, सुनिर्दिष्ट प्रयोजन में बाधकर होने वाली रचना साहित्यिक सृष्टि न हो सकेगी। उसमें बुद्धि का दबाव ही अधिक रहेगा। जैनेन्द्र की अधिकांश कहानी तथा उपन्यासों में यह शैली स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। 'मास्टर जी', 'क पथा', 'पाजेब', 'आत्मशिक्षण' आदि कहानियों में एक अज्ञात उत्सुकता अन्त की ओर खींचती है। किन्तु कभी-कभी तो अन्त में भी सच्चाई अस्पष्ट बनी रहती है।

जैनेन्द्र की भाषा

जैनेन्द्र के साहित्य में भाषा प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुई है। वह साधन है, साध्य नहीं। सत्य की पकड़ भाषा द्वारा सम्भव नहीं हो सकती।^२ सत्य को शब्दों में सीमित करके हम सत्य की महत्ता को क्षीण कर देते हैं। 'कल्याणी' में शब्द की असमर्थता की ओर इंगित किया गया है। उनके अनुसार 'शब्द' बुद्धिनिर्मित 'शब्द' सतह की लहरो को गिनते हैं, गहराई को वे कहा नापते हैं? क्या वे उसको तनिक भी पाते हैं, जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है? रेखा में बधता है?^३ जैनेन्द्र के साहित्य में विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। भावात्मक स्थलों की अभिव्यक्ति के लिए उनके समक्ष भाषा असमर्थ-सी प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में मौन ही सम्भाषण की भाषा बनती है। जैनेन्द्र के साहित्य में ऐसे अनगिनत स्थल हैं, जहाँ उनके पात्र वाणी द्वारा जो कहने में असमर्थ होते हैं, उसे वे मौन द्वारा निवेदित करते हैं। जैनेन्द्र की भाषा की सजीवता, प्रभावोत्पादकता, चक्षुषमत्ता और हार्दिकता का जो स्वरूप 'परख' में मिलता है वह हिन्दी साहित्य-जगत में अपना बेजोड़ स्थान रखता है।^४ बिहारी के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में

१ जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० स० ४०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १००।
'भाषा पहरावन है और शब्द कोई भी सार सत्य को नहीं पकड़ सकता।'

३ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० १०१।

४ जैनेन्द्रकुमार 'परख', पृ० ७५-७६।

कट्टो का मौन परिस्थिति को और भी भारी बना देता है। बिहारी के हर प्रश्न के उत्तर में 'कट्टो चुप—सुन।' 'कट्टो सुन—मूर्तिवत्।' 'कट्टो मूर्ति-सरीखी-जडवत्।' 'कट्टो जडवत्—अचेत...पर देखो-देखो, कट्टो अचेत मूर्छित होकर गिरी जा रही है।' की स्थिति हमारे हृदय पर लगातार ऐसा प्रहार करती है कि हम कट्टो के साथ ही जडवत् हो जाते हैं। शब्द के अभाव में भी कट्टो के हृदय का उद्गार हमारे अन्तस् को भिगोता ही नहीं, वरन् आकण्ठ भर देता है। हम चेतनाशून्य हो उठते हैं। मानसिक स्थिति की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति जैनेन्द्र की प्रतिभा से ही सम्भव हो सकी है। उसमें बनावट से कोसों दूर सहजता और भावोद्रेक का अपार सागर उमड़ा पड़ता है।

जैनेन्द्र भाषा का बन्धन नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में यदि भाषा भावों की अभिव्यक्ति में बाधक रहती है तो उसकी उपादेयता महत्वहीन हो जाती है। जैनेन्द्र ने अपनी रचना-काल के आरम्भ से ही सहज तथा भावानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया है। भाव-भाषा के जिस रूप में वह निकला उसे उन्होंने रोकने की चेष्टा नहीं की। 'फासी', 'एकरात' आदि कहानियों में तथा 'अनन्तर', 'मुक्तिबोध' आदि उपन्यासों में अंगरेजी के शब्दों का ही नहीं, पूरे-पूरे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। जो कि पात्रों के अनुकूल ही है। उसमें जबर्दस्ती हिन्दी का लोभ प्रदर्शित करना वे उचित नहीं समझते। जैनेन्द्र ने अंगरेजी ही नहीं, उर्दू भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उन्होंने बहुत ही शायराना ढंग से भाव व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पात्र, वर्ग और मन स्थिति के अनुकूल भी शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिससे विषय की महिमा द्विगुणित हो गई है।

साराशतः जैनेन्द्र के साहित्य में मन स्थितियों का ही उद्घाटन हुआ है। जैनेन्द्र की कहानियों या उपन्यासों में ही नहीं, वरन् अधिकांशतः नई कहानियों में घटनाओं का घटाटोप कम है, जिसे जैनेन्द्र शुभ मानते हैं।

उपन्यास और कहानी के सङ्घर्ष ही जैनेन्द्र के निबन्ध भी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरसता और व्यावहारिक विषयों की स्वीकृति में ही लक्षित होती है। उन्होंने गम्भीर से गम्भीर विषय का विवेचन नित्य-प्रति की घटनाओं के आधार पर इतनी सरल भाषा और शैली में किया है कि उसमें कथा की-सी रसानुभूति प्राप्त होती है। 'सोच-विचार', 'इतस्तत्', 'परिप्रेक्ष', जैनेन्द्र के विचार में समग्रहीत निबन्ध इसी शैली पर आधारित हैं। निबन्धों में भी सत्य को स्पष्ट रूप में व्यक्त न करके संकेत द्वारा ही काम चलाया है। 'दही और समाज', 'जरूरी

भेदाभेद', 'व्यवसाय का सत्य' आदि निबन्धों द्वारा अपरोक्ष रूप से समाज के धनी वर्ग पर प्रहार किया है।

लोकोत्तर तथा मानवेत्तर विषय

जैनेन्द्र ने लोकोत्तर तथा मानवेत्तर विषयों को अपनी रचना का विषय बना कर साहित्य में एक नवीन कड़ी जोड़ी है। 'नीलम प्रदेश की राज कन्या' इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। लेखक ने कल्पना की तूलिका से मानवीय बिम्ब प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। उपरोक्त कहानी का सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से नीलम देश की राजकुमारी के विचार जैनेन्द्र की सापेक्षिक (स्यादवाद) की दृष्टि के पोषक है।

मानवेत्तर कहानियों में 'एक गौ' तथा 'दो चिड़िया' और 'चिड़िया की बच्ची' अत्यन्त मार्मिक और सत्यानुभूति का उद्घाटन करने वाली कहानियाँ हैं। जैनेन्द्र की दृष्टि में प्रेम मानव जीवन की ही अनिवार्यता नहीं है, वरन् बुद्धिशून्य पशुपक्षी भी हृदय और प्रेम की भाषा पहचानते हैं। जड़ प्रकृति को भी उन्होंने प्रेम के आकर्षण से पूर्ण माना है। जैनेन्द्र कोरे विचारक ही नहीं हैं, सहृदय व्यक्ति भी हैं। अपार सहृदयता के कारण ही उन्हें चहचहाती चिड़िया के जीवन काल में भी मानवीय प्रेम के दर्शन होते हैं। छोटी चिड़िया में भी प्रेम का अकुर होता है, जो वय प्राप्त करते ही प्रस्फुटित हो उठता है। चिड़िया की आत्मविभोरता और चहचहाहट के द्वारा लेखक ने उसके हृदय में उत्पन्न होने वाले प्रेम को व्यक्त किया है। 'अम्मा-अम्मा' कहकर वह अपनी अन्तस् प्रेम का ही उद्घाटन करती है। उसके पास भावाभिव्यक्ति के लिए शब्द नहीं हैं, किन्तु उसकी चंचलता ही अभिव्यक्ति का प्रसाधन है। वह प्रकृति से केवल प्यार ही नहीं करती, वरन् प्यार में मिलने वाले कष्ट को भी भूल जाती है। उसे 'शाम' के रूप में प्रिय के दर्शन होते हैं। उस मिलन में उसे अपनी भीगे तन की भी सुधि नहीं रहती। सचमुच लेखक ने इस कहानी में चिड़िया में एक वय प्राप्त किशोरी के प्रेमपूर्ण उल्लसित, हृदय के भावोद्गारों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसकी भावाभिव्यक्ति में अपार स्निग्धता तथा हार्दिकता के दर्शन होते हैं।

'एक गौ' में लेखक ने एक गाय के अपने मालिक के प्रति अटूट प्रेम और निस्वार्थ भाव का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है जिसे पढ़कर पशु में भी निहित

मानवीय सवेदना के दर्शन प्राप्त होते हैं। उपरोक्त कहानी को आद्यान्त पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो लेखक ने मनुष्य ही नहीं, पशु के अन्तस् में निहित प्रेम-मणि के द्वारा अपने साहित्य को दीप्त किया है। पशु बोल तो नहीं सकता, किन्तु वह भी प्रेम की भाषा पहचानता है। सुन्दर गाय का स्वामी परिस्थितिवश अपनी प्यारी गाय को बेच देता है। गाय विवश होकर चली तो जाती है, किन्तु वहा स्वामी के विछोह से दुखी होने के कारण उसका दूध कम हो जाता है। अपने मालिक द्वारा कारण पूछने पर वह कहती है—‘मैं गौ हूँ, रूप के लेन-देन से अधिकार का और प्रेम का लेन-देन जिस भाव से तुम्हारी दुनिया में होता है, उसे मैं नहीं जानती। फिर भी तुम्हारी दुनिया में तुम्हारे लिए मानती जाऊँगी।’^१ गाय का उपरोक्त कथन बरबस ही हृदय को कचोट लेता है और हमें गाय द्वारा लेखक की अतिशयभावुकता के समक्ष विनत हो जाना पड़ता है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने पशु-पक्षियों को भी ईश्वर का अंश मानते हुए उन्हें मानवीय भावों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। ‘चिड़िया का बच्चा’ में जैनेन्द्र ने उन्मुक्त प्रकृति की गोद में विचरण करने वाली चिड़िया की अन्तःप्रकृति का बहुत ही प्रभावोत्पादक चित्रण किया है। कहानी में लेखक ने धनी माधवराम सेठ की लोभी, अहकारी वृत्ति तथा चिड़िया की बच्ची की स्वच्छन्दप्रियता और भोलेपन का चित्रण किया है। सेठ अपने बाग में आयी हुई सुन्दर चिड़िया के बच्चे को धन का प्रलोभन देकर बन्द कर लेना चाहता है। किन्तु वह तो धन-दौलत की भाषा जानती नहीं और कहती है—‘मेरी तो छोटी-सी जान है। आपके पास सब कुछ है। तब मुझे जाने दीजिए।’^२ साराशतः लेखक ने व्यक्ति के अह तथा चिड़िया के भोले भाव को प्रतीकात्मक रूप में व्यजित किया है।

पौराणिक विषय

जैनेन्द्र ने मानवोत्तर विषयों के अतिरिक्त पौराणिक कथाओं के माध्यम से भी मानवीय भावों की अभिव्यक्ति की है। ‘देवी-देवता’, ‘बाहुबली’, ‘तद्०’ ‘उर्ध्वबाहु’, ‘भद्रबाहु’, ‘गुरु कात्यायन’, ‘नारद का अर्ध’, ‘यमपुर का निवासी’ ‘कामनापूर्ण’ आदि कहानियाँ विविध पौराणिक आख्यानों को लेकर मानव-जीवन के सन्दर्भ में घटित हुई हैं।

१ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, भाग ३।

२ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, भाग ३।

साहित्य-आस्तिकता

जैनेन्द्र का साहित्य उनके दार्शनिक चिन्तन से अभिभूत है। प्रेमचन्द्र मानवतावादी उपन्यासकार है। उन्होंने आदर्श जीवन के लिए मानवोचित सेवा, त्याग, दया आदि गुणों को अपने पात्रों में घटित होते हुए दर्शाया है। प्रेमचन्द्र ईश्वरवादी नहीं है। किन्तु जैनेन्द्र का साहित्य उनकी आस्तिकता से अनुप्राणित है। उनकी दृष्टि में ईश्वर ही सत्य है और ईश्वरोन्मुख होना सत्साहित्य का लक्षण है। उनके साहित्य के रोम-रोम में ईश्वरीय आस्था समाहित है। उन्होंने अपने पात्रों के माध्यम से धर्ममय जीवन-दृष्टि पर बल दिया है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने कथासाहित्य को दर्शन की भूमि पर आधारित करके साहित्य जगत को एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। उनके आध्यात्मिक मनोभाव के द्वारा जीवन के गम्भीर सत्यों का उद्घाटन हुआ है। 'व्यर्थ-प्रयत्न', 'दर्शन की राह', 'तत्सत' आदि कहानियाँ तथा उपन्यासों में उनकी दार्शनिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में उनकी दार्शनिक दृष्टि परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से समायी हुई है।

जैनेन्द्र की दार्शनिकता के कारण कभी-कभी साहित्य के कोमल पक्षों पर ठेस भी लगी है। यथा 'खेल' कहानी में अबोध भाई-बहनो के सरल, स्वच्छन्द, हास-परिहास और द्वन्द्व के बीच विधाता को लाकर खड़ा करना बहुत ही अस्वाभाविक प्रतीत होता है। तथापि कुछ स्थलों पर जैनेन्द्र की दार्शनिक दृष्टि मानव जीवन की सत्यता का उद्घाटन करने में समर्थ है।

सामाजिक दृष्टि चिरन्तन सत्य

जैनेन्द्र की साहित्यगत सत्यता को जानने के अनन्तर उनके विचारों के सम्बन्ध में उत्पन्न सारा धन निराधार सिद्ध हो जाता है। जैनेन्द्र के साहित्य की प्रमुख समस्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा विवाह में प्रेम के प्रवेश के कारण ही उत्पन्न होती है। जैनेन्द्र से पूर्व उपन्यासकारों ने और विशेषतः प्रेमचन्द्र ने स्त्री को भगिनी, माता और पत्नी के रूप में ही देखा है किन्तु जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष को निर्व्यक्तिक रूप में स्वीकार किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि में नैतिक और अनैतिक की समस्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में केन्द्रित नहीं है। जैनेन्द्र के पात्र प्रेमचन्द्र से बहुत आगे हैं। उन्होंने घर और बाहर की समस्या द्वारा मानव जीवन के चिरन्तन प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि वे जीवन की वास्तविकता और अनुभव से दूर कल्पना और विचारों की प्रतिमूर्ति हैं। उनके अनुसार जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में अनुभूति की उपेक्षा करते

हुए अपने तर्क-जाल को फैलाने की चेष्टा की है, किन्तु जैनेन्द्र-साहित्य का समग्र विवेचन करने के अनन्तर यह धारणा असंगत नहीं प्रतीत होती है ।'

१. जैनेन्द्रकुमार : 'कहानी : अनुभव और शिल्प' (विजयेन्द्र स्नातक), पृ० १६ ।



जैनेन्द्र और सत्य



सत्य जिज्ञासाभूलक

मानव-प्राणी जिज्ञासा प्रधान है। व्यक्ति की जिज्ञासा का प्रबलतम आकर्षण अज्ञेय अथवा अदृश्य की ओर विशेषतया दृष्टिगत होता है। आदिकाल से ही दार्शनिकों में ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा बनी रही है। ब्रह्म को हम 'नेति-नेति' कहकर समझने की चेष्टा करते हैं। जो दृश्य है, प्रत्यक्ष है, ज्ञेय है वह सब अपूर्ण और मिथ्या है। अन्तिम सत्य को हम नहीं जान पाते। किन्तु सत्य पूर्ण ही हो सकता है। ब्रह्म पूर्ण है, उसका अस्तित्व निरपेक्ष है। वह सत्य है। जीव नश्वर और ससीम है। अतएव जो नाशवान् है वह सत्य कैसे हो सकता है ? सत्य तो वही हो सकता है, जिसके साथ 'अस्ति' का भाव प्राप्त हो सके। वेद, पुराण आदि सभी धर्मशास्त्रों में जगत् को मिथ्या माना गया है। जीवन और जगत् अन्तिम सत्य नहीं है। जिन दार्शनिकों ने जगत् की सत्यता पर बल दिया है, उनकी दृष्टि जीवन की व्यावहारिकता पर आधारित रही है। किन्तु जगत् नाशवान् ही है।

जैनेन्द्रकुमार सत्य 'सत्' का भाव धारण करता है। सत् का तात्पर्य होने से है, जो वस्तु या शक्ति सदैव स्थिर रहती है, जिसकी न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश, उसी का होना ही वास्तविक होना है। ऐसी सत्-स्वरूप शक्ति ही 'सत्य' की सज्ञा से युक्त की जा सकती है।

परम सत्य अद्वैत

विश्व के समस्त दार्शनिकों के समक्ष प्रमुख समस्या यही रही है कि सत्य

क्या है ? सत्य को जाने बिना सारा ज्ञान-विज्ञान और दर्शन कोरी कल्पना ही प्रतीत होता है । सत्य की नींव पर ही समस्त दार्शनिक-चिन्तन आरुढ़ है । सत्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं । किन्तु सबकी दृष्टि में सत्य एक है । उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निरपेक्ष गिराव नहीं दिया जा सकता । विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के विचारक तथा दार्शनिक विभिन्न मार्गों से होकर एक ही लक्ष्य की दिशा में प्रयत्नशील हैं । सभी मार्गों में विभिन्न सज्ञाओं द्वारा एक ही सत्य की सत्यता स्वीकार की गई है । नाम अनेक हैं, किन्तु सब एक ही सत्य का प्रतिनिधित्व करने के कारण मूलतः एक ही हैं । 'भारतीय वेदान्त दर्शन' में एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य माना गया है । 'ब्रह्म सत्य जगदमिथ्या' के सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्म की सत्यता और जगत की निस्सारता पर प्रकाश डाला गया है । शंकर के अनुसार ससार का अस्तित्व केवल माया से तथा अज्ञान के कारण ही प्रतिभासित होता है, अन्यथा उसका कोई अस्तित्व नहीं है, केवल मनोर्भावितमान् ब्रह्म ही सब कालों में स्थायी रहता है । एक ही सत्य को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया गया है—'एको सत्यम् विप्राबहुधा-वदन्ति ।'

'परम सत्य' व्यक्ति की पहुँच के परे है । वह उसे जानने के प्रयत्न द्वारा उसे जान नहीं सकता । उसका अनुभव ही अपूर्ण प्राप्ति के लिए पर्याप्त है । इसीलिए जैनेन्द्र सत्य को चर्चा का विषय नहीं मानते । एकमात्र सत्य ब्रह्म है, अतएव उसकी चर्चा अथवा वाद-विवाद करना व्यर्थ है । जहाँ व्यक्ति की पहुँच न हो वहाँ ब्रह्म अपना अभिमत प्रस्तुत करने में व्यक्ति की अहता का ही प्रहरीकरण होता है । इसीलिए जैनेन्द्र सत्य को वाद-विवाद की सकीर्णता से ऊपर मानते हैं । अपने अभिमत द्वारा हम सत्य का निषेध करते हुए मत को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं । 'आत्म शिक्षण' और 'पाजेब' आदि कहानियों में व्यक्तिगत अभिमत द्वारा सत्य को बलपूर्वक नकारने की चेष्टा की गई है, जब तक अभिमत प्रधान रहता है तब तक सत्य का बोध प्राप्त होना कठिन हो जाता है और झूठी घटना ही बलपूर्वक सत्यसिद्ध की जाती है । किन्तु अंत में सत्य मत से परे ही सिद्ध होता है ।^१

साहित्य में सत्य का स्वरूप

अधिकांशतः सत्य की खोज दार्शनिकों की जिज्ञासा का विषय रही है, किन्तु सत्य की खोज का प्रयत्न दार्शनिकों की ही बपौती नहीं है । सामान्य जीवन के

भी व्यक्ति अपने बाह्य जीवन के सघर्षों से इतर आत्मिक सत्य को जानने के लिए प्रयत्नशील है। कवि हो अथवा लेखक अथवा विचारक—सभी की दृष्टि में सत्य के सम्बन्ध में एक धारणा होती है। वह सत्य असत्य को दृष्टि में रखकर ही साहित्य-रचना के हेतु प्रवृत्त होता है। वैसे तो सत्य के स्वरूप को जाना नहीं जा सकता किन्तु जीवन में उसकी अनुभूति आवश्यक है। सत्य की अनुभूति को मन में धारणा किए बिना साहित्य-रचना निरी कपोल-कल्पना ही प्रतीत होगी। सत्य मानव जीवन का उपजीव्य है, किन्तु सत्य के साथ सुन्दर का समावेश होने पर ही साहित्यिक सत्य की स्वीकृति होती है। जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके साहित्य में सत्याभिव्यक्ति की पूर्ण चेष्टा की गयी है। सत्य के सूक्ष्म और स्थूल, व्यापक और सीमित, आध्यात्मिक और भौतिक आदि विभिन्न रूपों का उन्होंने विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र के साहित्य में सत्य की व्यापकता का अवलोकन करने से पूर्व सत्य के अर्थ को जानना आवश्यक है।

जैनेन्द्र का साहित्य समग्र जीवन की अभिव्यक्ति करने में सक्षम है। उन्होंने जीवन के विविध राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि पक्षों का विवेचन करते हुए उनके गूढ़ सत्यों का उद्घाटन किया है। जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त सत्य को मानव की सापेक्षता में ही जानने का प्रयास किया गया है।

सत् का भाव सत्य

जैनेन्द्र ने सत्य के सूक्ष्म स्वरूप का विवेचन करते हुए परम्परागत भारतीय दार्शनिकों की विचारधारा का ही अवलम्ब लिया है। आधुनिक विचारकों और दार्शनिकों में गांधी के आदर्शों की स्पष्ट झलक जैनेन्द्र के विचारों में दृष्टिगत होती है।^१ जैनेन्द्र के अनुसार 'सत्' का भाव सत्य है। जो है वह उसके कारण है, और उसके लिए है। 'इस प्रकार जो है वह सत् और जो उसको धारण करता है वह सत्य है।' गांधी ने भी सत्य को उपरोक्त रूप में ही विवेचित किया है।^२ जैनेन्द्र के अनुसार एकमात्र सत्य का ही अस्तित्व संभव हो सकता है। असत् से तात्पर्य न होने से है। अतएव जो नहीं है, उसके होने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके अनुसार जो नहीं है, उसके लिए यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। जैनेन्द्र 'असत्' शब्द की स्वीकृति में भी व्यक्ति की अहता के ही दर्शन होते हैं। उनकी दृष्टि में जो नहीं है, उसे जोर देकर असत् कहने में व्यक्ति के अहंकार का

१ महात्मा गाँधी 'दि वायस आफ ट्रुथ'

२ महात्मा गाँधी 'दि वायस आफ ट्रुथ'

प्रदर्शन होता है ।

पूर्ण सत्य . अज्ञेय

प्रश्न उठता है कि 'सत्य' क्या है ? जैनेन्द्र के अनुसार 'सत्य' निर्गुण और निराकार है ।^१ गांधी ने तो 'सत्य' को ही ईश्वर माना है । जैनेन्द्र के पास एक अकेला अनुभव ईश्वर ही है, उससे बढ़कर कोई सच्चाई हो नहीं सकती । व्यक्ति अपूर्ण है, सत्य पूर्ण और निरपेक्ष है । अतएव व्यक्ति के द्वारा अभिव्यक्त विचार भी पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति करने में सम्भव नहीं हो सकता । सत्य का निरपेक्ष रूप 'सत्चिदानन्द' है । सूक्ष्म अथवा निरपेक्ष सत्य के सम्बन्ध में भी अनेकानेक अभिमत प्रचलित है, किन्तु वे सत्य की सापेक्षता को ही व्यक्त करते हैं । जैन दर्शन से प्रभावित होने के कारण जैनेन्द्र ने स्यादवाद के आधार पर सत्य के सापेक्ष रूप को ही स्वीकार किया है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है, अतः हम जो कुछ जान सकते हैं, चाह सकते हैं, वह एकांगी सत्य है । दूसरी दृष्टि में वह असत्य भी हो सकता है । सम्पूर्ण सत्य वह नहीं है,^२ वस्तुतः सत्य का जानने से अधिक उसे जानने की जिज्ञासा बनाए रखना ही पर्याप्त है ।^३ जैनेन्द्र के अनुसार परमेश्वर का पूरी तरह जान लेने का आशय है - व्यक्ति का ईश्वर में ऊपर आसीन होना । वस्तुतः जानने के प्रयत्न में कुछ शेष बना ही रहता है, जो व्यक्ति की अपूर्णता का बोध कराता है । जैनेन्द्र के विचार भारतीय विद्वानों के समकक्ष ही प्रतीत होते हैं । अन्तिम सत्य को हम नहीं जान सकते । जो जानते हैं, वह सत्य नहीं है । जैनेन्द्र ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि सत्य व्यक्ति की अपूर्णता का बोध कराता है । आदर्श तो खण्ड है, द्वैत यथार्थ में ही व्यक्ति की पटु है, अतएव जीवन की यथार्थता (सत्यता) ही चर्चा का विषय बनती है । सत्य तो होने मात्र में है, जानने में नहीं ।

सत्यबोध . अनुभवाश्रित

जैनेन्द्र के साहित्य में सत्य को अनुभूतिगम्य और सम्भाव्य माना गया

१. 'सत्य के निर्गुण रूप को ईश्वर कहेंगे, वह परम कल्याणमय है ।'

जैनेन्द्रकुमार . 'प्रश्न और प्रश्न', पृ० १३६ ।

२. 'The greatest trouble with us is that we can know and live in only bits of truth at a time and not all of it' - 'Glimpse of Truth' (p. 97)

३. 'Some may know more, some may know less, what is important is to keep discovery.' - 'Glimpse of Truth' - (P. 22.)

है। जानना बुद्धि के द्वारा होता है, तथा तर्क द्वारा उसे प्रमाणित किया जाता है, किन्तु तर्क द्वारा उसे ही सिद्ध किया जा सकता है, जो प्रत्यक्ष और दृश्य है। अदृश्य और सूक्ष्म सत्य के सम्बन्ध में व्यक्ति केवल कल्पना कर सकता है। 'जयवर्धन' में इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। 'सत्य' हुनर ज्यादा है, जानना कम है। सत्य के ज्ञान को सदैव अपने अज्ञान के रूप में ही मानते रहने में व्यक्ति की कृतार्थता है। 'कल्याणी' में कल्याणी सत्य की सिद्धि के लिए तर्क को सर्वथा निरर्थक रूप में ही स्वीकार करती है। उसके अनुसार—'तर्क सच्चाई को लपेट नहीं पाता है, समझना कभी पूरा हो नहीं सकता।'^१ जिज्ञासा सत् का स्वरूप नेति-नेति रह जाता है। यही वेदान्तिक सत्य है। जैनेन्द्र के अनुसार 'न' कार से यह तात्पर्य नहीं है कि सत्य है ही नहीं, वरन् नेति-नेति से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति उस 'इति' को जान नहीं सकता, जो जानता है वह 'नेति' है। इसीलिए जैनेन्द्र सत्य के जिज्ञासु में अपार धैर्य की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। सत्य यदि व्यक्ति की पकड़ में आ जाय तो वह सत्य नहीं रहेगा। 'कल्याणी' में लेखक ने सत्य के सम्बन्ध में व्यक्ति की जिज्ञासा को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार—'जहा चुनौती नहीं है और जो बुद्धि के हाथों में पालतू-सा दीखता है, वह सत्य भी नहीं है।'^२ अतएव आवश्यकता है कि सत्य के प्रति व्यक्ति सदा सप्रश्न और नतमस्तक रहे। 'सत्-ज्ञान' सत् जिज्ञासा में है।^३ 'व्यर्थ प्रयत्न' में भी सत्य को बुद्धि द्वारा जानने के प्रयत्न को अन्ततः पराभूत होते हुए दर्शाया है। चिन्तामणि शून्य में आख गड़ाकर उस सत्य को देखना चाहता है। काल की अनन्तता में अदृश्य सत्य को देखने में उसकी आस्था नहीं है। वह सत्य को प्रत्यक्ष देख लेना चाहता है, किन्तु सत्य तो शून्य में है। वह शून्य को भेदना चाहता है, किन्तु उसकी बौद्धिक पिपासा शान्त नहीं होती। वेद, पुराण, उपनिषद् आदि का अध्ययन भी उसे सत्य का बोध कराने में असमर्थ होता है। उसकी आन्तरिक अशान्ति बढ़ती ही जाती है तथा उसे अपना आपा भी भारी प्रतीत होता है। अन्ततः समर्पण की भावना ही उसे ईश्वर का अनुभव कराने में समर्थ होती है।^४

जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अज्ञात है और जिज्ञासा सदैव अज्ञात में से आती

१ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० ६८।

२ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० ६८।

३ जैनेन्द्रकुमार 'कल्याणी', पृ० स० ६८।

४ जैनेन्द्रकुमार . 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ७, पृ० स० १२६-१२६।

है, किन्तु अज्ञात की ओर से आने वाली चुनौती का सामना करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील ही हो सकता है, पूर्णतः समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जिज्ञासा समाप्त हो जाय तो जीवन का प्रवाह ही समाप्त हो जायगा। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की खोज में डूबकर ही व्यक्ति कृतार्थ होता है। अहता के विगलन अथवा सत्य के समर्पण द्वारा ही परम सत्य की उपलब्धि का आनन्द प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्र की रचनाओं के पात्र सदैव जीवन में कर्मरत रहते हुए भी ईश्वरोन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विनम्रता, अहशून्यता, और प्रेम ही सत्य की प्राप्ति के विविध सोपान हैं। जीवन सतत् यात्रा है। जैनेन्द्र की दृष्टि में जीवन की सार्थकता चलने में है, रुकने में नहीं।

सत्य सम्बन्धी उपरोक्त विवेचन के आधार पर पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्य का सूक्ष्म रूप शाश्वत है। वह व्यक्ति की पहुँच से परे है, अतएव वह चर्चा का विषय भी नहीं बन सकता। वह केवल अनुभूति का ही विषय हो सकता है। एकमात्र सत्य वही ईश्वर है और सब उसी के होने से संभव है।^१ प्रश्न उठता है कि जब सूक्ष्म सत्य व्यक्ति की चर्चा का विषय नहीं बन सकता तथा तब व्यक्ति के जीवन में कौन-सा ऐसा सत्य है, जिसे साहित्यकार साहित्य के माध्यम से स्वीकार करता है। साहित्य का वह कौन-सा सत्य है जो जीवन का सहजता प्रदान करने में समर्थ होता है।

जैनेन्द्र के अनुसार जीवन के विषय परिप्रेक्षी में सत्य की स्वीकृति भी साहित्य का दृष्ट है। सूक्ष्म सत्य से परे व्यावहारिक जीवन में सत्य की जो स्थिति स्वीकार की गयी है, उसकी स्वीकृति में ही जीवन की सहजता संभव है। जैनेन्द्र के साहित्य में व्यावहारिक सत्य को किसी सीमित क्षेत्र में ही नहीं स्वीकार किया गया है, बरन् धर्म, समाज, राजनीति आदि में भी निहित सत्य की अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया है। 'व्यवसाय का सत्य', 'मानव का सत्य' आदि सज्ञाओं से जैनेन्द्र ने सत्य सम्बन्धी अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है।

सत्य का स्वरूप काल से तद्गत नहीं

जैनेन्द्र के साहित्य में सत्य की स्थिति जानने में पूर्व उसकी विशिष्टता को जानना अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य को काल की दृष्टि से देखना अधिक विश्वसनीय नहीं है। उनकी दृष्टि से विभिन्न युगों के साहित्य में दृष्टिगत होने वाले सत्य की परस्पर काल के विभाजन के आधार पर करना उचित नहीं है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक ही काल के लेखकों के सत्य सम्बन्धी

१. जैनेन्द्र में साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

दृष्टिकोण में अन्तर होता है। यथा प्रेमचन्द और जयशंकर 'प्रसाद' समकालीन होते हुए भी दृष्टि-भेद के कारण काल की सापेक्षता में रखकर विवेचित नहीं किए जा सकते। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य का स्वरूप लेखक की या व्यक्ति की आत्म-चेतन पर निर्भर होता है, न कि काल पर। अतएव साहित्य में प्राप्त होने वाली सत्यता में जो अन्तर दृष्टिगत होता है, वह लेखक की दृष्टि-भेद का ही सूचक है। सत्य कालातीत होकर ही वह स्थायित्व ग्रहण करता है।^१

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में सत्य का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह सम-सामयिकता की मांग से ऊपर है। उनके चिन्तन का परिचय बाह्य परिवेश से अधिक आन्तरिक द्वन्द्व है। यही कारण है कि उन्होंने अन्तस्-चेतना के आधार पर ही सत्य का निरूपण किया है। सत्य का स्थूलरूप निर्गुण न होते हुए भी बाह्य स्थितियों में लक्षित नहीं होता, वरन् अन्तर्भूत होता है। इसीलिए साहित्य में जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति के लिए अन्तर्दृष्टि अनिवार्य है।

सत्य शिव सुन्दरम्

साहित्यिक-सत्य और दार्शनिक सत्य की अपनी सीमा है। दार्शनिक दृष्टि से सत्य को जिस रूप में ग्रहण किया जाता है, उसे ठीक उसी रूप में साहित्य में नहीं स्वीकार किया जा सकता। दर्शन का सत्य चिन्तन-प्रधान होता है। उसमें वैचारिक प्रमुख होती है, किन्तु साहित्यिक सत्य में विचार से अधिक भाव और व्यावहारिकता का समावेश होता है। साहित्य में कोरा सत्य केवल बौद्धिक तर्क-जाल फैलाने में ही सहायक होता है। उसमें व्यक्ति के जीवन में आत्मसात् होने की क्षमता नहीं होती। साहित्य का 'सत्य शिव और सुन्दरम्' के दो तटों के पार की स्थिति है, किन्तु पार जाने के लिए तट का निषेध भी नहीं हो सकता। मानो शिव और सुन्दर के तटों का स्पर्श करती हुई साहित्य-धारा सत्य के सागर में समा जाती है। सुन्दरता और शिवत्व सत्य के पूरक हैं। साहित्यकार का लक्ष्य अपनी रचनाओं के द्वारा सत्योन्मुख होना ही है। जैनेन्द्र के अनुसार सत्य की शोध, सत्य की चर्चा और सत्य की पूजा के लिए ही लेखन-कार्य होना चाहिए।^२ उनकी दृष्टि में 'शिव और सुन्दरम्' सत्य के दो पहलू हैं, परन्तु अपने-आप में सिमटते ही दोनों में अनबन हो रही है। साहित्य अथवा कला का प्रधान गुण सुन्दरता है। सत्य का सुन्दर रूप ही साहित्य में ग्राह्य हो सकता है। प्रयोजनीयता साहित्य का गौण पक्ष है।

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२. जैनेन्द्रकुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० सं० २८३।

प्रयोजनीयता अन्य शास्त्रों का इष्ट हो सकती है, किन्तु साहित्य में कोरी प्रयोजनीयता अनिष्ट ही करती है। जैनेन्द्र के अनुसार सौन्दर्य ही वह आधार है, जिसपर कला आसीन होती है। 'प्राकृतिक सौन्दर्य'... कला के लिए प्रयोजनीय है, उस हेतु में सत्य नहीं है। उसके लिए तो सब प्रयोजन से कहीं बड़े उस हेतु से सत्य है कि वे सुन्दर है। सौन्दर्य कला के लिए सत्य का प्रधान रूप है। जैनेन्द्र के अनुसार 'सौन्दर्य हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है और सुन्दर, शिव के उपरांत सत्य वह सौन्दर्य है, जो आस्था में ही उद्भूत है अर्थात् अगर सत्य हमको आस्था में सुन्दर न प्रतीत होता हो तो सत्य रहेगा ही नहीं। सुन्दर जिसे हम कहते हैं वह सामने ही है।'^१ वस्तुतः जैनेन्द्र की दृष्टि में साहित्यिक सत्य का सौन्दर्य से युक्त होना अनिवार्य है। उनकी दृष्टि में सूक्ष्म सत्य अथवा गेय सत्य या सार्थक सत्य कला के सिंहासन पर नहीं है। साहित्य के सिंहासन पर तो सत्य सुन्दर होकर ही जाने वाले हैं।^२

साहित्य में सत्य उपन्यास तथा कहानी की घटना में निमृत् एव गूढ़ होता है। घटना ही सत्य को मुखरित करने वाली वाणी है। घटना दीखती है, सत्य को उसमें ढूँढ़ना पड़ता है। हम दृष्टि से जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने पर उनके विचारों की पूर्णतः पुष्टि प्राप्त होती है। जैनेन्द्र के साहित्य का आकर्षण उनकी सत्याभिव्यक्ति में ही समाहित है।

सत्य और वास्तव

जैनेन्द्र के साहित्य में सत्य के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व उनकी दृष्टि में सत्य और वास्तव का अन्तर जान लेना भी अनिवार्य है। स्थूलतः सत्य और वास्तव दूथ और फ़ैक्ट के समानार्थी प्रतीत होते हैं। किन्तु शब्द सकेत मात्र है। अर्थ और भाव शब्द की गहराई में ही प्राप्त होता है। जैनेन्द्र के अनुसार उपन्यास रचना का लक्ष्य सत्य की शोध करना है। रचना द्वारा 'स्व' की पुष्टि करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके द्वारा समष्टि को सत्य की दिशा में देना आवश्यक है। वास्तव यथार्थ से सम्बद्ध है। 'वास्तव पर सत्य की सीमा नहीं है। वास्तव में परे भी सत्य है, इसलिए हमारे वास्तव की सीमा हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है। वास्तव है 'फ़ैक्ट' और सत्य है 'ट्रूथ'। जैनेन्द्र का आदर्श वास्तव से सत्य की ओर उन्मुख होना है।'^३ वास्तव सत्याभिव्यक्ति

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२. जैनेन्द्रकुमार : 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'।

३. उनकी अभिजापा वास्तव में नहीं हो सकती। उपन्यास का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव में है। 'जिने के लिए शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप में ही।'

जैनेन्द्रकुमार : 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० सं० १७०।

का आधार है। जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में वास्तव का जो रूप स्वीकार किया है वह जीवन की यथार्थ भावनाओं और स्थितियों का उद्घाटन करने में समर्थ है। उन्होंने अपने जीवन में आस-पास की घटनाओं और स्थितियों की सच्चाई को अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने यथार्थ स्थिति को ज्यो-का-त्यो ही नहीं चित्रित किया है, वरन् स्थिति के मूल में निहित सत्य को उधारने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र का समग्र साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है।

जैनेन्द्र-साहित्य का मूल्य सत्य

जैनेन्द्र के साहित्य का मूल सत्य जीवन की चिरन्तन स्थितियों को लेकर ही अभिव्यक्त हुआ है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति सामाजिक मर्यादा के भय से अपने अन्तस् के सत्य को स्वीकार करने में अक्षम होता है। उसमें इतना साहस नहीं होता कि वह अपनी प्रकृति को स्वीकार कर सके। सत्य के अस्वीकार में व्यक्तित्व में नाना विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें वह अपने साथ चिपटाये हुए जीता रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति का तीन चौथाई भाग भीतर है और एक चौथाई बाहर है। हम उस एक चौथाई को ही देखते हैं, किन्तु जो कुछ दिखता है, सत्य वही नहीं है। सत्य भीतर आत्मगुहा में निमृत् है। अतएव व्यक्ति जीवन की पूर्णता के हेतु सत्य की सम्पूर्णता का ज्ञान और उसकी स्वीकृति अनिवार्य है। व्यक्ति के अन्तस् में काम और प्रेम के भाव विद्यमान होते हैं। जिनकी अभिव्यक्ति करने में वह भय की जड़ता से बंधा रहता है।

काम सृष्टि का नियम है। जैनेन्द्र के अनुसार 'सेक्स में' से सृजन है, सृष्टि मैथुनी है, किन्तु यह समस्या भी है। समस्या सेक्स में से नहीं, मिथुन में से प्राप्त होती है। मिथुन में से भगवत्स्वरूप शिशु प्राप्त होता है और मिथुन में से ही पाप का दबाव भी उपजता है।^१ इसीलिए उनकी दृष्टि में साहित्य के समक्ष यही ध्रुव पहेली है और यही चुनौती है, जिसके उत्तर में साहित्य-रचना हो सकती है। वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध में सारा भ्रम एकमात्र इसी समस्या को लेकर ही उठता है। उनके साहित्य में काम और प्रेम की स्वीकृति एक ऐसी जाटिल पहेली है जो सदैव अस्पष्ट ही बनी रहती है।

जैनेन्द्र के साहित्य में काम और प्रेम की समस्या को साहित्य में एक नवीन प्रयोग माना जाता है, किन्तु जिसे हम प्रयोग समझते हैं, वह सत्य ही है। प्रयोग

परम्परा में एक कड़ी है, किन्तु सत्य तो सनातन है। यो सत्य का स्वरूप भी परिवर्तनीय हो सकता है, किन्तु स्वरूप के परिवर्तन से आत्मा की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। जैनेन्द्र के साहित्य में काम और प्रेम को सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अतएव उनकी रचनाओं में गंभीर काम और प्रेममूलक सत्यता को जानना अनिवार्य है। यद्यपि पंचम परिच्छेद में उपर्युक्त तथ्य की ओर इंगित किया गया है, तथापि जैनेन्द्र के साहित्य में सत्य का विश्लेषण करते हुए उनकी समग्र रचना का विवेचन अनिवार्य प्रतीत होता है। जैनेन्द्र ने जीवन की विविधता में प्रेममूलक सत्य की ऐसी एकसूत्रता की सृष्टि की है, जिसमें समस्त पार्थक्य प्रेम द्वारा उद्भूत ऐश्वर्य में विलीन हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार मानव जीवन का सार हृदयगत पीडा में निहित है। पीडा अथवा व्यथा ही वह पूँजी है, जिसे अपने में समेटकर जीवन सार्थक हो जाता है। पीडा में प्रेम का रस है। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन में 'परम दुख' का क्षण ही परम सुख का क्षण है। जिस क्षण हम अत्यधिक त्रास पा रहे होते हैं, उसी समय मानो रस की परम अनुभूति होती है। अतएव दुख में ही जीवन का स्वाद है। पीडा विरह उद्भूत है। विरह में ही प्रेम का आकर्षण है। प्रेम में प्राप्ति अथवा दायित्व का भाव न होकर बिसर्जन का भाव होता है। प्रेम में काम अन्तर्भूत है। काम की स्वीकृति में ही प्रेम की पूर्णता है। पूर्णता अर्थात् सत्य की प्राप्ति के मार्ग में हर कदम अपनी सार्थकता रखता है। प्रेम की पूर्णता के मार्ग में काम की स्वीकृति अनिवार्य है। जैनेन्द्र ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'प्रेम समग्र होकर इन्द्रियो में स्वतन्त्र या इन्द्रियातीत हो जायेगा। फिर वहाँ प्रतिस्पर्धा का सबाल ही क्यों रहना चाहिए ? पति पत्नी सम्बन्ध सामाजिक है, इन्द्रियावलम्बी है, प्रेम भरपूर होते होते इतना अधिक हो जाता है कि आलम्बन की उसे आवश्यकता नहीं रहती।' अतएव प्रेम की पूर्णता के लिए इन्द्रियो को मार्ग रूप में स्वीकार करना अनिवार्य है। जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम में तीखापन आने से ही अतीन्द्रियता नहीं प्राप्त हो सकती। अतीन्द्रिय प्रेम में शरीर को और इन्द्रियो को कृतकामता अनुभव होनी चाहिए।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में सत्य को सहर्ष स्वीकार किया है। सकोच अथवा लज्जा के कारण तिरस्कार नहीं किया है। उनके साहित्य में दृष्टिगत प्रेम के मूल में शरीर और आत्मा की पूर्णता ही दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र के अनुसार यह आत्मबेधता प्रत्येक काम और भोग में से अवृत्ति ही बनी चली जाती है। अविवरत रूप में इस स्थिति से गुजरती हुई वह पाती है कि उपलक्ष्य फिर

लुप्त ही बना रह गया है। इस स्थिति में से ही एक दिन काम को अकाम हो जाना है।^१ वस्तुतः कामेन्द्रियो के मार्ग से आत्मोन्मुखता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

सत्य उत्सर्ग में

जैनेन्द्र के अनुसार भोग अथवा सम्भोग के मूल में जो दोष है, वह एक का एक से सम्बन्ध होने के कारण ही सम्भव है, यदि एक का सम्बन्ध एक तक सीमित न होकर सर्व में प्राप्त हो जाय तो उसमें दायित्व का भाव शिथिल पड़ जायगा। दायित्व में ही काम की तीव्रता जाग्रत होती है। किन्तु जैनेन्द्र की दृष्टि में जब एक का एक से अनेक के साथ अभिन्नता का सम्बन्ध हो, तब फिर एक के साथ सम्बन्ध की व्यापकता नहीं रह जाती। उनकी दृष्टि में अपने को देने और अन्य को पाने में भोग तो बीज रूप में रहेगा ही। उसकी सीमितता काम की न्यूनता है, क्योंकि वहाँ एक का एक से सम्बन्ध ही काम प्रेम की अभिव्यक्ति का रूप माना जा सकता है। परन्तु उनकी दृष्टि में काम ही प्रेम में बाधा है। प्रेम उत्तरोत्तर अतीन्द्रिय होने के लिए है। जैनेन्द्र के साहित्य में विवाह में प्रेम की स्वीकृति की सार्थकता दायित्व को समाप्त करने में ही है। विवाह के द्वारा व्ययित यदि एक से बंध जाय अथवा एक को अपने 'स्व' से इतना बांध ले कि उसे सर्व तक फैलने न दे तो वह विवाह जकडबन्द हो जायगा। जैनेन्द्र के अनुसार जीवन का सत्य स्वार्थ में न होकर उत्सर्ग में है। उनकी दृष्टि में भोग में 'स्व' की किरकिराहट बनी ही रहती है। ग्रासू बहाने में जितना स्व का लाभ होता है, उतना भोग से नहीं। भोग में योग का भाव विसर्जन अथवा आत्मोत्सर्ग द्वारा ही सम्भव होता है। जब प्रिय को हम अपनी कामना से मुक्त करते हैं, तब एक आन्तरिक उपलब्धि होती है। वही सत्य है।^२

जैनेन्द्र ने काम और प्रेम की समस्या को किसी विवशतावश स्वीकार न करके अपने अन्तस् की माग के कारण स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि में दुःख में सुख गर्भित है। जिस प्रकार हिंसा के मूल में अहिंसा का भाव अन्तर्भूत रहता है। काम के सूक्ष्म बिन्दु में दो व्यक्ति परस्परता में स्वयं को खो देते हैं। उनकी दृष्टि में जीवित रहते हुए भी जो मृत्यु का सुख दे सके वही परम सिद्ध है। जो दुःख का क्षण है, वही सुख का क्षण है। 'अपने मरण' अर्थात् स्वत्व के न होने के भाव से बड़ा कोई भाव नहीं है। उस स्थिति में द्वैत का भाव विलीन

१ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० सं० ३२४।

२ साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

हो जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में अद्वैत का क्षण अथवा बिन्दु ही है जिसके लिए कामाकर्षण सारे ससार में व्याप्त है। उसी क्षणता के कारण आदमी अहंभाव पूर्वक जी पाता है। जाने-अनजाने उस क्षण की अनुभूति द्वारा व्यक्ति अहं को गलाकर अपना स्वास्थ्य प्राप्त करता है। जैनेन्द्र ने अपनी उपरोक्त मान्यता को क्राष्टर के बलिदान द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार क्राष्टर को सूली पर चढ़ने के समय भी परम सुख का अनुभव हुआ होता है, अपने शरीर पर प्राप्त होने वाली यातना में भी उन्हें परम सुख की अनुभूति होती है। वह क्षण उन्हें अपनी धन्यता तथा जीवन की सार्थकता का प्रतीत होता है। उसी प्रकार कामाकर्षण में परम पीड़ा का क्षण ही, परम धन्यता का क्षण है। यद्यपि वे यह स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि धन्यता का क्षण टिकता नहीं है, यही कारण है कि उसके प्रति आकर्षण बना रहता है किन्तु जब व्यक्ति की अनुभूति स्थायित्व ग्रहण कर लेती है, तब उसे आत्मिक सुख मिलता है और उस क्षण की पुनरावृत्ति स्वतः ही निरर्थक हो जाती है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'सत्य' के विसर्जन का यह मार्ग स्वतः ही आत्मोन्मुखता अथवा भगवत्प्राप्ति का पानेन्द्र प्रदान करने में सक्षम होता है। इसीलिए जैनेन्द्र ने अपने पापों के जीवन में प्राप्त होने वाले प्रबलतम आकर्षण के क्षणों का निषेध नहीं किया है। 'एक रात' में जयराज सकल्पपूर्वक चलता है और एक बिन्दु का आकर्षण प्रण प्रत्यक्ष स्वीकार करना चाहता है, किन्तु उस बिन्दु का आकर्षण उसपर इतना हावी हो जाता है कि वही जीतता है और जय का सकल्प हारता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में सकल्प के विरोध में दृष्टिगत होने वाला पाप भी सत्य की स्वीकृति के मार्ग में, उसकी स्थापना में स्वतः ही निर्मल हो जाता है। सुदर्शना के पति के घर से आने में जो पाप का अंश दृष्टिगत होता है वह सत्य में नष्ट हो जाता है। अतः पाप अर्थात् सुदर्शना की जग होती है और सकल्पपूर्वक चलने वाला जय पराजित होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में पाप वह है जिसमें व्यक्तित्व का कुछ अंश पीछे हट रहा हो, किन्तु जहाँ सहज भाव से समग्र समर्पण की स्थिति हो, वहाँ चित्त में विकार अथवा उत्तेजना नहीं आती। चित्त पर जोर तभी पड़ता है जब दुराव का भाव मन में बना रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में पाप यदि कुछ है तो भूल है। सत्य में भ्रष्ट नहीं हो सकती। उनके अनुसार सत्य के सामने भूल को भुक्तना ही पड़ता है। इस संबंध में उन्होंने स्पष्टता से स्वीकार किया है कि 'अच्छाई मुझे सच्चाई में गंभीर दीलती है, इसीलिए अच्छा की जगह सच्चा

होना मुझे ईष्ट है। सच्चा होकर कोई बुरा भी निकले तो मुझे असह्य न होगा। उठे झूठा होकर कोई शिष्ट, सभ्य, सम्भ्रान्त, शान्त आदि दिखे तो मेरी सह्यता टूटने लग जाती है।^१ जैनैन्द्र के साहित्य में सत्य छल में नहीं है।

जैनैन्द्र के साहित्य में सत्य को समझने के लिए उनकी रचनाओं में सत्य का वास्तविक रूप देखना अनिवार्य है। कहानी के द्वारा लेखक की सही दृष्टि को प्राप्त करना और उसके आधार पर ही निर्णय प्रस्तुत करना आवश्यक है। प्रायः जैनैन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त सत्य के सही रूप को न जानने के कारण ही उनके सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। 'सुनीता' में लेखक का उद्देश्य पारिवारिक अवसाद को दूर करने के साथ ही हरिप्रसन्न के अवदमित मन के भीतर छिपी हुई सत्यता को भी प्रकाशित करना है, क्योंकि आत्म-परिष्कार अथवा आत्मोन्नति सत्य की स्वीकृति में ही सम्भव हो सकती है। सत्य के निषेध में बाह्य रूप से दिखाई देने वाली सारी चेष्टा अर्थहीन सिद्ध हो जाती है। हरि-प्रसन्न का व्यक्तित्व मनोविज्ञान की भूमि पर ही अभिव्यक्त हुआ है। उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमारे मन में एक आदर्श परिकल्पना होती है। उसके विचारों में हमें सात्विकता के दर्शन होते हैं, किन्तु अन्त में उसी जो प्रतिक्रिया होती है, उसे हम पाप समझते हैं और उस स्थिति को अश्लीलता की सूचक मानते हैं। किन्तु जैनैन्द्र की दृष्टि में वही सत्य है। जब तक व्यवित अपने मन की सच्चाई को स्वतः ही स्वीकार नहीं करता अथवा उसके प्रति सजग नहीं होता, तब तक उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दिया जाने वाला निर्णय उसके अपूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया होगा, क्योंकि सच्चाई ऊपर नहीं दिखायी देती। सुनीता के पूर्ण समर्पण के समक्ष हरिप्रसन्न टिक नहीं पाता। उपन्यास में उसकी जो प्रतिक्रिया दिखायी देती है, उससे सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि हरिप्रसन्न अपने इच्छित उपलक्ष्य को प्रत्यक्ष देखकर मानसिक रूप से ही सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु जैनैन्द्र की दृष्टि में सत्य इससे परे है। ऊपर से आदर्श प्रतीत होने वाले व्यक्ति के अन्तस् की सच्चाई को कोई नहीं जानता, इसी सहारे वह दुनिया की आखों में आदर्श प्रतीत होता है, किन्तु यदि उसे पता चल जाय कि लोग उसके भीतर की सत्यता को जानते हैं तो वह उनसे दृष्टि न मिला सकेगा, ठीक यही स्थिति हरिप्रसन्न की होती है। जैनैन्द्र के अनुसार—'आदमी का दर्पण में अपना ही चित्र मिल जाय तो वह एकाएक सभल जाता है। अपने सबंध में जितना भी आत्म सम्मान का भाव है—उसकी रक्षा के लिए वह लौट जाता है। सुनीता हरिप्रसन्न को चुनौती

देती है कि क्या तुम चाहते हो, लो—और हरिप्रसन्न सोचता है कि क्या मे यही चाहता है और यह सोचकर उसके आत्मसम्मान को जो अपने लिए वह रखता था, उसे ठेस पहुँचती है। उसे उद्दिष्ट की नग्नता में अपना चित्र कामुक दिखायी देता है और अपनी कामुकता के चित्र को देखकर विपर्यस्थ हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार भोक्ता की स्थिति में द्रष्टा मिट जाता है, पर द्रष्टा जाग्रत हो जाय तो भोक्ता का आधिपत्य समाप्त हो जाय। सुनीता की नग्नता के दर्पण में हरिप्रसन्न अपने ही कामुक रूप का द्रष्टा बन जाता है।^१ इस प्रकार जैनेन्द्र की दृष्टि में प्रेम अपने-आप में ही ग्रीष्म है। शुद्ध प्रेम में से स्वतः ही उसका समाधान मिल जाता है। यदि सुनीता में इतना गहरा आत्मविश्वास न होता, जिसे सहारे वह हरिप्रसन्न के समक्ष सच्चाई को प्रकट कर सकी थी तो सम्भवतः हरिप्रसन्न का दमित मन जिन मार्गों से अपनी तुष्टि करता, वह सुनीता के सतीत्व को भी अपने में लपेट लेता, किन्तु सत्यता जब सहज बन जाए तब समस्या उठने की सम्भावना नहीं रह जाती। प्रेम का समग्र और सहज होना अनिवार्य है।

प्रेम : समग्र और सहज

जैनेन्द्र के अनुसार प्रेम की पूर्णता वही है, जहाँ समग्रता और सहजता है। सेक्स के प्रति जुगुप्सा का भाव सात्विक आनन्द की सृष्टि करने में असमर्थ होता है। उपन्यास और कहानियों में दृष्टिगत सेक्स के प्रति यदि लेखक में अनादर का भाव नहीं है, उसे हीन अथवा तिरस्कृत नहीं माना जा सकता। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' में लक्षित काम भाव के प्रति लेखक में अनादर का भाव नहीं है। इसलिए उसे पाप अथवा घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। पूर्ण कहानी में जो सत्य निश्चित है, उसे 'काम' के आधार पर अवहेलनीय नहीं समझा जा सकता। कहानी की विजया के प्रति लेखक की पूर्ण सहानुभूति है। विजया के द्वारा जो अघटित घटित होता है, उसमें दोष नहीं है। स्त्री होने के नाते उसमें मातृत्व की प्रबल आकांक्षा है किन्तु पति की असमर्थता के कारण उसका मन आन्दोलित होता रहता है। उसे अपना स्वत्व बोझ स्वरूप प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में उसके घर आने वाले व्यक्ति के प्रति जो आकर्षण दृष्टिगत होता है, वह स्वाभाविक ही है। किन्तु घड़ी की 'टन्न' की आवाज उसकी चेतना को जागरूक कर देती है और वह अपने किए पर प्रायश्चित्त करने के लिए पति को छोड़कर चली जाती है। पति से दूर रहकर वह अपने को कष्ट ही देती है।

१. साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

इस प्रकार उपरोक्त कहानी में ढूढ़ने पर भी अश्लीलता की झलक नहीं मिलती। जो कुछ भी है, सच्चाई में से ही होता है। जैनेन्द्र के अनुसार अश्लीलता शरीर के स्पर्श में न होकर व्यक्ति की भावना में निहित होती है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में मन का कुछ ही भाग हमारी समझी जाने वाली इच्छाओं और वासनाओं से जुड़ा रहता है। अधिक भाग तो उसका पीछे आत्मा से जुड़ा कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्तस् अन्तस् की सत्यता और पीडा से ही उद्भूत होता है।

अन्तर्भूत पीडा

जैनेन्द्र के साहित्य का परम सत्य उनके पात्रों के अन्तस् में निहित पीडा अथवा व्यथा ही है। उनकी समस्त चेष्टाओं के मूल में उनकी अन्तश्चेतना का आवेग ही समाहित है, जो हमें जैनेन्द्र के साहित्य की अश्लीलता प्रतीत होती है, वह पीडा की पूँजी से सहज ही पावन हो उठती है। जैनेन्द्र के साहित्य में पीडा की गहनता ही तो है जो धनीभूत होती हुई जीवन को स्निग्धता और प्रभविष्णुता प्रदान करती है। बाह्य रूप में दृष्टिगत वासना तो आशिक ही है, पूर्णता तो अन्तस् की व्यथा के योग से ही प्राप्त होती है। व्यथा, विरह की ही उपलब्धि है। जैनेन्द्र के साहित्य में प्रेम प्रधान है। प्रेम प्राप्ति में न होकर अप्राप्ति में ही दृष्टिगत होता है। इसलिए जैनेन्द्र स्वीकार करते हैं कि 'हर आदमी उसका है, जिसको वह कभी प्राप्त नहीं कर पाता। यह प्रेम सघन होते-होते अपने आधार आधेय को अतिक्रमिक कर जाता है अर्थात् वैयक्तिक होकर ही निर्वैयक्तिक बना रहता है।' जैनेन्द्र के साहित्य में 'जीवन प्राण का मूल गुण सुख और शान्ति नहीं है। वह तो वेचैनी और व्यथा है।' जैनेन्द्र की रचनाओं में यत्र-तत्र जब कभी त्रास देने का भाव दृष्टिगत होता है, तो वह केवल देखने में ही आता है। एक ओर से त्रास और दूसरी ओर से सहनशीलता में विरोध और दूरी न होकर और भी सघनता होती है। जैनेन्द्र के अनुसार—'जो जैसा देखता है वैसा नहीं भी है यानी कष्ट बिना किसी को इष्ट नहीं है, जो इस प्रकार कष्ट कर व्यवहार करता है वह गहरी बेबसी के कारण। वह व्यवहार उचित है, सहन का यह मतलब नहीं। आशय इतना ही है कि उस व्यवहार पर ही क्षमा और कृपा की वृत्ति ही सम्भव नहीं है, स्नेह भी सम्भव है और वह उचित भी है।' उपरोक्त विचारों की यथातथ्य हमें 'विवर्त' में प्राप्त होती

१ जैनेन्द्र कुमार 'समय और हम', पृ० सं० ५४२।

२. जैनेन्द्र कुमार 'काम, प्रेम' और परिवार,' पृ० ८८।

है। प्रेम की प्राप्ति के अभाव में जितेन का व्यवहार इतना प्रतिक्रियात्मक हो जाता है कि वह अपनी प्रेमिका भुवनमोहिनी के वैवाहिक जीवन के सुख को देखकर व्यग्रात्मक बौछारे करने लगता है। इस प्रकार वह उसे चोट देकर अपने भीतर की ज्वाला को शान्त करता है। जितेन के द्वारा होने वाली समस्त बिस्फोटक और भ्रान्तिकारी प्रक्रिया एकमात्र प्रेम की अप्राप्ति का ही परिणाम है। उसके मूल में अप्राप्तिजनित पीड़ा है। पीड़ित व्यक्ति अपने प्रिय को ही प्रताड़ित कर सकता है, इसी में उसे सतोष होता है। जितेन भुवनमोहिनी को जंगल में ले जाता है और निर्जन वन में झोपड़ी में डालकर उसके साथ बहुत ही बर्बरतापूर्वक, अमानवीय व्यवहार करता है। किन्तु, बदले में भुवनमोहिनी उसके चरण छूने के लिए ही झुकती है। भुवनमोहिनी के प्रति जितेन के व्यवहार को देखकर यह कहा जाता है कि 'किसी स्त्री का इतना अपमान नहीं किया गया, जितना जैनेन्द्र ने किया है।' किन्तु जैनेन्द्र इसी सन्दर्भ में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'कि स्त्री को मैंने इतनी ऊँचाई दी है कि जो उसे आस दे रहा है, उसके मूल को वह देखती है, और उसके प्रति उसमें अनुकम्पा का भाव है। अनुकम्पा के भाव से द्रवित है 'जो इतना गहरा आस पा रहा है, उसे आसों से अपनाया जा सकता है।' परिणामस्वरूप भुवनमोहिनी जितेन द्वारा दी गई यातना को सहर्ष स्वीकार करती है और आस देने वाले की विवशता को जानकर उसका हृदय किसी भी प्रकार का प्रतिकार करने में समर्थ नहीं हो पाता। मोहिनी जितेन को प्रेम और सहानुभूति देती है। किन्तु जो वह चाहता है, (भोग) उसे वह नहीं दे पाती। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'प्रेम को वह (भुवनमोहिनी) अस्वीकार नहीं करती, परन्तु दूसरी चीज (भोग) को अवकाश नहीं देती। उसका व्यवहार बड़ा धृष्टात्मक हो जाता है। रुग्ण को ममता देती है, परन्तु उद्धत को प्रोत्साहन नहीं देती।' परिणामतः अतृप्त का व्यवहार ध्वसात्मक दिखायी देता है, किन्तु मूल में व्यथा है, अप्रेम नहीं। अन्तिम परिणति प्रेम और समर्पण में ही होती है, जो कुछ होता है अज्ञात रूप से होता है, इसीलिए जितेन कहता है—'जहर मुझमें था सब तो यही जानते थे कि वह आजादी का, क्रान्ति का, विश्व की शान्ति का काम कर रहे हैं। यह मैंने उन्हें बताया था लेकिन भीतर मैं ही यह खुद नहीं जानता था वे लोग यह जानते थे और मानते थे। मैं जानता भी नहीं था, मानता भी नहीं था।...अपने शब्द से मैं अलग था...' स्पष्ट है कि जितेन में जो कुछ दिखाई देता है वह

१. जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

२. साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

सत्य नहीं है। उसके दल के लोग उसे नेता समझते थे किन्तु उसके मन के जहर को कोई नहीं जानता था, जो सच था। फिर असत् घटित होता है, वह क्यों? यही प्रश्न उसके अन्तस् को झकझोरता रहता है। जितेन कोठरी की नगी ईंट की फर्श भुवनमोहिनी को सोने के लिए देता है, कम्बल का ओढन और बिछावन देता है। परन्तु वह यह नहीं जानता कि यह सब सच नहीं था, तभी तो उसके मन में प्रश्न उठता है कि 'नहीं ही कैसे हो जाता है।' व्यक्ति शौनान कैसे बन जाता है। सब के मूल में कुछ और ही है, किसके कारण अतिशय प्रेम के प्रति भी बाह्य रूप में घृणा दिखायी देती है। किन्तु घृणा सत्य नहीं है सत्य तो अपने मन की सच्चाई को प्रकट करने में है। अन्ततः जितेन की दृष्टि में जो सत् है, वह समर्पण में ही है। जेल में रहकर ही वह अपनी अहं से मुक्ति प्राप्त कर पाता है और अपनी सच्चाई को भुवनमोहिनी के समक्ष प्रकट कर देता है। मोहिनी आरम्भ से ही सच्चाई से अवगत रहती है, इसी-लिए उसके व्यवहार में सहानुभूति ही झलकती है, तिरस्कार का भाव नहीं आ पाता। वह जानती है कि बुद्धि के बल से सच को दबाया नहीं जा सकता। दमन में भूठ ही झलकता है। सत्य स्नेह है। उसकी दृष्टि में स्नेह नाते खोजता है। इसका, उसका, सबका उसे सग चाहिए। वह अपने में नहीं है, अन्य में होकर ही है। सब सम्बन्ध अन्त में बन्धन ही तो है। स्नेह उन बन्धनों को रचता और फैलाता है। इन्हीं तारों से वह हमें यहाँ बाधता है कि एकाकी होकर हम सुख न जाय।^१ किन्तु सत्य और स्नेह का योग बहुत कठिन है, पर सत्य वही है। जैनेन्द्र की दृष्टि में स्नेह व्यक्ति का जीवन है, तो सत्य उसका जीव्य है। व्यक्ति के भीतर का अपरूप और द्वन्द्व कदर्प बाहर प्रकट होने के लिए है। दमन में सहजता नहीं है। जो सहजता में है, सत्यता में है, वह सावधानता और चतुरता में नहीं है। परस्पर की उपलब्धि नहीं हो पाती, बद्धि के प्रागल्भ्य से। हृदय के अनुदान से वह सहज होती है।^१

'जयवर्धन में भी सत्य तल में ही रहता है, अभिव्यक्ति में नहीं आ पाता। जय का जीवन जो राजनीति में दृष्टिगत होता है, वही सत्य नहीं है, सत्य उससे परे है। इला जय के सम्बन्ध में कहती है—'लोग राजनीति में उन्हे जाने वह जानना नहीं है। वह सतह का है और बाहरी है..।' इला के अन्तस् की पीड़ा बाह्य रूप में प्रकट नहीं हो पाती। वह अपने जीवन में जय को कर्तव्य की ओर उन्मुख होते हुए ही देखती है किन्तु उसकी व्यथा उसके हर शब्द में

१ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त'।

२ जैनेन्द्र कुमार 'विवर्त', प० स० १५७।

फुटी पड़ती है वह गहती है—बीस साल हो गए हैं, शायद अधिक...आखेगेरी उठी है और सामन की आखो में मने चाह चीन्ही है। पर तब भी आखें मुद गयी है और मुदी रही है। उगलियो के पोरो में लालमा लहकी दिखी है, कि वे अब बहेगी। लेकिन नहीं, नाम के नाप में उन्हें अपनी ही ओर से लिया गया है।...उसी तरह एक दिन, दो दिन, तीन दिन.. हर दिन अगले के इन्तजार में बीतता गया है, पर कुछ नहीं हुआ है और पच्चीस वर्ष हो गए हैं...पर आशा टूटती..शायद ही कि बज्र पड़े।..^१ इला का प्रत्येक शब्द नारी हृदय की उस पीड़ा की अभिव्यक्ति में समर्थ है, जिसमें वर्षों की प्यारा छिपी है और नारी की सबसे बड़ी कामना मातृत्व की चाह भी तो हो सकती है। इला जय के निकट रहते हुए भी विरह की वेदना को सहन करने में ही अपनी कृतार्थता समझती है। उसके भीतर अभावजन्य एक गहन पीड़ा की सिस्कन बनी रहती है। उसके अन्तस् में प्रेम है। इस कारण वह वियोग सहने में भी समर्थ होती है। यदि प्रेम ही संभव न होता तो उसके व्यक्तित्व में इतनी गहराई नहीं आ सकती थी। जैनेन्द्र ने एक स्थल पर स्वीकार किया है कि अभ्यन्तर में यदि स्वीकृति हो, तो.. तब बाहरी वियोग का भार उठाया कठिन नहीं होता, बल्कि अल्पे प्रिय ही हो जाता है।.. प्रेम स्वयं अपनी व्यथा सहना सिखाता है।^२ विरह में सहनशक्ति ही प्रेम को जीवन्त बनाए रखती है।

जैनेन्द्र के साहित्य में नारी पात्रों की सहनशक्ति का अद्वितीय रूप प्राप्त होता है। 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याण' में कल्याणी का जीवन मानो पीड़ा की साकार प्रतिमूर्ति ही है। कल्याणी का व्यक्तित्व आरम्भ से ही इतना उलझा हुआ है कि गत्यता प्रयत्नपूर्वक भी ग्राह्य नहीं हो पाती कारण, प्रेम की पीड़ा उसके अन्तस् में इतनी गहराई से बिधी हुई है कि वह किसी क्षण भी उसमें मुक्त नहीं हो पाती। वह जानती है कि उसके जीवन में कुछ अनवाहा घटित हो गया है, जो उसके भीतर की शान्ति को भग किए रहता है। कल्याणी द्वारा लिखे गए एक लेख में उसके अन्तर्द्वन्द्व की पूर्णाभिव्यक्ति होती है। वह प्रेम को सर्वस्व मानती है किन्तु प्रेम की महत्ता प्राप्ति में नहीं है। वह कहती है 'प्रीति इतनी रीति है आरती, प्रसाद है उसका वियोग।'^३ 'गवार' कहानी में भी इसी शक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।^४ जैनेन्द्र की मान्यता है कि

१. जैनेन्द्रकुमार . 'जयवर्धन', पृ० १३३।

२. जैनेन्द्रकुमार . 'कल्याणी', पृ० ८२।

३. जैनेन्द्रकुमार : 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', भाग ६, पृ० २०५।

'वह प्रेम भयावह है जिसमें अभाव नहीं, तृप्ति है,—वह तभी घृण्य हो उठता है।'

उनकी भीतर की उस प्राणो की प्रेरणा पाते रहने के कारण वह कार्य बाहरी आकाक्षाओं से मलिन न होगा और इस तरह उलभन पैदा करने के बजाय उसको काटेगा ।^१

‘मास्टर जी’ कहानी के मूल में एक गहरा अभाव है जो नौकर के सान्निध्य की ओर आकर्षित होता है। मास्टर की पत्नी का यह व्यवहार प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक ही है, उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। स्त्री में सदैव मातृत्व तथा त्रास पाने की प्रबल आकाक्षा होती है। किन्तु त्रास के बदले में मिलने वाले मान में वह अपमान का अनुभव करती है जिस प्रेम में ‘चाह की धार’ न हो उसे वह अपमान ही समझती है। उसके मन में अपने ही प्रश्नों को लेकर एक आन्दोलन-सा उत्पन्न होता है और वह घर के उद्धत और जवाब देने वाले नौकर से झीक कर भी भीतर ही भीतर गर्व का अनुभव करती है। इस नौकर को लेकर वह को तृप्ति मिलती है उसे कुछ अपनी सार्थकता अनुभव होती है ।^२ मास्टरानी नौकर के साथ घर छोड़कर चली जाती है। पत्नी के वियोग में मास्टर जी की पीडा-मर्म को झकझोर डालती है। उसका सात्विक प्रेम और विश्वास सत्य से अनभिज्ञ होता है। मास्टरानी दीवाली की रात को लौट आती है और अपने प्रति पति के प्रेम को देखकर उसका हृदय कचोट उठता है। वस्तुतः उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों ही स्वाभाविक हैं।

निष्कर्षतः यह अकाट्य सत्य है कि प्रेम में अथवा प्रेम को लेकर पाप-पुण्य का भेद टिक नहीं पाता। सारे नैतिक मानदण्ड प्रेम के समक्ष अर्थहीन सिद्ध होते हैं।

साहित्यादर्श सत्य की स्वीकृति

जैनेन्द्र के साहित्य का आदर्श सत्य की स्वीकृति में ही पूर्ण होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में ‘सत्य बड़ी चीज है। उससे बड़ा धर्म नहीं है। निष्पाप तो कोई हो नहीं सकता है। अपने साथ ईमानदारी बरतने से आगे आदमी का बश नहीं है।’ इस प्रकार सत्य की स्वीकृति में भीतरी कुत्सा और जुगुप्सा का भाव नहीं आ पाता। उनकी दृष्टि में सच मर्यादा में नहीं आता ।^३ ऊपर से लादी हुई नैतिकता बाह्य रूप में आदर्श तो प्रतीत होती है पर उसका अस्तित्व निर्जीवता के साथ ही सम्भव होता है और ऐसे नैतिकता प्राप्त समाज के अन्दर

१ जैनेन्द्रकुमार ‘कल्याणी’, पृ० स० ८२।

२ जैनेन्द्रकुमार ‘जैनेन्द्र की कहानियाँ’, भाग ४, पृ० १७।

३ जैनेन्द्रकुमार ‘मुक्तिबोध’, पृ० स० २८।

पाप का मेल और मडाध रहती है ।^१

सत्य जगत-सापेक्ष

वस्तुतः सत्य की उपलब्धि जीवन और जगत की स्वीकारता में ही सम्भव हो सकती है । व्यावहारिक अथवा स्थूल शक्ति की प्राप्ति के लिए द्वैत का भाव अनिवार्य है । 'स्व', 'पर' के दो तटों के मध्य ही जीवन की सार्थकता है । सरार में दूर जाकर रहने में स्व-मूलक भाव की पुष्टि होती है । 'पर' की नहीं, किन्तु 'स्व', 'पर' के अभाव में स्व-केन्द्रित होकर विस्तारशून्य हो जाता है । जैनेन्द्र का विश्वास है कि शरीर रहते असासारिक होने की आशा अनावश्यक है । 'सरार यदि भगवान का है तो सासारिक होना भगवत्द्रोह क्यों ? यदि भगवान नहीं है तो फिर सरार ही नहीं । इसलिए सरार और भगवान को विरोध की भाषा देकर टकराने से कोई लाभ नहीं दीखता ।'^२

१. जैनेन्द्रकुमार, 'असमर्थता', पृ. ७७ ।

२. जैनेन्द्रकुमार : 'काम, प्रेम और परिवार', पृ. सं० ३६ ।



जैनेन्द्र : जीवन का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण



दर्शन अखण्डता बोधक

जैनेन्द्र का साहित्य दार्शनिकता से अनुप्राणित है। उनकी साहित्यिक प्रक्रिया जीवन के सश्लिष्ट रूप का ही प्रतिनिधित्व करती है। 'दर्शन' का अर्थ ही है 'देखना'। किन्तु दार्शनिक दृष्टि तथा सामान्य दृष्टि में अन्तर है। सामान्य-रूप से व्यक्ति वस्तु या स्थिति के स्थूल और आशिक रूप को देखकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि प्रत्यक्ष को ही देखती है, उसके पार देखने की क्षमता उसमें नहीं होती। किन्तु दार्शनिक दृष्टि ही नहीं, वरन् सूक्ष्म द्रष्टा भी होता है। उसकी दृष्टि सम्पूर्ण को देखती है। देश और काल की सीमा उसके लिए कोई महत्व नहीं रखती। वह कालबद्ध चेतना से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होता है। इतिहास का सत्य काल में तद्गत होता है। अर्थशास्त्र, राजनीति, मनो-विज्ञान आदि विभिन्न शास्त्र जीवन के विशिष्ट पक्ष पर ही प्रकाश डालने में समर्थ हैं। अपने क्षेत्र में ही उनकी पूर्णता लक्षित हो सकती है। विविध शास्त्र मानो सम्पूर्ण शरीर के अग्ररूप हैं। अग्र का महत्व है, किन्तु एक-दूसरे का अस्तित्व सापेक्षता में ही स्वीकार्य हो सकता है। मानव जीवन की अखण्डता का बोध कराने वाला एकमात्र दर्शन शास्त्र ही है। दर्शन शास्त्र का कार्य जीवन, जीवन के विशिष्ट पक्ष पर दृष्टिपात करना नहीं है, उसका लक्ष्य तो जीवन को समग्र रूप में देखना है। दार्शनिक मानव जीवन की अतल गहराई में झाँककर सत्य

की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। वह गहराई में जाता हुआ भी संश्लिष्टता का ही समर्थक होता है। व्यक्ति की आत्मगत सत्यता का बोध प्राप्त करने के लिए सत्य को गहराई से जानने के लिए शरीर का विश्लेषण नहीं करना पड़ता। दार्शनिक सत्य के बोध के लिए बुद्धि से अधिक सम्बुद्धि का सहारा लेता है। दर्शन द्वारा जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। आध्यात्मिक दृष्टि आस्थापरक है। आस्था विश्लेषण की ओर न जाकर संश्लेषण की ओर उन्मुख होती है।

विज्ञान : विश्लेषणात्मक

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। मानव जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जो कि विज्ञान के प्रभाव से वंचित हो। साहित्य, समाज, अर्थ, धर्म और राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। वैज्ञानिक अन्वेषक और विचारक सत्य की खोज में वस्तु की तह पर तह खोलते चले जाते हैं। अपनी अनन्त जिज्ञासा में वे सदैव तृपित ही रहते हैं, क्योंकि बौद्धिक जिज्ञासु विश्वास के द्वारा किसी स्थिति पर ठहरता नहीं है, वरन् तर्क के सहारे स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर की ओर बढ़ता जाता है। वैज्ञानिक सत्य को खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने की प्रक्रिया अपनाता है, किन्तु दार्शनिक अखण्डता और अविभाज्यता में सत्य को देखने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा जीवन अधिकाधिक सुविधामय होता जा रहा है। किन्तु बाह्य जीवन की सुविधाएँ आत्मा को परितृप्त नहीं कर सकती। साहित्य, विज्ञान और दर्शन के मध्य की वह कड़ी है जो मानव जीवन को व्यावहारिक दृष्टि प्रदान करने में समर्थ है। दर्शन की समग्र दृष्टि का प्ररूपण साहित्य के धरातल पर ही सम्भव होता है। साहित्य मानव जीवन की समग्रता का व्यवहारिक पहलू है।

जैनेन्द्र का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

जैनेन्द्र की जीवनदृष्टि उनके साहित्य में पूर्णतः परिलक्षित होती है। साहित्य लेखक के विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। जैनेन्द्र के साहित्य की ऐक्यानुभूति उनके विचारों की संश्लिष्टता की ही परिचायक है। उनके साहित्य में जीवन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, साहित्यिक विचार और भावगत चेतना के मूल में अखंडता अथवा अद्वैता के ही दर्शन होते हैं। उनके साहित्य की आत्मा व्यष्टि और समष्टि, अहंता और भगवत्ता, चेतन और अचेतन, यथार्थ वा आदर्श तथा आध्यात्म और भौतिकता के ऐक्य का पूर्ण निदर्शन प्राप्त

होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में भेद अथवा द्वैत, बाह्य और इन्द्रियगत है, किन्तु इन्द्रिया मार्ग है, गन्तव्य अथवा मजिल नहीं है। मार्ग की द्वैतता सत्य नहीं है, सत्य तो मजिल है, जहा पहुचना है। द्वैत यथार्थ और जागतिक सत्य होते हुए भी सूक्ष्म सत्य नहीं है। सार्वभौम दृष्टि से अखण्डता ही एकमात्र सत्य है। जैनेन्द्र के साहित्य का उद्देश्य एक के निषेध द्वारा अन्य को स्वीकार करना नहीं है। उनके साहित्य में एक और अनेक के पार्थक्य को मिटाते हुए परस्परता पर भी बल दिया गया है। अद्वैत तथा ऐक्य की प्राप्ति का एकमात्र आधार प्रेम है। प्रेम अन्त प्रसूत तथ्य है, अतएव ऐक्यानुभूति भी आत्मप्रसूत ही है। आन्तरिक एकता का स्वरूप सहज और स्थायी होता है। ऊपर से लादी हुई एकता में परस्परता और आत्मता की सहजाभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती। नाना मतवाद विवादमूलक ही है, किन्तु सत्य वाद-विवाद से ऊपर ऐक्य में ही समाविष्ट है।

अद्वैत चर्चा का विषय नहीं

जैनेन्द्र की दृष्टि में द्वैत में से ही ज्ञान-विज्ञान की प्रगति होती है। सभ्यता भेदमूलक है, सत्य अभेद-मूलक। उनकी दृष्टि में जीवन की सारी भाषा अर्थात् द्वन्द्व द्वैत में ही सम्भव है। जैनेन्द्र के अनुसार अद्वैत चर्चा का विषय नहीं है। अद्वैत के तट पर बुद्धि को तो पहुँचा ही नहीं सकते। इसलिए वे अद्वैत को उस भूमिका के तौर पर रहने देना चाहते हैं, जिस पर सब सम्भव बनता है। अद्वैत गर्भित ही है। उनके विचार में जिस प्रकार जिस धरती पर हम बैठे हैं, वह चर्चा का विषय नहीं बनती। उसी प्रकार अद्वैत मूलाधार है, वह वाद-विवाद का विषय नहीं बनती।^१ उनकी दृष्टि में अद्वैत पर पहुँचना नहीं होता क्योंकि जीवन अनन्त यात्रा है। जानने के प्रयत्न में व्यक्ति का अभिमत प्रमुख होता है, सत्य गौण। सत्य सश्लिष्ट है, अतएव जैनेन्द्र जानने के सश्लिष्टरूप की सत्य में गुजाइश नहीं मानते। उनकी दृष्टि से सत्य सश्लिष्ट और अभेद है, उसे जाना भी नहीं जा सकता।

द्वैत से अद्वैत की ओर

जीवन का सत्य अखण्ड है, किन्तु व्यावहारिक जीवन द्वैताश्रित है। व्यावहारिकता, प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिसामूलक है। जीवन की सक्रियता प्रेम, दया, प्यार, सहानुभूति आदि के सन्दर्भ में ही घटित होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि

१ जैनेन्द्र से साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

मे द्वैत के कारण ही तो जीवन मे गति आती है । अद्वैत क्रियाशून्य है । स्त्री-पुरुष का द्वैत सृष्टि का आधार है । 'स्व' 'पर' का भेद लेकर सृष्टि का विकास सम्भव होता है । तथापि द्वैत मध्य की स्थिति है, अन्त नहीं है । जैनेन्द्र के साहित्य का अवगाहन करने से विदित होता है कि जीवन की धारा दो तटों के मध्य प्रवाहित होती है । परन्तु तटों का द्वैत ही सत्य नहीं है । अन्तिम स्थिति अद्वैत में ही प्राप्त होती है । जैनेन्द्र के साहित्य मे इस सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त होती है । 'जयवर्धन' मे सत्य का सश्लेषरूप स्पष्टतः दृष्टिगत होता है ।

जीवन अखण्ड . इकाई

जीवन सश्लेषण का तात्पर्य जीवन की समग्रता का बोध कराना है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य का स्वरूप काट-छाट के मार्ग से कही भी उपलब्ध नहीं हो सकता । उन्होंने अपने साहित्य मे समग्र जीवन की अभिव्यक्ति की है । समग्रता मे भलाई और बुराई, महानता और तुच्छता, आदर्श और यथार्थ सभी समाविष्ट है । जीवन की वह अभिव्यक्ति सच्ची नहीं है, जो कुछ को छोड़ती और कुछ को अपनाती है । उनका यह दृष्टिकोण पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है, वयो कि जिस प्रकार २४ घण्टे का दिन पूरी इकाई है । यदि सूर्य के प्रकाश मे दिन को हम अपने लिए उपादेय माने और रात्री के अंधेरे को तिरस्कृत कर दे, तो ऐसा सम्भव नहीं हो सकता । दिन की पूर्णता मे रात्रि और दिन गमित है । इस दृष्टि से जैनेन्द्र के साहित्य मे अभिव्यक्त व्यक्तित्व की पूर्णता सहज और सत्य है । उन्हें चाहे हम चर्चा मे ले अथवा न ले किन्तु उनका अस्तित्व नहीं मिट सकता । जीवन पूर्ण इकाई है, उसके कुछ अंशों के सत्कार और कुछ के तिरस्कार द्वारा तिरस्कृत वस्तु या व्यक्ति का निषेध ही सम्भव हो सकता है । जैनेन्द्र मे जो कुछ भी दृष्टिगत होता है, वह सत्य के कारण ही है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य से बहिर्गत कुछ भी नहीं है । होने मे ही सत् का भाव समाहित है ।

काल-खण्ड

जैनेन्द्र के साहित्य मे एक मात्र अखण्ड सत्य की स्वीकृति पर ही बल दिया गया है । देश और काल मानव निर्मित किसी परिमित आयाम से परिबद्ध नहीं है । काल अनन्त है । भूत, वर्तमान और भविष्य सभी उसकी अनन्तता में समाहित हैं । बाह्य रूप में सुविधा हेतु दिखायी देने वाली कालगत सीमा शाश्वत नहीं है । बीते क्षण और भावी क्षण के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं

है।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में हर बीता हुआ क्षण भी पुराना है और आने वाला क्षण नवीन है। जीवन का सत्य काल से बंधा हुआ नहीं है, वह तो सर्वकाल व्यापी है। उनकी दृष्टि में काल से तद्गत होकर चलने वाला साहित्य शाश्वत और 'सनातन नहीं हो सकता।' इसीलिए वे साहित्य के सम्बन्ध में नये-पुराने अथवा आधुनिक और प्राचीन के भेद को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। क्योंकि काल की अनन्तता में कुछ भी नया-पुराना नहीं है। स्थूल रूप से दृष्टिगत होने वाली घटना ही पुरानी होती है, उसमें व्याप्त सत्य सदैव एक ही रहता है। साहित्य का आदर्श घटना के माध्यम से सत्य को ही उद्घाटित करना है। जैनेन्द्र के साहित्य में कालखण्ड से ऊपर उठने का भाव लक्षित होता है। उनके पात्र यथार्थ से जड़ित नहीं हैं। भावी जीवन की कल्पना पर ही जीवनशक्ति ग्रहण करते हैं। साहित्यकार द्रष्टा के सङ्घर्ष भावी सम्भावनाओं पर अपने कथासूत्रों को विकसित करता है। साहित्य-प्रक्रिया इतिहास के सङ्घर्ष काल के निश्चित आयाम में परिवर्द्ध नहीं है। जैनेन्द्र के साहित्य में जो हमें अयथार्थ प्रतीत होता है वह अयथार्थ न होकर सम्भावित भी है। साहित्यकार हजारों वर्षों की बीती घटना को अथवा भावी परिकल्पना को अपने साहित्य में प्रतिष्ठित कर सकता है। जैनेन्द्र की 'नीलम प्रदेश की राजकन्या' में मानवीय अनुभूति और सवेदना के सस्पर्श से हजारों वर्ष पूर्व का जीवन वर्तमान की पीठिका पर चित्रित होने में समर्थ हो सका है।^२ दिन, माह, वर्ष आदि हमारी परिकल्पनाएँ हैं। अन्यथा काल का बोध क्षण की अनुभूति में ही होता है। जैनेन्द्र के साहित्य का अवलोकन करने से यह विदित होता है कि काल की गणना मानव निमित्त तथ्य है। विश्वात्मा के निकट वह पल के समान है। 'जैसे हम परकार पैमाने से ब्रह्माण्ड खींचते हैं, वैसे इतिहास से काल घेरते हैं, पर समय अनुभूति में है, चेतना से विलग वह सच्चाई नहीं।'^३

- १ 'मैं काल को विभक्त करके पकड़ने के खिलाफ हूँ। जो लोग ऐसा करते हैं, वे सत्य को जड़ित करते हैं। काल तो प्रवाही है। काल के तट पर सत्य अभिव्यक्त होता रहता है। इसलिए काल की अमुक अवधि में साहित्य की सत्यता को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता

—जैनेन्द्रकुमार 'कहानी अनुभव और शिल्प।

- २ 'व्यक्ति का जीवन जितना यथार्थ पर नहीं, उतना स्वप्न पर टिका है। कहानी, लेखक की ओर इतना बड़ा यथार्थ है कि उसमें हजारों वर्ष का जीवन जिसके कारण भरपूर बना रहता है।

—साक्षात्कार के अवसर पर प्राप्त विचार।

- ३ जैनेन्द्रकुमार 'जयवर्धन', पृ० सं० ७२।

वस्तुतः काल को विभाजित करके प्राप्त होने वाला सत्य सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता ।

देश : अविभाज्य

काल की अनन्तता के दृष्टि से देश भी अविभाज्य है पूर्व और पश्चिम की सीमा का निरूपण मानव निर्मित है । मूलतः समस्त ब्रह्माण्ड एक है । इसपर कही से ऐसी कोई रेखा नहीं खिंची जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि अमुक स्थान पर एशिया अथवा योरप की सीमा समाप्त हो जाती है । जैनेन्द्र के साहित्य में इस तथ्य को विशेष रूप से विवेचित किया गया है । देश-विदेश की सीमाएँ व्यवस्था की दृष्टि से ही उपयुक्त हैं, किन्तु जब यही सीमा मानवता के हित पर कुठाराघात करती है तब घातक बन जाती है । व्यक्ति मानवीय गुणों का प्रतिनिधित्व न करके विशिष्ट देश अथवा राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है । राष्ट्र के साथ 'स्व' और 'पर' का भेद उत्पन्न हो जाता है । 'स्व', 'पर' भेद द्वन्द्वात्मक सिद्ध होते हैं । जैनेन्द्र की दृष्टि में 'राज्य की हृदयदी...मानो सहानुभूति के प्रकट सूत्रों को काटे-तोड़े बिना नहीं होती उन सीमा-रेखाओं के आर-पार के सम्बन्ध सहज मानवीय नहीं रह जाते, राष्ट्रीय के नाम पर विषम सदिग्ध बन जाते हैं ।' अतएव उनके साहित्य में राज्य से पर चर्चा करते हुए भी व्यक्ति की अखण्डता और अभंगता के मूल्यों का निराकरण नहीं किया गया है । जैनेन्द्र के अनुसार जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है । अतः राष्ट्र और मानव-हित में अंतर नहीं है । मानव नीति पर आधारित राजनीति ही ऐक्यमूलक हो सकती है, अन्यथा राजनीति का कार्य तो भेद-नीति पर ही चलता है । जैनेन्द्र के उपरोक्त आदर्श की झलक 'जयवर्धन' में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है । जय की दृष्टि में पूर्व और पश्चिम दो नहीं हैं । उनमें नामगत भेद केवल सूचकमात्र है, अन्यथा दोनों एक हैं । विलवर हूस्टन के समक्ष भारतीय राजनीति के आदर्श को प्रस्तुत करता हुआ जय कहता है—'तुम मुझे पूर्व का कहते हो, पश्चिम क्यों मुझसे अलग है ? पश्चिम का यह मानना ही उसका दोष है ।...पूर्व पश्चिम सकेत भर है, सज्ञा नहीं है ।' जय दुनियाँ में भाकना नहीं चाहता वह तो पारस्परिक प्रेम को ही महत्वपूर्ण मानता है । उसकी दृष्टि में मानव का पक्ष ही विश्व का पक्ष है । जैनेन्द्र की दृष्टि में नक्शे पर खिंची रेखाएँ सत्य नहीं हैं, सत्य तो प्रेम है जो कि देश और काल की सीमा को पार करता

१. जैनेन्द्रकुमार : 'राष्ट्र और राज्य', पृ० स० ३४ ।

२. जैनेन्द्रकुमार : 'जयवर्धन', पृ० स० १६ ।

हुआ भी स्थायी रहता है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानी के पात्रों के जीवन में मानवीय सम्बन्धों की एकता पर ही बल दिया गया है। वस्तुतः देश और कालगत अविभाज्यता द्वारा जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में मानव सम्बन्धों की परस्परता पर ही विशेषतः बल दिया है। देश-विदेश की सीमा सम्बन्ध को सकीर्ण बना देती है किन्तु साहित्य की व्यापक भूमि पर भौगोलिक रेखाएँ मान्य नहीं हो सकती। विभाजन की रेखा द्वन्द्वमूलक है, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रगति और हित के लोभ में दूसरे राष्ट्रों के स्वार्थ पर आघात करने में सकोच नहीं करते, किन्तु परस्परता की भावना समस्त मानवता को एक ऐसे सूत्र में बाध देती है, जिससे वे स्थूलतः विलग होते हुए भी मूलतः एक ही रहते हैं।

ऐक्य-बोध . अहं विसर्जन

जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्ति का जीवन राजनीति, धर्म, समाज, अर्थ-नीति आदि की समष्टि है। मानव जीवन सन्तुलन और समन्वय पर ही आधारित है। उनके साहित्य में व्यक्ति की घटनाएँ विविध परिप्रेक्ष्यों में घटित होती हैं, तथापि उनके मूल में आत्मोन्मुखता की प्रवृत्ति विशेषतः दृष्टिगत होती है। विविधता के मूल में एकता की प्रतिष्ठापना ही जैनेन्द्र के साहित्य का प्रमुख आदर्श है। अनेकता अहंमूलक है, एकता ब्रह्ममूलक। अहं अर्थात् जीव ब्रह्म का ही अंश है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'मैं' की चेतना जाग्रत होते ही ब्रह्म, जीव में पार्थक्य प्रतीत होने लगता है। 'मैं' भाव जितना स्वकेन्द्रित होता है, उतना ही उसमें पर के निषेध का भाव उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र का आदर्श 'स्व' पर के मध्य परस्परता का भाव उत्पन्न करना है। व्यष्टि का कर्तव्य समष्टि की ओर उन्मुख होना है। जैनेन्द्र अहंभाव को दमित करने के पक्ष में नहीं है। उनकी दृष्टि में अहंता यदि भगवत्ता में लीन हो जाय तो द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मूलतः अहं के मूल में स्थित आत्मता और भगवत्ता के मध्य कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि जीव में ईश्वर के गुण प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देते तथापि जैनेन्द्र के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुण यदि उसके अग्र-प्रत्यग में देखने की चेष्टा की जाय तो निराशा ही होगी। इसीलिए जैनेन्द्र स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि यदि दिखने वाले जगत में ईश्वर न दिखाई दे तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। शरीर जड़ है, अग्र-प्रत्यग भी जड़ता के सूचक है। अहंभाव चेतनायुक्त है। अतएव सम्पूर्ण सत्य अंश में गर्भित तो होता है किन्तु विच्छेद द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य की प्रतीति ही संभव होती है। अहं विसर्जन के द्वारा ही 'भगवत्भाव' अर्थात् समग्र शक्ति का

अनुभव हो सकता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में—‘जीव का अस्तित्व अपने में अधूरा है, हममें एक-दूसरे और फिर शेष की आवश्यकता में रहता है। इसलिए सब जीवात्मा का जो अखण्ड चिन्मय स्रोत है, दम्भ—वही है। ऐसा मानकर हमारा जीवन खण्डित होने के बजाय अखण्ड होता है।’

अर्धनारीश्वर • अद्वैत बोधक

जैनेन्द्र की दृष्टि में अहता अथवा ‘मैं’ का सर्वाधिक विगलन काम के मार्ग से ही सम्भव होता है। स्त्री-पुरुष स्वयं में अपूर्ण हैं। एक-दूसरे की प्राप्ति के द्वारा ही पूर्ण हो सकते हैं। अर्धनारीश्वर की परिकल्पना द्वारा शास्त्रों में नर-नारी की पूर्णता की ओर भी इंगित किया गया है। मानव जीवन की सश्लिष्टता स्त्री और पुरुष के परस्पर सान्निध्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। प्रेम की चुम्बकीय शक्ति के द्वारा स्त्री-पुरुष परस्परता के द्वारा अहङ्ग्य होते हुए भगवत्ता में विलीन होने का प्रयास करते हैं। प्रेम की पूर्णता के लिए आत्मा और शरीर दोनों का योग अनिवार्य है। प्रेम में शरीर का निषेध नहीं है, किन्तु शरीर को लेकर ही प्रेम पूर्ण नहीं होता। ‘यामादिपिट’ में भी इस सत्य की ओर इंगित किया गया है। उसमें एक स्थल पर स्वीकार किया गया है कि ‘प्रेम ? प्रेम यह दो भिन्न धाराओं के, दो हृदयों के, आत्माओं के, दो व्यक्तियों के मिलकर एक हो जाने का नाम है। सिर्फ शरीरों का संयोग नहीं है।’ अतएव व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य द्वैत को उत्सर्ग द्वारा अद्वैतता की ओर उन्मुख करना है।

मानसिक संरचना : अखण्ड

जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष के ऐक्य पर बल देते हुए उनकी अन्तः प्रकृति और बाह्य परिवेश पर प्रकाश डाला है। व्यक्ति का व्यक्तित्व अन्तः और बाह्य की समष्टि है। बाह्य-परिवेश की द्वन्द्वात्मक स्थितियों के चित्रण द्वारा जीवन की समग्रता का बोध कदापि नहीं हो सकता। जैनेन्द्र ने अन्तःप्रकृति के बोध के लिए व्यावहा-

१. प्रेम एक जबर्दस्त प्रबल भावना है। विश्वव्याप्त, वैसी ही शक्तिमान। साथ बिस्तर पर रहना ही प्रेम नहीं है, लुई वैसा प्रेम हम दोनों में नहीं है यदि वह आयेगा तो मेरे तुम्हारे लिए परस्पर स्वर्ग उपस्थित हो आएगा।’

—‘यामादिपिट’ अलेक्जेंडर क्युप्रिन, अनु० जैनेन्द्रकुमार, १९५८, दिल्ली
पृ० सं० २६५।

रिक मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन की विश्लेषणात्मक प्रणाली पर आधारित नहीं है। उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन अध्यात्ममूलक है। मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञानिक मन की शक्तियों को चेतन-अचेतन आदि खण्डो में विभाजित करके समझने का प्रयास करते हैं। मनोविज्ञान द्वारा दमित विकारों का ही प्रकटीकरण होता है, किन्तु व्यक्ति की अतः चेतना और बाह्य चेतना को आत्मोन्मुखता की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार अतः और बाह्य प्रकृति एक ऐसी अविच्छिन्न कड़ी से सम्बद्ध है कि उसमें पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जैनेन्द्र का उद्देश्य मनोविश्लेषण द्वारा अतः प्रकृति को उधार कर रख देना नहीं है वरन् प्रकृति के मूल में सत्य की अभिव्यक्ति करना है। मनोविश्लेषणवादी विचारों के विरुद्ध उनकी मान्यता है कि—बुद्धि के तीखे नखों से पात्र के मन की चिर-फाड़ से कला की छीछालेदर की जा सकती है। ऐसी कला से तात्पर्य—सिद्धि तो नहीं होती। अनवय-समनवय में सार्थक है और विश्लेषण यदि सार्थक है तो तभी जब वह कुछ सश्लिष्ट भाव उत्पन्न करने में सम्भव हो।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र के साहित्य में विश्लेषण ही नहीं है, वरन् सत्य को अभिव्यक्त करने की उत्कट अभिलाषा भी है। सत्य सश्लिष्ट ही है।

डा० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए उनके सश्लेषणात्मक रूप पर प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में जैनेन्द्र—‘किसी समस्या पर विचार करते समय उसे परिपात्रित स्थिति से तोड़कर देखना नहीं चाहते, उसे जीवन के प्रवाह के रूप में गतिमान देखते हैं।’^२

जैनेन्द्र की दृष्टि में मानव-प्रकृति के सदृश ही शरीरगत प्रभाव के हेतु रूपाकार की समग्रता भी अनिवार्य है सम्पूर्ण शरीर ही सौन्दर्यगत आकर्षण को उत्पन्न करने में सक्षम हो सकता है। अग-प्रत्यग को छिन्न-भिन्न करके देखने से समस्त आकर्षण विनष्ट हो जाता है। ‘विज्ञान’ कहानी में स्त्री की नाप-जोख करने से सौन्दर्य की अन्विति ही नहीं समाप्त होती, वरन् उसमें हार्दिकता भी विनष्ट हो जाती है। क्योंकि विश्लेषण की प्रवृत्ति चाहे, वह किसी सन्दर्भ में दृष्टिगत होती हो, आत्मगत हार्दिकता का बोध नहीं करा सकती। साहित्य का उद्देश्य आत्मिक सौन्दर्य सृष्टि का बोध कराना है।

१ जैनेन्द्रकुमार · ‘साहित्य का श्रेय और प्रेय’, पृ० १८३।

२ डा० देवराज उपाध्याय ‘जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन’, प्र० सं०, १९६८, दिल्ली, पृ० सं० ४६।

भौतिक और आध्यात्मिक ऐक्य

जैनेन्द्र ने व्यक्ति से इतर बाह्य परिवेश के चित्रण में ही समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ही अपनाया है। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के मध्य उन्होंने एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्होंने साहित्य में वैज्ञानिक उपकरणों के प्रति अनास्था नहीं व्यक्त की है, उनकी दृष्टि में यदि वैज्ञानिक अहंभाव को त्याग कर श्रद्धा और प्रेम द्वारा अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो तो जीवन में विनाश के स्थान पर प्रगति का मार्ग खुल जायगा। जैनेन्द्र ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' द्वारा विज्ञान और अध्यात्म की एकता की ओर इंगित किया है। उनकी दृष्टि में भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे परे' करना आस्तिकता से इनकार करना है। क्योंकि ये दोनों भी भगवान की ही देन हैं।^१ उनका पूर्ण विश्वास है कि विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष होकर धुले-मिलेगे, तो उसका मुफल यही हो सकता है कि राष्ट्रों के बीच परस्परता और प्रीति बढ़े, युद्धों की सम्भावना कम हो और एक विश्व-संस्कृति का विकास हो।^२ जैनेन्द्र ने विज्ञान और अध्यात्म के सैद्धान्तिक पहलू को व्यावहारिक जीवन में स्थापित करने का प्रयास किया है। धार्मिक दृष्टि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आस्था और परस्परता का भाव जाग्रत करने में सक्षम है। जैनेन्द्र के अनुसार केवल भावना में रहने वाली धार्मिक आस्था जीवन के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। धन की सार्थकता और पूर्णता उसकी सक्रियता में ही है। यदि धार्मिक भाव से अनुप्राणित होकर व्यक्ति कर्मशीलता की ओर उन्मुख हो तो विज्ञान और अध्यात्म की दूरी स्वतः ही विलीन हो जाय। महात्मागांधी के जीवन को जैनेन्द्र ने सश्लिष्ट आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में गांधी की महानता का रहस्य यही है कि उन्होंने भेद में से अभेद को और जीवन विज्ञान से अध्यात्म विज्ञान को क्षण के लिए विमुख और विलग नहीं होने दिया।^३ जैनेन्द्र की दृष्टि में भौतिक और आत्मिक द्वैत अद्वैतता एकता में अर्थात् एकता में विलीन होने के लिए ही है। जैनेन्द्र ने अर्थ, राजनीति आदि क्षेत्रों में धार्मिक आस्था का सन्निवेश करके हिंसा और शोषण का निषेध करने का प्रयास किया है। राजनीति और अर्थनीति को मानव नीति से संयुक्त करके उन्होंने भौतिक जीवन को आत्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करने का आदर्श प्रस्तुत किया है। परिपूर्ण

१. जैनेन्द्रकुमार . 'समय और हम' (उपोद्घात से), पृ० स० ४० ।

२. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम' (उपोद्घात से), पृ० स० ४० ।

३. जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० १२२ ।

व्यक्तित्व में हिंसा के भाव या कर्म के लिए अवकाश नहीं रहता।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व की अखण्ड युक्तता कठोरता में नहीं, वरन् कोमलता में ही है।^२ उनका विश्वास है कि कठोरता में से एकाग्रता की साधना करने वाले तपस्वी अन्त में टूटते ही हैं। उनकी एकाग्रता प्रेम की स्निग्धता के अभाव में शुष्क होकर टूट जाती है। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियों में ऐसे व्यक्तियों की अपूर्णता पर अनेकानेक स्थलों पर वर्णन किया गया है।

व्यक्तित्व अखण्ड

जैनेन्द्र के साहित्य में बार-बार व्यक्तित्व की समग्रता पर ही बल दिया गया है। क्योंकि उनकी दृष्टि में सच्चाई पूर्णता में ही है। भूठ के आग्रह द्वारा सच बनाने का प्रयास नहीं किया गया है। जहाँ ऐसी स्थिति लक्षित होती है, वहाँ आग्रह अतत पराभूत होते हुए देखा जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में 'जिन्दगी एक साबत चीज है उसमें खाने नहीं है, विभाग नहीं है। वह अखण्ड है और समग्र है।'^३ अखण्डता में भी जीवन की सार्थकता है किन्तु अखण्डता बुद्धि द्वारा अग्राह्य है और व्यक्ति अपने ज्ञान के दर्प के कारण पूर्णता को खण्ड-खण्ड में विभाजित करके जानने के प्रयत्न में लगा ही रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में सत्य में जानना कुछ नहीं है, सब होना है। यदि उसे जानना ही होता तो सम्भवतः वह सत्य ही नहीं रहता। विभाजन की यह प्रक्रिया वैज्ञानिक क्षेत्र में ही नहीं परिमित होती। जैनेन्द्र के अनुसार नैतिकता व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्ति के जीवन को नैतिक और अनैतिक के आधार पर उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित करके परखा जाता है। हमारे शास्त्रों में भी विभाजन की यह प्रक्रिया स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। त्रिगुणात्मक सृष्टि की चर्चा श्रीमद्भागवतगीता में भी मिलती है। गुणों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए यह समझना कि सत्वगुण प्रधान व्यक्ति का जीवन विषय-विकार से हीन होता है तथा तमो-गुणीव्यक्ति में सात्विक गुणों के दर्शन नहीं होते, नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्तित्व सत्य, रज और तम में विभाजित नहीं है। ये तीनों व्यक्तित्व के ऐसे गुण हैं जिन्हें विभाजन-रेखा द्वारा विभाजित नहीं किया जा सकता। जैनेन्द्र ने सत्य, रज और तम के रूप की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उनकी दृष्टि में तीनों गुण जीवनरूपी मजिल के तीन खण्डों

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० सं० १२५।

२ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० सं० १२७।

३ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्', पृ० सं० २५७।

के सदृश है। इस प्रकार जीवन तीन खण्डों में बटा है। यदि तीनों मजिलों के बीच आवागमन की सुविधा न हो तो प्रत्येक खण्ड अपने में कटा रह जायगा। यह स्थिति नितान्त अप्राकृतिक है। जैनेन्द्र की दृष्टि में, 'मकान वह तभी काम दे सकता है, उसमें रहा-सहा जा सकता है, जब उन मजिलों में आपस में आवाज आयी हो। एक जीना हो जो तीनों को जोड़ता हो एक मुलाजिम हो जो तीनों का ख्याल और इन्तजाम रखता हो।'^१ जैनेन्द्र के अनुसार तिमजिले मकान का सफल स्वामी वही हो सकेगा, जो नीचे की मजिल का ध्यान उतना ही रख सके जितना ऊपर वाली का रखा जाय तो जीवन सुखमय और सहज हो सकता है।

सत्त्व, रज, तमः सश्लिष्ट

गीता में इन तीनों गुणों की सश्लिष्ट अभिव्यक्ति ही हुई है। कृष्ण अर्जुन के समक्ष उपदेश देते हुए बताते हैं कि जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है, अर्थात् गुण ही में वरतते हैं, ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्द स्वरूप मुक्त परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।^२ इस प्रकार गुणों में ही निवास है, किन्तु व्यक्ति का स्वयं निर्गुण होना ही सार्थक है। जैनेन्द्र ने गीता की आध्यात्मिक दृष्टि को जीवन के व्यावहारिक घरातल पर विवेचित किया है। गुणों के वैभिन्य के कारण व्यक्तित्व खण्डित नहीं होता, वरन् गुण से तद्गत होकर वह पूर्ण ही होता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में आत्मा न सतोगुणी है न तमोगुणी। वह सबके ऊपर है।

मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता उपरोक्त तीनों गुणों के सश्लिष्ट रूप की स्वीकृति में ही सम्भव है। जैनेन्द्र की दृष्टि में केवल सत्त्व की स्वीकृति और रज तथा तम के निषेध से व्यक्तित्व में समग्रता नहीं आ सकती। रजस् और तमस् से अनबन करके जीवनयापन करने वाला व्यक्ति अपने आचरण में कभी भी सहज नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निषेधात्मक पहलू की ओर व्यक्ति की प्रवृत्तियों का झुकाव अधिक होता है। जिस और जितना दमन का भाव होता है, उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी रहती है। यदि मानवीय प्रवृत्तियाँ सहज रूप से अपने क्षेत्र में गतिशील होती हुई उत्तरोत्तर अकर्म अथवा शून्य की ओर बढ़ती हैं तो उनमें दमन का भाव न होकर सहजता और पूर्णता ही लक्षित होती है। जैनेन्द्र की दृष्टि में खण्डित व्यक्तित्व में क्रशता,

१. जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्', पृ० सं० २५८।

२. श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय १४, श्लोक १६।

अतृप्ति और असन्तुष्टि अधिकाधिक बढ़ती जाती है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा पाप का भय सदैव ही बना रहता है। भय के कारण होने वाले आचरण में सहजता का अभाव रहता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में व्यक्तित्व का खण्डित रूप मान्य नहीं है। उनके साहित्य में बड़े-से-बड़े नेता भी प्रवृत्ति के मार्ग से महान बने हैं। जब कभी निवृत्ति के द्वारा उन्होंने त्याग और तपस्या के द्वारा अपने जीवन को सुखाने की चेष्टा की है तो उन्हें पराजय ही मिली है। जैनेन्द्र के पात्र सत्य के समक्ष नतमस्तक होते हुए देखे जाते हैं। उनके साहित्य में चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह अपनी अन्तस् की तृप्ति को तृप्त किए बिना कभी भी सहज नहीं हो पाता। हठात् अपनी अन्तश्चेतना के सत्य को ठुकराकर वह क्लृप्त ही बनता है, महान नहीं। देश के वरिष्ठ नेताओं के प्रति सामान्यतया हमारे मन में आदर का भाव होता है, किन्तु जब कभी हम उनके व्यक्तिगत जीवन के रहस्य से परिचित होते हैं, तो हमारा आदर का भाव घृणा में परिवर्तित हो जाता है और हम यह भूल जाते हैं कि नेता होने पर भी वह व्यक्ति है। उनमें मानवोचित गुण और दोषों का होना अनिवार्य है। मानवीय गुणों के निषेध द्वारा ब्रह्मचर्य साधना का प्रयत्न निरर्थक ही प्रतीत होता है। सत्य योग में ही है, किन्तु भोग का निषेध करके होने वाली योग-साधना पूर्ण नहीं हो सकती। 'बाहुबली' में बाहुबली के मन में जो फास होती है, उसके निकाले बिना उसकी पूर्णता की प्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होता है। 'क पथा' कहानी में सत्य का निषेध करके शरीर को तप द्वारा अधिकाधिक सुखाने से अन्तर की पिपासा शान्त नहीं होती और अन्ततः उपरोक्त कहानी में लालचन्द्र को विक्षिप्त होते हुए देखा जाता है। 'सुखदा' में सुखदा को घर छोड़कर बाहर जाने वाली नेत्री ही समझा जाता है किन्तु उसके अन्तर्द्वन्द्व को जानने की चेष्टा नहीं की जाती। अभाव के कारण वह बाहर की ओर आकर्षित होती है, किन्तु घर से उसका विरोध नहीं होता। वह चाहती है कि घर पर उसे आत्मिक विश्वास और प्रेम मिले किन्तु वह सम्भव नहीं हो पाता, जिसके कारण वह कहीं की नहीं रह पाती। 'मुक्तिबोध' और 'अनन्तर' में पाप के भय के कारण तथा सामाजिक मर्यादा के हेतु स्त्री से दूरी का भ्रम लक्षित होता है। 'मुक्तिबोध' में 'प्रसाद' मन की दुर्बलता के कारण ही नीलिमा की नगी त्वचा के स्पर्श से क्रुद्ध हो उठता है और उसके आचरण के प्रति अपनी खीझ व्यक्त करता है। यदि 'प्रसाद' के भीतर नग्नता इतनी महत्वपूर्ण न होती तो उसमें नारी-शरीर के स्पर्श मात्र से भुल्लाहट न आती और वह सहज बना रहता।^१ वस्तुतः जैनेन्द्र ने व्यक्ति के राजनीतिक जीवन

के साथ उसके व्यक्तिगत जीवन की सत्यता को भी स्वीकार किया है। राज-नीति अथवा धर्म को लेकर व्यक्ति स्वयं से इतना टूट नहीं जाता कि वह व्यक्ति ही न रहे।

जैनेन्द्र मन को प्रताडित करते रहने की परिपाटी के कायल नहीं है। उनकी दृष्टि में वह सब आचार व्यभिचार है, जिसमें भय और सशय है। भय से साधी जाने वाली नैतिकता समाज में ऐसी सडाध उत्पन्न करती है, जिसके बीच घुटता हुआ जीवन स्वच्छ वायु के अभाव में निष्प्राण प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः व्यक्ति का जीवन एक अखण्ड इकाई है। जिस प्रकार नक्शे की मोटी लकीर जमीन पर नहीं मिलती, उसी प्रकार जिन्दगी पर तत्ववादी की लकीर भी नहीं है। धरती एक है। हर बिन्दु पर वहाँ उत्तर-दक्षिण मिला हुआ है, इसी तरह जिन्दगी एक चीज है और उसके हर जीवन-कण-कण पर सत्व-रज और तम मिल जाते हैं।^१ जैनेन्द्र गुणों के भेद को स्वीकार करते हैं तथापि गुण-भेद के द्वारा जीवन की अखण्डता को विभाजित करने के पक्ष में नहीं है।

निष्कर्षतः जैनेन्द्र के साहित्य का दृष्ट अखण्डता की भावना ही है, उन्होंने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि उनके मन में एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व है, अकु-लाहट है जो प्रकट होने के लिए बेचैन है। और वह है यही अखण्डता की भावना। अपनी इस आन्तरिक उद्वेलन को प्रकट करने के लिए उपन्यास और कहानी की रचना की है। उनकी दृष्टि में अखण्डता का बोध ही वह कुजी है, जो जीवन की बड़ी से बड़ी समस्या के समाधान में सहायक हो सकती है किन्तु यह अखण्डता ही व्यक्ति की पकड़ से बाहर हो रही है। जैनेन्द्र के अनुसार इस अखण्डता को ढूँढने का एक मात्र साधन है—प्रेम और अहिंसा। जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य प्रेम और अहिंसा के अर्थों को ही व्याख्यायित करता हुआ प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि में प्रेम और अहिंसा का अर्थ है, दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना। पीड़ा में ही परमात्मा बसता है।^२ उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'मेरे उपन्यास आत्मपीडन के ही साधन हैं और इसीलिए मैंने उनमें कामप्रवृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीडन का तीव्रतम रूप है।'^३ उनका विश्वास है कि उनके उपन्यास पाठक को जितनी आत्मपीडन की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा करके जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं, उतने ही सफल कहे जा सकते हैं।^४ जैनेन्द्र का समग्र

१. जैनेन्द्र कुमार 'द्विस्तत', पृ० २५६।

२. डा० नगेन्द्र : 'आस्था के चरण', पृ० सं० ३००।

३. डा० नगेन्द्र : 'आस्था के चरण', पृ० सं० ३००।

४. डा० नगेन्द्र : 'आस्था के चरण', पृ० सं० ३००।

साहित्य इस सत्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ है। उनके पात्रों की पीड़ा हमसे छिपी नहीं है। मृणाल और कल्याणी अपनी पीड़ा से स्वयं ही व्यथित नहीं होती, वरन् पाठकों के हृदय में भी एक गहरी टीस उत्पन्न करने में सक्षम होती है।

सृष्टि-अखण्ड

साहित्य, कला और सस्कृति का उत्स विभाजन में न होकर ऐक्य में ही समाहित है। जैनेन्द्र ने सृष्टि के मूल में गर्भित सत्य की इतनी अक्राट्य अभिव्यक्ति की है, जिसे स्वीकार किए बिना कोई भी सृजन-प्रक्रिया पूर्ण और आत्मिक नहीं हो सकती। 'सृष्टि वहा से है जहा आदमी लीन हो जाता है, जहा वह अपनी विभक्ति भूल जाता है। जहा वह न अच्छा रहता है, न बुरा रहता है। जहा वह बटा नहीं होता, एकाग्र और समग्र हो जाता है। जहा वासना और भावना में प्रखरता नहीं रह जाती। जहा व्यक्ति अपने को पूरा अंगीकार करता और फिर पूरा-का-पूरा निछावर कर डालता है। जहा अपने किसी अंश को पीछे रोकता नहीं और सर्वांश को स्वाहा करके धन्य हो जाता है।' जैनेन्द्र के उपरोक्त कथन में उनके चिन्तन का सार स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। उनके साहित्य में इन्हीं तत्वों को जीवन में घटित होते हुए दर्शाया गया है। उनकी दृष्टि में सृष्टि ज्ञान में से न होकर अबोधता में से ही सम्भव हो सकती है। ज्ञान में विभाजन है। विश्व की महान् प्रतिभाएँ स्वीकार और समन्वय के मार्ग का अनुसरण करने के कारण ही सम्भव हो सकी हैं। जैनेन्द्र का दृढ़ विश्वास है कि विभक्त मानसिकता में से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खण्डित व्यक्तियों के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र में देखने में आते हैं, सो इसी कारण कि उनकी वफादारी जीवन और जगत के प्रति न होकर सिद्धांतों के प्रति होती है।^{१२} जीवन में पूर्णता एकमात्र प्रेम और स्वीकारता में से ही सम्भव है। प्रेम की सक्रियता परस्परता में ही लक्षित होती है।

साहित्यिक-प्रक्रिया • संश्लेषणात्मक

जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि संश्लेषणात्मक होने के साथ ही उनकी साहित्यिक प्रक्रिया भी संश्लेषणता से अनुप्राणित है। जीवन की अखण्डता को बुद्धिप्रसूत

१ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्' पृ० सं० २६०।

२ जैनेन्द्रकुमार 'इतस्तत्', पृ० २६०-२६१।

विश्लेषक प्रक्रिया द्वारा वे खण्डित करने के पक्ष में नहीं हैं। अखण्ड सत्य को वे ज्ञान का विषय न मानकर सम्बुद्धि का विषय मानते हैं। सम्बुद्धि में अन्तर्दृष्टि की प्रधानता होती है। अन्तर्दृष्टि द्वारा सत्य को समग्र रूप में देखने की चेष्टा की जाती है। जैनेन्द्र के अनुसार उपदेश मूलक, आलोचनात्मक दृष्टि से गृहणात्मक साहित्य में अभिव्यक्त जीवन की सहजता और सजीवता का दिग्दर्शन सम्भव नहीं हो सकता है। आलोचनात्मक प्रक्रिया द्वारा वस्तु को अखण्ड रूप में न देखकर उसे भिन्न-भिन्न करके देखा जाता है। यथार्थ की अभिव्यक्ति के लोभ में व्यक्ति को पूर्णतया विश्लेषण करके देखने से सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती। विश्लेषण के द्वारा अनेकता और विच्छिन्नता ही यथार्थ बन जाती है और यथार्थ के मूल में अन्तर्भूत सत्य अदृश्य हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार यथार्थ के आग्रह में सौंदर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। वस्तु की अनेकता बेहद उभर पड़ती है। जैसे सब कुछ परस्पर को व्यक्त करता हुआ सिर्फ कटा-फटा है। साहित्य-वस्तु की अनेकता में से अपेक्षाकृत दृश्य एवं दर्शन की एकता की सृष्टि करता है।^१ जैनेन्द्र की दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य जीवन की विविधता में एक अमोघ और अदृश्य सूक्ष्म सत्य की प्रतिष्ठा करना है।

जीवन के साथ ही साहित्य-प्रक्रिया भी वैज्ञानिक पद्धति से अनुप्राणित है। वैज्ञानिक बुद्धि अन्वयपरक अधिक होती है, किन्तु साहित्य अन्य और विश्लेषण के आधार पर रसानुभूति और प्रभावगत अन्विति से शून्य हो जाता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में सत्य शिव सुन्दरम् की पूर्णता साहित्य में रसानुभूति और स्थायित्व उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। यथार्थ की प्राप्ति के लोभ में वस्तुगत समग्रता विनष्ट हो जाती है, क्योंकि सत्य शिव सुन्दरम् इन तीनों में से किसी एक के भी अभाव अथवा अन्य के वर्णन की अतिशयता से साहित्य का स्वरूप पूर्ण नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से सत्य के अनुसंधान में हम कितने भी दूर जा सकें, चित्त सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। नहीं पहुँच सकते हैं, इसलिए है कि वहाँ पहुँचने वाला व्यक्ति और पहुँचने की मजिल जो बने रहते हैं। जैनेन्द्र जीवन और साहित्य के लिए श्रद्धापरक ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में आस्थायुक्त बुद्धि दूसरे को खण्डित करके चलने के भ्रम में नहीं पड़ती। श्रद्धा और विश्वास के द्वारा आग्रह का भाव प्रखर नहीं होता। इसमें समर्पण और स्वीकारता की भावना ही विशेषरूप से जाग्रत होती है, तो उसमें शब्द और रूपाकार गौण हो जाते हैं, भाव-गरिमा ही शब्दों द्वारा ध्वनित होती है। जैनेन्द्र के साहित्य में प्राप्त होने वाले दार्शनिक-बोध के

आधार पर हम उन्हें ज्ञाता से अधिक एक द्रष्टा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ज्ञाता होने में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है। किन्तु अन्तर्बुद्धि के सहारे सत्य को जानने में लीनता का भाव लक्षित होता है।^१

सत्यबोध श्रद्धामूलक

जैनेन्द्र के साहित्य में श्रद्धा का भाव विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इनकी दृष्टि में श्रद्धा ऊपर से थोपी नहीं जाती, वह तो 'मर्म' की ओर से शायद व्यथा है। 'व्यक्ति, व्यक्ति में ज्ञान का दम्भ तो हो ही नहीं सकता। श्रद्धा के कारण वह केवल समर्पित ही होता है।' 'अनन्तर' में ज्ञान और विज्ञान के ऐक्य के लिए श्रद्धा की अनिवार्यता पर बल दिया है। श्रद्धा के ऐक्य से ज्ञान और विज्ञान परस्पर पूरक हो सकते हैं। श्रद्धा ऐक्यमूलक है। वह व्यवच्छेद पर आश्रित नहीं है। जैनेन्द्र का अटूट विश्वास है कि जो जानने में उपलब्ध नहीं हो सकता वह विनम्र श्रद्धा के द्वारा सहज हो जाता है।^२ जैनेन्द्र के अनुसार न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का बोध विश्लेषणात्मक बुद्धि से नहीं, वरन् सबुद्धि से प्राप्त हुआ था, जिसे हम प्रज्ञा भी कहते हैं। व्यर्थ प्रयत्न में चिन्ता मन को सत्य का बोध श्रद्धा से झुक जाने और समर्पित होने में ही प्राप्त होता है। श्रद्धालु के हृदय में ज्ञाता और ज्ञेय का पार्थक्य मिट जाता है किन्तु बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के पार्थक्य पर ही आधारित होता है।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त जीवन सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की समकक्षता में विवेचित किया जा सकता है। डा० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए उन्हें गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की समकक्षता में ही प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार जैनेन्द्र का सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण गेस्टाल्ट के सम्पूर्णतावाद से अभिन्न है। उपाध्याय जी की दृष्टि में 'गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक वस्तु को आकार से भिन्न नहीं देखता, तीन या चार बिन्दुओं को देखते ही वह एक त्रिकोण या

१ 'जब हम किसी कारण अपने को सर्वथा बिसरे रहते हैं, मानो शून्य हो जाते हैं, चैतन्य हममें सोया नहीं रहता, पर प्रवृत्त भी नहीं होता और केवल जाग्रत भर रहता है, तब सबुद्धि काम कर जाती है।'।

—जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम', पृ० स० ६१५।

२ जैनेन्द्रकुमार 'अनन्तर', पृ० स० १००।

चतुष्कोण को देख लेता है, मानो वह त्रिकोण या चतुष्कोण वहा बिन्दुओं के अस्तित्व में आने से पूर्व ही किसी रहस्यमय रूप में उपस्थित हो और रेखाओं को सार्थकता प्रदान करते हो।^१ जैनेन्द्र की कहानियों और उपन्यासों में प्राप्त होने वाली रिक्तता को भी खण्डित रूप में न देखकर भावगरिमा से युक्त करके अखण्ड रूप में देखा गया है। उपाध्याय जी के अनुसार रिक्तता में ही जैनेन्द्र के साहित्य का वांछित गर्भित है।^२ उपाध्याय जी की दृष्टि में गेस्टाल्टवादी दृष्टि से देखने पर—टुकड़े नहीं दीख पड़ते हैं, परन्तु उनके बीच में जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है, वही सबसे पहले दीख पड़ती है। उसी व्यवस्था और परस्पर बद्धता के मध्य पड़े दीखने के कारण वे खण्ड अपूर्ण अथवा खण्डित नहीं, पर व्यवस्थित और सगठित रूप में दीखते हैं।^३

जैनेन्द्र की अखण्ड दृष्टि और गेस्टाल्ट

जैनेन्द्र के साहित्य में सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण का प्रभाव पूर्णतः दृष्टिगत होता है, तथापि जैनेन्द्र का चिन्तनपक्ष किसी वाद-विशेष से परिवर्द्ध नहीं है। उनके साहित्य में प्राप्त होने वाला सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण उनकी अस्तित्वता के सम्पर्क से मनोवैज्ञानिक तथ्य न रहकर आध्यात्मिक विषय बन जाता है। गेस्टाल्ट ने वस्तु को आकार से भिन्न रूप में समझने की चेष्टा नहीं की है। उनका चिन्तन वस्तुगत है, किन्तु जैनेन्द्र के साहित्य में सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण की भूलक उनकी आध्यात्मिक दृष्टि के सन्दर्भ में ही देखी जा सकती है। इस दृष्टि में उनकी 'तत्सत' कहानी बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होती है। 'तत्सत' कहानी में प्रत्येक वृक्ष अपने सम्बन्ध में इतना अहनिष्ठ है कि वह 'स्वयं' को समष्टि की सापेक्षता में वन अथवा जंगल के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ होता है। हजार चेष्टा करने पर भी उन्हें यह समझ में नहीं आता कि वन क्या है? वे परस्पर विवाद करते हुए कहते हैं—'मैं जंगल हूँ। तब बबूल कौन है?' उसी प्रकार बास कहता है—'भूठ! क्या मैं यह मानूँ कि मैं बास नहीं, जंगल हूँ, मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बास हूँ।' और मैं घास?' और मैं

१. डा० देवराज उपाध्याय . 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० सं० ११८।

२. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० सं० १२१।

३. डा० देवराज उपाध्याय 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', पृ० सं० १२१।

शेर ।' इस प्रकार यह नहीं समझ पाते कि जगल कहीं बाहर या दूर नहीं है, वरन् उनकी समष्टि में ही जगल है । अन्त में एक विज्ञ पुरुष बड़दादा के सह-योग से उन्हें सत्य का बोध कराने में सक्षम होता है । इस प्रकार उन्हें यह बोध होता है कुल है, खड कुछ नहीं है, उनका यह समझना कि मैं बास हूँ, मैं सेमर हूँ, भ्रम है । सत्य का बोध होते ही बड़दादा कह उठते हैं—'वह है, वह है ।' 'सब कही है । सब कही है और हम ? 'हम नहीं, वह है ?' इस प्रकार सत्य की अनुभूति समग्रता में ही सम्भव हो पाती है । सत्यखण्ड में भी अन्तर्भूत है, किन्तु खण्ड अथवा अश कोई सत्य मानकर चलने में आमवादिता लक्षित होती है । इस तथ्य के द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र की दृष्टि में 'मैं' अथवा अशत सत्य नहीं है, सत्य 'वह' है अर्थात् ईश्वर है जो कि पूर्ण है ।

जैनेन्द्र की उपरोक्त आध्यात्मिक दृष्टि उनके पात्रों के व्यावहारिक जीवन में भी लक्षित होती है । जैनेन्द्र के साहित्य में लक्षित व्यक्तित्व की समग्रता के आदर्श में भी यही सम्पूर्णतावादी दृष्टि के ही दर्शन होते हैं । जीवन का कोई भी पक्ष खंडित होकर निषेध द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता । जीवन की पूर्णता सत्-असत् की स्वीकृति द्वारा उत्तरोत्तर उससे पार उठने में है । जैनेन्द्र के अनुसार सत्य अविभाज्य है, अतएव इसे खण्डित करके समझने का प्रयत्न मिथ्या है । उनका विश्वास है कि अहं के द्वारा व्यक्ति अखण्ड सृष्टि से नहीं, वरन् वस्तु के राग से होता है ।

उपसंहार

जैनेन्द्र के बृहद् साहित्य-सागर में अवगाहन करने के अनन्तर हमें जो कतिपय विचार-भौक्तिक प्राप्त होते हैं, वे कथा-साहित्य-जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैनेन्द्र के साहित्य में उपलब्ध ये भौक्तिक उनके अपने ही हैं, किसी से उधार लिए हुए नहीं हैं। यही है उनकी वैचारिक विशिष्टता का मूलधार। उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति में न तो परम्परा से बंधने की ही चेष्टा की है और न ही सायास उससे सम्बन्ध तोड़ने का प्रयत्न किया है। उनकी भाव और विचार-गत नवीनता अन्तःप्रसूत होने के कारण आग्रह से सर्वथा उन्मुक्त है। जैनेन्द्र के साहित्य का उत्स उनकी अन्तर्व्यथा ही है। अभावजन्य वेदना ही उनके साहित्य का उत्स बनी है। वस्तुतः 'स्व' से 'पर' की ओर अर्थात् अपनी निजता को लेकर परता की ओर उन्मुख होने के कारण उनके साहित्य में आत्मानुभूति और सत्य का समावेश सहज रूप से ही होता गया है। बाह्य-परिवेश उनके बौद्धिक धरातल से टकरा कर ही रह गया है, वरन् वह अन्तश्चेतना के रस का स्पर्श करता हुआ पुनः साहित्य के माध्यम से बाह्यमुखी हुआ है।

जैनेन्द्र से पूर्व साहित्य-सृजन की प्रक्रिया बाह्य स्थिति और समस्याओं को लेकर गतिशील हुई थी। सम-सामयिकता के प्रभाव के कारण उनकी रचनाओं में समय से ऊपर उठने की प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु जैनेन्द्र का साहित्य काल से जड़ित नहीं है। उसमें देश और काल से ऊपर उठकर मानव जीवन के शाश्वत और चिरन्तन सत्यों की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। जैनेन्द्र ने अन्तश्चेतना को प्रमुखता देते हुए भी बाह्य स्थितियों की अवहेलना नहीं की

है। क्योंकि उनके चिन्तन का आधार तो बाह्य-परिवेश ही था। अन्तर केवल उसकी अभिव्यक्ति के कारण ही उत्पन्न होता है।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में मनुष्य द्वारा विकसित जीवविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म आदि का मानव जीवन की सापेक्षता में विवेचन किया है। मानव जीवन की पूर्णता, परिस्थिति और परिवेश की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकती है, किन्तु परिवेश बाह्य रूप तक ही सीमित है। बाह्य रूप पर सामान्यतः सभी की दृष्टि पड़ती है। किन्तु महत्ता उसकी है, जो स्थिति के मूल में अदृश्य सत्य को पकड़ने की चेष्टा करता है और बाह्याकर्षण में ही अपने को परिमित नहीं रखता। जैनेन्द्र ने परिवेश रूप पल्लव और शाखाओं के रूपाकार में फसकर उसके मूल की अवहेलना नहीं की है। यह आवश्यक नहीं कि जीवन अथवा साहित्य का उत्स आकर्षक ही हो, किन्तु सत्य, सत्य है। उसके सुन्दर-असुन्दर, भले-बुरे होने से कोई अन्तर नहीं आता। यह सत्य ही जैनेन्द्र के समग्र साहित्य में सहज रूप से अभिव्यक्त होता हुआ दृष्टिगत होता है। यदि हम जैनेन्द्र के साहित्य का सूक्ष्म अवगाहन करें तो उसके मूल में हमें एकमात्र सत्य का स्वर ही ध्वनित होता हुआ दृष्टिगत होगा। समस्या छोटी हा, या बड़ी, शाश्वत हो या चिरन्तन, घर की हो या बाहर की—सब के मूल में उन्होंने सत्य को ग्रहण करने की चेष्टा की है।

सर्वप्रथम जैनेन्द्र के विचारों का मूल स्वरूप हमें उनकी जीववैज्ञानिक दृष्टि में उपलब्ध होता है। मानो वही रूप उनके समस्त साहित्य में छाया हुआ है। सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक डार्विन ने जीवन का विकास पशु से माना है। जैनेन्द्र डार्विन के इस विचार से सहमत है, किन्तु वे वैज्ञानिक ही नहीं हैं, दार्शनिक भी हैं। उनकी दृष्टि वर्तमान तक ही सीमित न रहकर उसके पूर्व अथवा उसके उत्स को जानने की चेष्टा करती है। जैनेन्द्र ने सम्बुद्धि के द्वारा जीवन के विचारों से एक कदम पीछे हटने की चेष्टा की। उन्होंने पशुता के मूल में सत्य को देखने का प्रयास किया। जैनेन्द्र ने विकासवादी पशुत्व के मूल में देवत्व को हिसा में अहिंसा की स्थिति के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पशुत्व के मूल में देवत्व की भावना उनके साहित्य में सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

जैनेन्द्र ने जीवन के शाश्वत सत्यों यथा—ईश्वर, जीव, जन्म, मृत्यु आदि के सम्बन्ध में आत्मानुभूति सत्य का प्रकटीकरण किया। जैनेन्द्र की दृष्टि में ईश्वर सत्य ही नहीं है, वरन् वही एकमात्र सत्य है। उससे परे सब मिथ्या है। सत्य अद्वैत है। वह चर्चा का विषय नहीं बन सकता किन्तु व्यावहारिक जीवन में वही सत्य ईश्वर के नाना रूपों में ग्रहण किया जाता है। भक्त अपनी अनुभूति के अनुकूल उसे प्रतिमा प्रदान करता है। जैनेन्द्र की ईश्वरीय आस्था

उनके समस्त साहित्य में श्रद्धा और आत्मविश्वास तथा भाग्य निर्भरता के रूप में लक्षित होती है।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का मूलाधार उसकी धार्मिक दृष्टि में ही समाविष्ट है। उन्होंने धर्मपूर्वक ही राजनीति, धर्म और समाज आदि समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र की दृष्टि में धर्म परम्परागत कर्मकाण्ड से पृथक् जीवन की सहजता अथवा प्रकृति की स्वीकृति में ही समाहित है। ग्रहसा, अपरिग्रह, दया, प्यार, सेवा आदि मानवीय गुणों का भी उन्होंने गत्र-तत्र विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में मोक्ष जगत से मुक्ति नहीं है, वरन् अह से मुक्ति है। वस्तुतः ससार में रहकर भी व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र जैन दर्शन से तटस्थ है। जैनियों का कैवल्य उन्हें स्वीकार नहीं है।

जैनेन्द्र ने अह को अशता के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार कुल अस्तित्व अखण्ड है। कुल में जो खण्डितता की प्रतीति आई है, उसे हम दो आयामों में विभाजित कर सकते हैं—काल और आकाश। इन दो आयामों के मेल अथवा काट का बिन्दु ही अह बिन्दु है। काल और आकाश के मिलन-बिन्दु में चेतना का प्रवाह होने से पृथक्ता अथवा 'मैं' का बोध होता है। जैनेन्द्र ने 'अह' शब्द को कई अर्थों में स्वीकार किया है। प्रथमतः अह अस्तित्वबोधक है। 'मैं' का अपर रूप अहकार बोधक है। जैनेन्द्र के अनुसार अह का विसर्जन अर्थात् 'मे' भाव का त्याग ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। 'मैं' और 'पर' के प्रश्न को उन्होंने 'स्व' पर के रूप में भी लिया है। 'मैं' अथवा 'स्व' की परोन्मुखता ही उनके साहित्य का दृष्ट है। समाज और राजनीति में 'अह' का यह रूप व्यक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

सामाजिक स्तर पर जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को लेकर ही तत्सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं की ओर दृष्टिपात किया है। परिवार, विवाह, प्रेम-विवाह वैवाहिक जीवन में प्रेम, कामभावना, वेश्यावृत्ति आदि विषयों का विवेचन उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र ने सामाजिक मर्यादा का निषेध नहीं किया है और न ही वे परिवार को तोड़ने के पक्ष में हैं, किन्तु जहाँ तक प्रेम का सम्बन्ध है, उसे वे सामाजिक बन्धन से मुक्त मानते हैं। काम और प्रेम को लेकर उनके साहित्य में अनेकानेक समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं। यह सत्य है कि विवाह में प्रेम द्वारा जैनेन्द्र ने जीवन के एक महत्वपूर्ण सत्य की ओर दृष्टिपात किया है, क्योंकि इस सत्य से कोई नकार नहीं सकता कि विवाह के बाद पति-पत्नी का आकर्षण बाहर की ओर से पूर्णतया समाप्त हो जाता है और वे परिवार के घेरे में बन्द हो जाते हैं। हम व्यक्ति-

गत अनुभव के आधार पर यह कह सकते हैं कि विवाह के अनन्तर भी प्रेम की स्थिति बनी रहती है। यह बात दूसरी है कि वह काम के स्तर पर घटित होता हुआ न दिखायी दे। किन्तु साहित्य में सच्चाई को न भी व्यवत करके रादैव मर्यादा को ही अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। सत्य के छिपाव में व्यक्ति का छल ही अन्तर्भूत होता है। यदि जीवन के सम्बन्ध सहज हो तो उनमें विकृति आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति सत्-असत् गुराणों की समष्टि है। महत्ता अथवा तुच्छता उसके व्यक्तित्व का अंग है। एक की स्वीकृति और अन्य के निषेध में व्यक्तित्व की पूर्णाभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। व्यक्तित्व की पूरणा के लिए उसका सब कुछ स्वीकार करना होगा। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति देवता और पशु के बीच की कड़ी है। अतएव उसमें दोनों के अंशों का होना स्वाभाविक ही है। जब कभी वह अपने अन्तस् की तुच्छता को दबाने का आग्रह करता है तो उसके व्यक्तित्व में विकार उत्पन्न हो जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार साहित्य में तुच्छ अथवा दलित व्यक्ति भी उतना ही माननीय है, जितना प्रतिष्ठित।

जैनेन्द्र ने जीवन की राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओं को व्यक्ति की सापेक्षता में ही स्वीकार किया है। राजनीति में प्रचलित विभिन्न वादों में उनकी दृष्टि में वही वाद सत्य अथवा स्वीकृत हो सकता है, जिसमें व्यक्ति का हित प्रधान हो। व्यक्ति की उपेक्षा करने वाला वाद स्वार्थ का ही पोषक है।

जैनेन्द्र ने भाग्य, कर्म, परम्परा तथा जीवन-मृत्यु के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है। उनकी परम आस्तिकता उन्हें किसी पल भी भाग्य के चक्र से मुक्त नहीं होने देती। उनके पात्र अतिशय भाग्य-वादी हैं। जैनेन्द्र के अनुसार पुरुषार्थ की सार्थकता केवल कर्मशीलता में ही है। भाग्य पुरुषार्थ का सहयोगी होकर ही चलता है। पुरुषार्थ में जब निराशा मिलती है तो भाग्य के सहारे उनके पात्र टूटने से बच जाते हैं। जैनेन्द्र ने कर्म-परम्परा को पूर्व जन्म अथवा पुनर्जन्म की श्रृंखला से नहीं जोड़ा है। उनके अनुसार पुनर्जन्म होता है, यह सत्य है, किन्तु कोई यह नहीं देखने जाता कि पुनर्जन्म द्वारा पूर्वजन्म के कर्मों और सम्बन्धों में सम्बन्धिता होती ही है। इस तथ्य को जैनेन्द्र ने पतझड़ के आधार पर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रतिवर्ष पतझड़ में पत्ते भर जाते हैं और पुन बहार आने पर उनमें नये पल्लव आ जाते हैं, किन्तु कह कौन सकता है कि ये वही पल्लव हैं जो कि पिछली पतझड़ में भरे थे। इस प्रकार जैनेन्द्र इस जन्म को पूर्व अथवा पुनर्जन्म से सम्बद्ध नहीं मानते। उनकी दृष्टि में पुनर्जन्म की सार्थकता केवल व्यक्ति के बार-बार जन्म होने में ही है। जैनेन्द्र के अनुसार व्यक्ति के कर्म मृत्यु के बाद

उसके साथ नहीं जाते वरन् यही कालाकाश में व्याप्त हो जाते हैं तथा साहित्य और इतिहास के रूप में स्थायी रहते हैं। जैनेन्द्र के अनुसार मृत्यु में जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु जीवन का द्वार है। मृत्यु की चेतना से व्यक्ति सतत् कर्मशील रहता है किन्तु मृत्यु का भय अपेक्षित नहीं है।

जैनेन्द्र ने मानव जीवन का सश्लेषणात्मक स्वरूप व्यक्त किया है। उन्होंने मानव जीवन को खण्ड रूप में न देखकर पूर्ण एकाई के रूप में विवेचित किया है। इसीलिए वे व्यक्तित्व में होने वाली काट-छाट को उचित नहीं समझते। उन्होंने जीवन की समग्र अभिव्यक्ति की है। उनके सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को गेस्टाल्टवाद के समकक्ष में विवेचित किया जा सकता है, तथापि उनमें कुछ मूलभूत अन्तर दृष्टिगत होता है, जिसके कारण वे गेस्टाल्ट के विचारों से तटस्थ प्रतीत होते हैं।

जैनेन्द्र-साहित्य का अध्ययन करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके विचारों पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों की छाप तत्कालीन परिस्थितियों के कारण यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है। तथापि जैनेन्द्र को किसी वाद विशेष का प्रचारक अथवा अनुगामी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वे परिस्थिति की सापेक्षता में भी अपनी अनुभूति की सत्यता से वंचित नहीं रहे हैं। जैनेन्द्र के सम-सामयिक फ्रायड, मार्क्स आदि विचारकों में शैथिल्य की ओर अधिक उन्मुखता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का मूल 'निबिडो' में देखा है। उनके अनुसार काम ही व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का संचालक है। उन्होंने अचेतन मन को दमित वासना का केन्द्र माना है। किन्तु जैनेन्द्र काम को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए भी उसे फ्रायड की दृष्टि से स्वीकार नहीं करते ना ही उन्होंने मन को चेतन, अचेतन, अचचेतन स्तरों में विभाजित ही किया है। विश्लेषण के द्वारा व्यक्तित्व की समग्रता विनष्ट हो जाती है। तथा हार्दिक सवेदना के लिए भी कोई स्थान नहीं रहता। फ्रायड और जैनेन्द्र की दृष्टि में मूल पार्थक्य जैनेन्द्र की आध्यात्मिकता के कारण उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र ने अचेतन मन को भगवत्ता अथवा सत्य का केन्द्र माना है, पाप का पुज नहीं। इस प्रकार अचेतन द्वारा प्रेरित क्रियाएँ सत्योन्मुख होती हैं, कामोन्मुख नहीं।

मार्क्स की दृष्टि अर्थप्रधान है। उन्होंने भौतिक-सुख-सुविधा के लिए ही अधिकाधिक धन वृद्धि तथा समता पर जोर दिया है। मार्क्स की दृष्टि में अर्थ का समान वितरण अत्यधिक आवश्यक है। इस हेतु वे हिंसात्मक क्रान्ति का सहारा लेना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य समझते हैं। किन्तु जैनेन्द्र साधन की शुद्धता के आधार पर प्राप्त होने वाले साध्य को ही स्वीकार करते हैं। वे रक्त

क्रान्ति के द्वारा लायी जाने वाली समानता के पक्ष में नहीं है। उनकी दृष्टि में इस प्रकार की समानता ऊपर से थोपी हुई है। इसलिए कभी-न-कभी उसकी प्रतिक्रिया की सम्भावना बनी ही रहेगी। इसीलिए जैनेन्द्र परिस्थिति और समस्या को लेकर किये जाने वाले सुधार के पक्ष में नहीं है। उनकी दृष्टि में यदि सुधार होना ही है तो वह व्यक्ति की अन्तश्चेतना में ही होना चाहिए। यदि व्यक्ति के मन में ही स्वार्थ की भावना न होगी तो वह स्वतः ही आदर्श-न्मुख प्रतीत होगा। वस्तुतः सुधार की भावना अन्तः प्रसूत होनी चाहिए। इसका मूल आधार व्यष्टि द्वारा समष्टि के प्रति विसर्जित होने में ही लक्षित होता है। मार्क्स की समस्या अर्थ प्रधान थी। जैनेन्द्र ने भी अर्थ को महत्वपूर्ण माना है, किन्तु उनकी दृष्टि में अर्थ ही साध्य नहीं हो सकता, इस प्रकार वे अर्थ और काम को मार्ग में ही मानते हैं। उनके अनुसार धर्मपूर्वक अर्थ और काम के मार्गों से गुजरते हुए मोक्ष की ओर उन्मुख होना ही जीवन का लक्ष्य है।

जैनेन्द्र के विचारों पर यदि किसी का प्रभाव पड़ा है तो वह गांधी जी है। जैनेन्द्र गांधी से प्रभावित हैं, पर गांधीवाद से बंधे नहीं हैं। उन्होंने विचारों का सार ग्रहण किया है, वाद से स्वयं को जड़ित नहीं किया है। इसीलिए वे गांधी से इतना प्रभावित होते हुए भी अपने को गांधीवादी नहीं मानते। गांधी की अहिंसा-नीति, सर्वोदय भावना, कुटीर उद्योग, अद्वैत निष्ठा, आत्मपीडन आदि का प्रभाव जैनेन्द्र के साहित्य में स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। जैनी होने के कारण जैनेन्द्र पर धर्म का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक भी है, किन्तु वे जैन धर्म से प्रभावित होते हुए भी उसकी मान्यताओं के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार निषेध अथवा नकार के द्वारा कोई भी धर्म पूर्ण नहीं हो सकता। जैन धर्म में जीवन के सुख तथा मानव प्रकृति का निषेध किया गया है। जैनेन्द्र ने जैन धर्म की तपश्चर्या द्वारा कैवल्य की प्राप्ति को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व को पूर्णता नहीं प्राप्त होती। जैन धर्म की अति अहिंसात्मक दृष्टि भी उन्हें मान्य नहीं है। जैनेन्द्र के अनुसार भावना की शुद्धता द्वारा यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह पाप नहीं है। जैनेन्द्र की अहिंसा-नीति गांधी की अद्वैतवादी विचारधारा से अधिक अभिभूत है। जैन दर्शन की स्व पर मूलक धारा उन्हें प्रभावित नहीं कर सकी है। जैन धर्म में शरीर को 'पर' तथा आत्मा को 'स्व' माना है। 'पर' से मुक्ति ही उनके धर्म का उद्देश्य है जो जैनेन्द्र को स्वीकार नहीं है। यदि जैनेन्द्र जैन धर्म के किसी तथ्य से प्रभावित हैं तो वह है स्यादवाद जो कि विश्वव्यापी महत्व रखता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

जैनेन्द्रकुमार	‘समय और हम’ १९६२	प्र०स०	दिल्ली
„	‘साहित्य का श्रेय और प्रेय’	„ १९५३	„
„	‘परिप्रेक्ष’	„ १९६५	„
„	‘अकाल पुरुष गांधी’	„ १९६८	„
„	‘सोच-विचार’	द्वि०स० १९६४	„
„	‘प्रश्न और प्रश्न’	प्र०स० १९६६	„
„	‘इतस्तत्’	„ १९६२	„
„	‘काश्मीर की वह यात्रा’	„ १९६८	„
„	‘ये और वे’	„ १९५४	„
„	‘प्रस्तुत प्रश्न’	„	„
„	‘राष्ट्र और राज्य’	„	„
„	‘काम, प्रेम और परिवार’	द्वि०स० १९६१	„
„	‘पूर्वोदय’	„	„
„	‘कहानी अनुभव और शिल्प’	प्र०स० १९६७	„
„	‘मन्थन’	„	„
„	‘समय, समस्या और सिद्धांत (अप्रकाशित)’	„	„
„	‘परख’	दशम स० १९६६	„
„	‘त्यागपत्र’	„	बम्बई
„	‘सुनीता’	१९६४	दिल्ली
„	‘सुखदा’	प्र०स० १९५२	„
„	‘विवर्त’	„ १९५३	„
„	‘कल्याणी’	१९५६	दिल्ली
„	‘व्यतीत’	तृ०स० १९६२	„
„	‘मुक्तिबोध’	प्र०स० १९६५	„
„	‘जयवर्धन’	१९५६	„

जैनेन्द्रकुमार	‘अनन्तर’	प्र०स० १९६८	दिल्ली
स० शिवनदनप्रसाद	‘प्रतिनिधि कहानिया’	प्र०स० १९६९	„
जैनेन्द्रकुमार	‘जैनेन्द्र की कहानिया’, प्रथम भाग,	तृ०स० १९६२	„
„	„	द्वि०भाग, चतुर्थ स० १९६९	„
„	„	तृ० भाग,	„
„	„	चौथा भाग, तृ०स० १९६३	„
„	„	पाँचवा भाग,	१९६३ „
„	„	छठा भाग, तृ०स० १९६३	„
„	„	सातवा भाग, तृ०स० १९६३	„
„	„	आठवा भाग, तृ०स० १९६४	„
„	„	नवा भाग, प्र०स० १९६४	„
„	„	१०वा भाग, प्र०स० १९६६	„
अनु० „	‘यामा’	१९५८	„

(सहायक पुस्तके)

डा० देवराज उपाध्याय	‘जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन’, प्र०स०, १९६८, दिल्ली
प्रभाकर माचवे	‘जैनेन्द्र के विचार’, बम्बई
प्रेमचन्द	‘कुछ विचार’ वर्तमान स०, १९६५, इलाहाबाद
डा० त्रिभुवन सिंह	‘हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद’, प्र०स, २०१२ वि०, बनारस
डा० लक्ष्मीसागर वाष्ण्येय	‘२०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सदर्थ’, प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद
डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि	‘हिन्दी साहित्य’ तृतीय खण्ड, प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद
राहुल सास्त्र्यायन	‘दर्शन दिग्दर्शन’
सगर्मलाल पाण्डेय	‘गांधी का दर्शन’, प्र०स०, १९५७, इलाहाबाद
कमलेश्वर	‘नई कहानी की भूमिका’, प्र० स०, १९६९, इलाहाबाद
खलील जिब्रान	‘दि प्रोफेट’
(अनु० सत्यकाम विद्यालकार)	
डा० सर्वजीत राय	‘हिन्दी उपन्यासों में आदर्शवाद’, प्र०स०, १९६९, इलाहाबाद

डा० जयनारायण मण्डल	‘हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा’, प्र०स०, १९६८, पटना
जयशंकर ‘प्रसाद’	‘काव्य कला तथा अन्य निबन्ध’, इलाहाबाद
महादेवी वर्मा	‘साहित्यकाल की आस्था तथा अन्य निबन्ध’, १९६२,
(चयन गंगाप्रसाद पाण्डेय)	इलाहाबाद
विवेकानन्द	‘मरणोपरान्त’
विजयधर्म सूरि	‘आत्मोन्नति दर्शन’
प० जवाहरलाल नेहरू	‘आत्मकथा’, आठवां स०, १९५२
हीरेन्द्रनाथ दत्त	‘कर्मवाद और जन्मान्तर’, स० १९८६, इलाहाबाद
शान्ति जोशी	‘नीतिशास्त्र’, प्र० स०, १९६६, दिल्ली
रामप्रकाश जैन	‘पारुचात्य दर्शन’, प्र०स०, १९५०, इलाहाबाद
डा० नगेन्द्र	‘आस्था के चरण’

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ८ नवम्बर १९७०

कला और अश्लीलता

कल्प पाक्षिक, १९७१, दिल्ली

श्रीमद्भागवतगीता, गीताप्रेस, गोरखपुर

INDEX

(For English reference books)

- 1 Kamla Roy 'Concept of self' First Edition, 1966—
Calcutta
- 2 Dr R Krishnan 'Indian Philosophy'
- 3 A Castell 'The Self in Philosophy', First Edition 1965—
America
4. S. Freud 'The Ego & The Id', Fourth Edition, 1847
- 5 'Psycho Analysis To-day', First Edition, 1948 - Great
Britain Edited by Sandor—Lorand—George Allen &
Unwis
- 6 Winterjnitz 'A History of Indian Literature'—Calcutta
University
- 7 V. R Gandhi 'The Jain Philosophy', Second Edition,
1924 Bombay.
- 8 Arner 'Elements of Socialism'—New York
- 9 Hevloc Ellis, 'Sex Psychology'.
- 10 John Richman 'A general Selection from the work of
S Freud', First Publication in India, 1941—Allahabad
- 11 Vritz Wittels 'Critique of Love', First published in
Great Britain, 1930—Copy right in U.S.A
- 12 Mahatma Gandhi. 'The Voice of Truth', 1968—
Ahmedabad.
13. Jayaprakash Narain. 'Socialism, Sarvodaya & Demo-
cracy'.
14. 'Glimpse of Truth"

जनेन्द्र का जीवन-दर्शन

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२८	ईतिहास	साहित्य	१०१	शुद्ध वाक्य पढ़े—	स्याद्वाद मे
४०	फागियाफ	फागियापी		तानिक भिन्नता तो यह है	
४३	सादृश्य	सदृश		कि प्रत्येक कथन स्वयं अपने	
५१	वास्तविकता	भाग्यवाधिता		मे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों	
५३	मे	की		हो। इसमें गर्भित है कि वह	
५८	मे	क		'वस्तु' है, वह वस्तु नहीं है।'	
६२	अनन्तर	'अनन्तर'	१०३	'पराव' अपने 'परख' मे कट्टो	
६३	वस्तुत्व	वस्तुतः		अपने	
६६	—	हममे प्रत्येक	१०७	साहित्य	साहित्य के
६६	शक्ति	स्वीकार		सृजनात्मक	सृजनात्मक
७१	समभाग	समभंगा		पक्ष के...	पक्ष में...
७०	—	प्रशिक्षण पात्र	१०७	धन के	धन से स्वार्थ-
७१	की प्रश्रय नहीं का प्रश्रय नहीं			स्वार्थ-साधन	साधना
७१	सदृश्य	सदृश	१०६	जैनेन्द्र-धर्म	जैन धर्म
७१	मत्स्य-ना	मत्स्य के	११३	जीवन 'आनन्द' इकाई ही—	
७२	सदृश्य	सदृश		न पढ़ें	
७२	मे तो	हो तो	११३	विसदीकरण	विस्तार
७३	मत्स्य	स्वीकार्य	११४	अस्मि	अस्थि
७५	सद्व	रूप	१२६	मन्त	महन्त
७५	पारम्परिक	पारम्परिक	१४०	'नोलाए'	'तो लाए'
७७	सदृश्य	सदृश	१४३	मन	मनमय
७६	परिचायिका	परिचालिका	१४७	अह से	अह के
७६	अभिमानता	निरभिमानता	१५१	भोज्य	भौग्य
८०	मुझे		१५८	उसका	उसमें
८२	सदृश्य	सदृश	१६०	आस्तिक	आस्तिकता
८२	सुखदा से	'सुखदा' मे	१६३	अह की	अह को
८७	'मुद्गल'	पुद्गल		वह आलोचना यह आलोचना	
८८	जिसमें	जिससे	१७५	हिंसाकारी	हिंसा का ही
			१७६	भूत	मूल

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	उत्बुद्ध	उत्क्रुद्ध	२५६	रूपकार	रूपाकार
१६२	अवलम्ब ही	अवलम्ब की	२५६	विद्या का क्षेत्र	विधा का
१६२	क्रोध	‘बोध’		कितना	क्षेत्र उतना
१६७	समृद्ध करता	समृद्ध प्रतीत होता	२५६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
१६७	निर्व्यक्तिक	निर्व्यक्तिक	२६१	कह पन्था	क पन्था
२००	‘विज्ञान’	‘वि-ज्ञान’	२६२	निश्चित	निहित
२०१	साहित्य ने	साहित्य मे	२६४	साहित्य-प्रक्रिया	साहित्यिक-प्रक्रिया
२०१	मिश्रण नहीं है	मिश्रण है	२६८	सारा धन	सारा भ्रम
२०३	नैतिक	अनैतिक	२६६	नहीं प्रतीत होती	प्रतीत होती है ।
२१०	हृदय रूप	छद्म हृदय रूप	२७०	जैनेन्द्रकुमार	जैनेन्द्र के अनुसार
२१०	आत्मदास	आत्मदान			
२१५	आनन्द और यथार्थ	आदर्श और यथार्थ	२७१	उसे	मे
२१६	अपूर्ण	आपूर्ण	२७७	निमृत	निभृत
२२२	निर्णय	निषेध	२७८	जीवन मे	जीवन ने
२२२	जागितभेद	जातिगत भेद	२७८	निमृत	निमृत
२२२	गहरी व्यवस्था	गहरी व्यथा	२७९	तद्यपि	तथापि
२२६	अपनी निजत्व	अपने निजत्व	२८०	अन्तर्भूत	अन्तर्भूत
२२६	‘अपना प्रदर्शन	‘अपना-अपना	२८३	क्या मे यही	क्या मैं यही
	अपना भाग्य’ ^२	भाग्य’	२८४	को अतिक्रमिक	को अतिक्रमण
२२६	धार्मिक	आर्थिक	२८४	की यथानुशय	की यथातुल्य
२३५	शब्दों का	द्वन्द्वों का		हम	भलक
२३६	प्रेम का आधार	प्रेम का अभाव	२८५	धुधात्मक	द्वन्धात्मक
२३८	निषेध न करके	निषेध करके	२८७	‘कल्याण’	‘कल्याणी’
२४६	विद्या है	विधा है	२८७	‘प्रीति इतनी	प्रीति की
२४७	आवश्यकतागत	आवश्यकतावश	२८५	राज्य से पर	राज्य से परे
२४७	विकसिक	विकसित	३००	मे जानता कुछ	मे जानना कुछ
२५०	पारम्परित	पारम्परिक		नहीं है,	नहीं है,
२५२	जैनेन्द्र	जैनेन्द्र	३०८	ग्राम वादिता	ग्रहवादिता
२५२	जैनेन्द्र से	जैनेन्द्र के	३०६	विचार-भौक्तिक	विचार-मौक्तिक
२५७	शेष साहित्य	श्रेष्ठ साहित्य	३०६	ये मौक्तिक	ये मौक्तिक